

कुवलयमाला-१

# भेदी आकाशवाणी



कुवलयमाला - १

# भेदी आकाशवाणी

: प्रवचनकार :

गच्छाधिपति आचार्यदेवश्री विजय  
भुवनमानुसूरीश्वरजी महाराज

\*

संकलन

प. पू. पंन्यासश्री पद्मसेनविजय गणी

\*

प्रकाशक

दिव्यदर्शन ट्रस्ट

C/o. कुमारपाल वि. शाह  
३६ कलिकुण्ड सोसायटी,  
धोलका (३८७८१०).

**प्राप्तिस्थान :**

१) दिव्यदर्शन ट्रस्ट  
कुमारपाल वि. शाह  
३९ कलिकुण्ड सोसायटी,  
धोलका (Pin - ३८७८१०)

२) भरतभाई चतुरदास शाह  
८६८-कालुशीनी पोल,  
कालुपूर, अहमदाबाद.  
Pin - ३८० ००१.

३) अशोक संघवी  
Hira Textile  
70-D. K. Lane  
Bangalore - 560053

लागत किंमत = ५०/००  
मूल्य - २५/००

मुद्रक :  
जीतु शाह (अरिहंत)  
छीपापोळ, कालुपूर,  
अहमदाबाद  
फोन : 345942, 396246

## प्रासंगिक

याद आती है गुजरे हुए वर्षों की तो नज़र के सामने एक सुनहरा दृश्य खड़ा हो जाता है!

एक पतली सी काया, जगमगाता चेहरा, वेधक दृष्टि, मेघ-सी गंभीर ध्वनि से पूज्य गुरुदेव प्रवचन सुना रहे हैं! प्रवचन क्या मानों संतृप्त हृदयों के उपर अमी की वर्षा ही कर रहे हैं। कलकत्ता के चातुर्मास में पूज्यश्रीने कुवलयमाला कथाग्रन्थ पर प्रवचन फरमाये! विशाल श्रोता वर्ग। समय पर उपस्थिति। डेढ़-डेढ़ घंटे तक जिज्ञासु श्रोता एकाग्र चित्त से व्याख्यान सुनते। कुवलयचन्द्र और कुवलयमाला के जीवनकिताब के उज्ज्वल एवं प्रेरक स्वर्णपृष्ठ पढ़ते-पढ़ते या सुनते-सुनते विस्मयभाव से कब शान्तरस की ओर प्रयाण चालु हो गया कुछ पता ही नहीं चलता है ।

कुवलयमाला कथा एक धार्मिक उपन्यास है। गुमराह युवावर्ग के विकृत मानस को सुप्रभावित करने में सक्षम है। नाटक-सिनेमा-टी.वी.-व्हीडीयो के कल्चर से रंगे हुए जनमानस को सही मार्ग दिखाने वाला राहबर है। युवानी में विकृत मानसिक अनेक बिमारियों से घिरे हुए आवारा लोगों के लिए अच्छा चिकित्सक है ।

पूज्यपाद गंभीरहृदय श्रीसंघहितप्राधान्यदाता गुरुदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा. के प्रवचनों से यह

कथाग्रन्थ एक अनूठी बहार लेकर हमारे समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। जिस के प्रकाशन के लिए हमारी संस्था गौरव महसूस कर रही है।

कुवलयमाला कथाग्रन्थ एक विशाल कृति है। उस के रहस्यों को उद्घाटित करनेवाला यह प्रकाशन भी दो-तीन खण्डों में प्रकाशित किया जानेवाला है, प्रस्तुत में यह प्रथम खण्ड प्रकाशित करते हुए असीम आनंद की अनुभूति कर रहे हैं।

वाचक वर्ग को हमारी करांजलिबद्ध प्रार्थना है कि इसे अवश्य पढ़कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये अग्रसर बनें।

आशा है अनेक अज्ञानतिमिर मुकुलित नेत्रों का इस प्रकाशन से विकसन होगा। भीतर से एक सुनिश्चित भेदी आकाशवाणी बुलंदस्वर से गूँज उठेगी - अब तो संसार सागर से पार उतरना ही है।

पू. पंन्यासश्री पद्मसेनविजयजी म. गणिवर्य ने इस पुस्तक का संकलन किया व अनेक गुणसंपन्न साध्वीश्री संस्कारनिधिश्रीजी ने पूर्ण उत्साह के साथ सहकार दिया है अतः उनके प्रति हम आभारी हैं एवं इस प्रकाशन में आर्थिक सहयोग देनेवाले के प्रति हम आभारी हैं।

हमारे प्रकाशन में अगर मतिभेद से कुछ क्षतियाँ रह गईं हो तो उस के लिये वाचक वर्ग हमें क्षमा करें।

लि.

**कुमारपाल वि. झाह**

दिव्यदर्शन ट्रस्ट

## क्या कहाँ ?

	पृष्ठ
१. कथा जिसमें नहीं व्यथा	१
२. कथा के ४ प्रकार	११
३. कुवलयमाला कथा का प्रारंभ	२६
४. प्रार्थना से इष्टसिद्ध	३९
५. अरिहंत ही उपास्य क्यों ?	४७
६. आराधना-विधि	५४
७. राजा और देवी का मधुर संवाद	६७
८. राजपुत्र का जन्म	७५
९. कुवलयचन्द्र का अपहरण	९२
१०. क्या क्या पढ़ना चाहिए ?	१०३
११. कामान्ध श्रेष्ठिपुत्र का दृष्टांत	१११
१२. महर्षि की भव्य वाणी	१३१
१३. चार प्रकार की बुद्धि	१४०
१४. इष्ट देव कैसे हों ?	१४९
१५. संसार पर वैराग्य के तीन कारण	१६५
१६. नरक गति के दुःख	१७०
१७. क्रोध कषाय	१८१
१८. कुपुरुष के चार लक्षण	१९८
१९. भाई-बहन का घात	२१४
२०. चंडसीम का पश्चात्ताप	२२७
२१. पाप-नाश के अज्ञान-शास्त्र कथन	२३४
२२. पापनाश के उपाय	२४२

## सुकृत के सहभागी

१.	मोतीलाल नथमलजी	मद्रास
२.	पुखराजजी खासाजी	मद्रास
३.	सुरेश ट्रेडर्स	मद्रास
४.	जेरूपजी पुखराज	मद्रास
५.	वसंतमल आणंदलालजी खटोड	मद्रास
६.	पूजा पेपर्स	हुबली
७.	ललीत जनरल स्टोर्स	हुबली
८.	हिंमतमल केशाजी	हुबली
९.	पीथाजी पारसमल	हुबली

### कथावस्तु

### नमः श्री हीदेवतायै

यहाँ संक्षेप में कथा का विषय बताया जा रहा है। चरित्रनायक कुवलयचन्द्र का किस प्रकार जन्म होता है, उनका कैसे अपहरण होता है; वहाँ साधु, देव और सिंह का कैसा योग होता है, उन के पूर्वजन्म का क्या संबन्ध साधु बताते हैं, यह सुनकर ये पाँचों भी किस प्रकार सम्यक्त्व पाकर तप करके स्वर्ग में जाते हैं, वहाँ दैवी सुख भोगकर इस भरतक्षेत्र में पुनः मनुष्य अवतार लेते हैं, परन्तु परस्पर एक-दूसरे को नहीं पहचानते। वहाँ केवलज्ञानी भगवान कैसे पहचान कराते हैं, जिससे ये पाँचों प्रतिबोध पाकर संयम ग्रहण करते हैं और तप करके कर्मों का क्षयकर मोक्ष पाते हैं...

यह मुख्य कथानक है।

## 9. कथा जिसमें नहीं व्यथा

नतमस्तक आचार्यदेवश्री पर ह्रीदेवी प्रसन्न हो गयी। वर्षों की इच्छा फलीभूत हुई ।

ह्रीदेवी :- आचार्यश्री ! हाथ में कलम उठाईये । देखिये आपकी अजोड़ कृति के दर्शन करने के लिये पूर्वदिशा से सूर्य नारायण झाँक रहा है।

आचार्यश्री :- माताजी ! बड़ी कृपा की आपने । आप जैसी अरिहंत भक्त शासनसेविका महादेवी के दर्शन से मेरे नेत्र धन्य बने हैं । आपका आदेश स्वीकार करता हूँ । मुझे ऐंसा बल दीजिये, ऐसे आशीर्वाद दीजिये कि समस्त कथा साहित्य में सिरमौर बने, ऐसी सुन्दर कृति की रचना करने के लिये मैं कटिबद्ध बनूँ !

वि.सं. ८३५ वर्ष पूर्व इस भारतदेश की पवित्र धरा को अलंकृत कर चुके पू. आचार्य भगवंत श्री उद्योतन सूरि महाराज यानी जैन शासन के उद्यान में महकता हुआ गुलाब का फूल । उनकी पवित्र संयमसाधना के प्रताप से ह्रीदेवी उन पर प्रसन्न हुई और उसी कृपा के फलस्वरूप आचार्यश्री ने जिस महान कथाग्रंथ की रचना की, उसका नाम है -

### कु व ल य मा ला

मंगलाचरण

पढमं णमह जिण्णिदं जाए णच्चंति जम्भि देवीओ ।  
उव्वेल्लिरबाहुलया, रणंत-मणिवलय-तालेहि ॥

कुवलयमाला कथाग्रंथ के मंगलाचरण के इस प्रथम श्लोक में कथाकार महर्षि प्रथम जिनेश्वर को भावपूर्ण वन्दना करते हुए कहते हैं ।

(१) नमस्कार कीजिये उन प्रथम जिनेश्वर आदीश्वर भगवान को, जिनके जन्म के समय देवियों बाहुलतायें ऊँची करके झंकार करते हुए रत्नवलयों की ताल-ध्वनि के साथ नृत्य करती हैं ।



## चरित्रकार का परिचय

इन आचार्य महाराज का समय विक्रम की ८ वीं - ९ वीं सदी होना चाहिये। क्योंकि ग्रंथकार स्वयं ग्रंथ के अन्तिम भाग में यह रचना शके ७०० के जन्म में की ऐसा बताते हैं। विक्रम संवत् ८३५ वे वर्ष में इस ग्रंथ की रचना हुई। इस हिसाब से यह महान ग्रंथ करीब १२०० वर्ष पुराना कहा जा सकता है। इतने प्राचीन शास्त्र की वाणी आज हमें मिल रही है यह हमारा सौभाग्य है।

**देवी के आदेश से ग्रंथ का महत्व: -**

जब स्वयं ह्री देवी ने जिनको ग्रंथ रचना का आदेश दिया होगा तब वें आचार्य महर्षि कितने विद्वान व चरित्रसंपन्न होने चाहिये, इसकी कल्पना की जा सकती है। ग्रंथ स्वयं उनकी बहुमुखी प्रतिभा विद्वता व त्याग - वैराग्य की उच्च वृत्ति को उजागर कर रहा है। हमारे कैसे अहोभाग्य कि सैकड़ों वर्षों के बादभी हमे ऐसे महान आचार्य भगवंत के वचन सुनने को मिल रहे हैं।

**असली खजाने को पहचानिये :-**

देखिये न ! पूर्व काल का कितना कुछ नष्ट हो गया है ! वहीं आत्मकल्याण का एक ऐसा महान खजाना ग्रंथारूढ होकर हमारे वर्तमान समय तक आ पहुँचा है क्या यह हमारा कम पुण्योदय है ? हमें विरासत में पुरानी दौलत मिल जाय या खोदते हुए गड़ा धन मिल जाय तो महान अहोभाग्य लगता है। ऐसे असली खजाने जैसे महान शास्त्ररत्न मिले, इसमें अपना प्रबल भाग्योदय आप को महसूस होता है ?

**कुवलयमाता एक महान खजाने जैसा भव्य ग्रंथ है।**

शास्त्र के खजाने शास्त्र की विरासन के महत्व का विचार इसलिये करना है कि यह महत्व दिल में बसने के बाद इस अद्भुत तत्वभरे चरित्र ग्रंथ का श्रवण ऐसे उत्कृष्ट भावों से होगा कि - 'ओह ! इसमें मुझे आंतरदृष्टि का महान विकास

व कल्याणसाधना की भव्य प्रेरणायें तथा उच्च शुभ अध्यवसायों का अमूल्य लाभ मिलेगा ! ऐसे विषम काल में ऐसा अद्भुत तारक श्रवण मुझे मिलता है, मेरा कैसा अहोभाग्य !'

वस्तु का जितने गहरे आदर - बहुमान - आतुरता से स्वागत करेंगे, उससे उतना ही ऊँचा लाभ मिलेगा, क्योंकि आत्मा पर उसकी ऐसी जोरदार प्रतिक्रिया होती है ।

ग्रंथकार महर्षि आचार्य भगवंत श्री उद्योतनसूरिजी महाराज ग्रंथ शुरू करते हुए प्रारंभ में इस अवसर्पिणी में प्रथम धर्मप्रकाश फैलानेवाले प्रथम तीर्थपति भगवान श्री ऋषभदेव स्वामी की अद्भुत स्तवना का विस्तार कर रहे हैं -

उन भगवान प्रथम जिनेंद्रदेव को नमस्कार करो.....

(२) जो प्रभु देवों द्वारा की गयी मज्जनविधि से सुशोभित किए हुए अपने शरीर को सामने खड़े हुए युगलिकों के हाथ में रहे हुए कमलपत्र के जल की लहरों में प्रतिबिंब के रूप में चलता हुआ देखते हैं ।

(३) गुरुओं के भी गुरु जिस प्रभु ने दीक्षा के समय अपने कंधेपर लटकते हुए केशकलाप को इन्द्र द्वारा सहर्ष स्थापित किये गये देवदूष्य से शोभित किया ।

(४) तप से पाप कर्म को जला कर केवल ज्ञान उत्पन्न होने से जो प्रभु संसार तिर गये, इससे देव समूह नृत्य करने लगा ।

(५) जिनके तीर्थ-स्थापन के समय इन्द्र अपने इन्द्रत्व का गौरव छोड़कर मस्तक पर हाथ लगाकर जिन प्रभु के चरणों में झुके !

उन प्रथम राजा और प्रथम धर्म प्रवर्तक तीर्थकर भगवान को नमस्कार करो ।

तीर्थकर भगवान के उत्कृष्ट पुण्य-समूह का कैसा प्रभाव है कि देव और इन्द्र प्रभु के जन्म आदि प्रसंगों पर आकर भक्ति - गुणगान करते हैं । मंगलाचरण के रूप में इन श्लोकों में यह बताया गया है । ऋषभदेव प्रभु की स्तुति करने के बाद चरम तीर्थपति श्री महावीर स्वामी की विशिष्ट रीति से स्तुति करते हुए कहते हैं :-

भगवान महावीर स्वामी के अङ्गि धैर्य के आगे हार के अंतिम छोर पर पहुँचा हुआ संगमदेव अब अनुकूल उपसर्ग करने के लिये सुहानी वसंत ऋतु विकुर्वित करके कहता है -

‘हे सुखदाता ! तू कृपा कर । तू प्रसन्न हो ! तेरे चरणों में मैं अंजलि अर्पण करता हूँ । नवजात नीलकमल जैसी नज़र का एक कटाक्ष तो हम पर होने दे ।’

वसंत ऋतु के इस प्रलोभन को निष्फल बनानेवाले जो प्रभु ध्यान से तनिक भी चलित नहीं हुए, उन वीर प्रभु को भक्ति भरे नमस्कार !

इसमें प्रभु के प्रखर वैराग्य के साथ ध्यान की निश्चलता बतायी कि वसंत ऋतु की ललचाने वाली महाशोभा, जो चकाचक विकसित हो उठी थी, उसे देखने के लिये प्रभु ने एक बार भी दृष्टि नहीं डाली ।

### सर्व जिन स्तुति :-

अब सर्व जिनेश्वर भगवंतो की स्तुति करते हुए कहते हैं कि “जन्म जरा मृत्यु के वारंवार के पुनरावर्तन में फँसे हुए दुःखी जीवों को संसार सागर से पार करने के लिए समर्थ सर्व जिनेश्वरों को नमस्कार करो ।”

### धर्म तीर्थ की स्तुति करते हुए कहते हैं कि -

जिस धर्म तीर्थ में आये हुए जीव बोध पाते हैं और कई जीव तुरन्त कर्ममल से रहित बनकर सिद्धिपद प्राप्त करते हैं तथा जिसे जिनेश्वर देवों ने भी नमस्कार किया है, उस तीर्थ को भी भाव से नमस्कार करो ।

### धर्म ही कर्तव्य क्यों ? उसकी भूमिका :-

इस प्रकार नमस्कारविधि करने के बाद ग्रंथकार महर्षि मनुष्य-जन्म में धर्म ही क्यों कर्तव्य है, यह बात सुन्दर भूमिका बांधकर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

क्रोध - लोभ - मान - माया का नशा और मोह - अज्ञान से मूढ़ बने हुए हृदयवाले जीव का नरकगति में पतन होता है, इससे उसके चित्तपरिणाम ऐसे तीव्र राग-द्वेष के संक्लेशवाले रहते हैं कि इससे जीव पर लगे कर्म-कीचड़ से जीव एकदम भारी बन जाता है । उस नरकगति में से निकलकर जीव तिर्यच गति में आता है । क्यों कि नरक में अनेक प्रकार की ताड़न - छेदन - भेदन की विडंबनाओं में जीव शान्ति थोड़े ही रख सकता है ? यहाँ मानव भव में थोड़ीसी पीड़ा में भी यदि चित्त व्याकुल बनता है, तो वहाँ नरक में तो अनेक प्रकार की भयंकर पीड़ाओं में चित्त भारी संक्लेश वाला बने, यह सहज है, इसीसे तिर्यचगति के योग्य कर्म का (भाथा) पाथेय बांधता है ।

**तिर्यचगति में भी कैसे अवतार ?**

कौआ, सियार, शेर, बाघ, चीता, बैल, बन्दर, मगरमच्छ आदि के ! इनमें भटक-भटक कर जीव अति मूढ़ता से नीचे पृथ्वीकाय, अपकाय आदि जीवों की योनियों में उतर पड़ता है, यह भी तिर्यच गति है। देव, मनुष्य और नारकी को छोड़कर शेष सब पंचेन्द्रिय जीव तथा सारे चउरिन्द्रिय, तेइन्द्रिय, बेइन्द्रिय व एकेन्द्रिय जीव तिर्यचगति में गिने जाते हैं। उसमें ठेठ वनस्पतिकाय तक के भवों में भ्रमण करके कर्म की बहुत-बहुत मार खाकर उस प्रकार के कर्म के क्रम से बाहर निकलकर

बड़ी मुसीबत से मनुष्य जन्म पाता है। परन्तु वह भी कैसा ? स्लेच्छ, यवन, बर्बर, भील आदि के अवतार का। वहाँ क्या करने को मिलेगा ? पंचेन्द्रिय जीवों के भयंकर वध, मांसाहार, महा आरंभ-समारंभ आदि घोर पापों का आचरण, फिर उसके बाद क्या ? तो जाओ फिर से नरक - तिर्यच गति में ! फिर वापस मनुष्य भव कब मिले ?

**मनुष्य का अवतार सुलभ नहीं है।** उसमें भी आर्यदेश, आर्यकुल आदि के पुण्य वाला अच्छा मानव भव तो अनन्त काल के भव भ्रमणों के बाद मिलेगा। उसमें भी यदि पुण्य की थोड़ी कमी रह गयी और अंधे, लूले, लंगड़े, बहरे आदि का अवतार मिले, तो क्या पुरुषार्थ कर सकता है ?

शास्त्रकार कहते हैं कि यदि यह उत्तम मानव भव मिल गया है, तो पुरुषार्थहीन सुस्त, आलसी मत बनिये। पुरुषार्थी बनिये। पुरुषार्थहीन स्थावर वनस्पतिकाय आदि के अवतार तो अनन्त काल देखे। उनमें से बड़ी मुश्किल से छूटकर यहाँ पुरुषार्थ के योग्य भव में आने के बाद भी पुरुषार्थ नहीं ?

पुरुषार्थ तीन प्रकार के हैं:- धर्म-अर्थ-काम। परन्तु चरित्रकार कहते हैं :-

अत्यु होइ अणत्यु, कामो वि गलंत पेम्म विरसो य ।  
सव्यत्य दिण्णसोक्खउ धम्मो (उण) कुणह तं पयत्तेण ॥

अर्थात् अर्थ (धन) से अनर्थ होते हैं, और काम (विषयसुख) भी क्षीण होते हुए प्रेम से दुःख दे फलवाल बनता है ! परन्तु धर्म तो सवर्त्र सुख देने वाला है, इसीलिये धर्म का उद्यम करो।

### अनर्थ कौन-से पुरुषार्थ के पीछे ?

इसमें जगत के जीवों की अर्थ-काम के पीछे जो मारामारी चल रही है, उसके परिणाम बता दिये। आज अनेक प्रकारके धंधे, यंत्र, धंधैकी रीत-रस्में आदि चलते हैं, यह सब अर्थ पुरुषार्थ है। यह करके मनुष्य अन्त में क्या पाता है ? तात्कालिक का न देखकर परिणाम देखियेगा, अनर्थ के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। मक्खियों ने बड़ी मेहनत से शहद इकट्ठा किया, परन्तु अन्त में क्या होगा ? लुटा ही जाएगा न ? कोर्ट - कचहरी, कानून-कायदे, पुलिस -जेल आदि किसके पीछे ? अर्थपुरुषार्थ की धांधलबाजी के पीछे ? या धर्मपुरुषार्थ के पीछे ? समाज में, कुटुंब में, प्रियजनों के बीच परस्पर रगड़े-झगड़े कौन से पुरुषार्थ पर ? अर्थ-काम या धर्म के ? खून, चोरी, बदमाशी, लूट, रिश्वत, अपने भाग के झूठे दावे, हल्के कृत्य आदि अनर्थ किसके पीछे होते हैं ? अर्थ-काम के पीछे ? या धर्म के पीछे ?

### काम पुरुषार्थ में भी क्या है ?

दुनिया के विषय सुखों की लालसा से की जाने वाली मेहनत करनेके बाद आगे जाकर दिल खट्टे होते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ व अंगोपांग आगे जाकर काम नहीं करते, स्नेहीजनों के स्नेह घटते हैं, इन्सान भार रूप लगता है, विषय भोगने की ताकत नहीं होती। मिठाई बहुत अच्छी होने पर भी पेट व पाचन तंत्र मना करता है। बंगला बड़ा होने पर भी परिवार के बिना खाने दौड़ता है। अपनी संतान आदि हो या बच्चा गोद लिया हो या दामाद को लाकर अपने यहाँ रखा हो, तो भी सुख के बदले चिन्ता होती है, हृदय सुलगता है, नालायकी के दर्शन होते हैं। यह सब क्या है ? काम पुरुषार्थ की विरसता, दुःखद परिणाम।

### कामशास्त्र के रचयिता की मूढ़ता :-

चरित्रकार कहते हैं 'काम शास्त्रकार बेचारे संसार के दलाल हैं। वे पक्षपात से मूढ़ बने हुए हृदय से बोलते हैं कि धर्म-अर्थ-काम पूर्ण हो, तभी संसार चलता है, संसार में जीवन कहलाता है। यह सिर्फ उनकी कल्पना है। अन्त में अनर्थ, विरसता व दुःखद मौत दिलाने वाले अर्थ-काम के क्या गुण गाये जायें ? उनको

करने योग्य या उपादेय कैसे कहा जाय ? गुण गाने योग्य तो सिर्फ एक धर्मपुरुषार्थ है; आदरणीय वही है। अर्थ और काम भी धर्म से ही मिलते हैं; सद्गति भी होती है, तो धर्म के ही प्रताप से; और दुःख भरे भवसागर से छूटेंगे, तो भी धर्म के ही पुरुषार्थ से।

यह समझाने के लिये चरित्रकार यहाँ धर्म पुरुषार्थ के ही गुण गा रहे हैं। हमारे मन में भी इसकी महत्ता अंकित हो जानी चाहिये। दिल में से एक ही पुकार निकले कि – धर्म तो धर्म ही है। अर्थ-काम की धांधलेबाजी तो पागलपन का दौरा है। धर्म का उद्यम ही मानव भव की सच्ची मानवता है।

**धर्म का महत्व क्यों ? अर्थ-काम के महत्व में दया-सत्य कहाँ रहते हैं ?**

यदि धर्म का महत्व न होता, तो अर्थ और काम ही महत्वपूर्ण माने जाते; और यदि ये ही उपादेय हों, साधने योग्य ग्रहण करने योग्य हों, तो फिर जीवों पर दया, सत्य-नीति-प्रामाणिकता, सदाचार, क्षमा-संतोष-नम्रता आदि जरूरी ही नहीं मानी जायेंगी; क्योंकि पैसे कमाने, संभालने, बढ़ाने की मेहनत में ये सब बाधक बनती हैं और काम अर्थात् भोग विलस भोगने के लिये भी ये बाधक बनती हैं।

आज विटामिन, प्रोटीन-कैलोरी के नाम पर अंडे-मांससे बनी दवायें, उनके टॉनिक, पाउडर-सिरप और अन्य कितने ही प्रकार के खाद्य प्रचलित हो गये हैं न ? उनका उपयोग क्यों नहीं करना चाहिए ? उनमें जीवों की क्रूर हिंसा है, इसीलिये न ? उनका उपयोग करने से जीवों के प्रति जो दया का भाव है, वह उड़ जाता है, इसीलिये उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये न ? ऐसे खाद्यों का भोगविलास करने के आड़े जीवदया आकर खड़ी रहेगी। यदि धर्म का महत्व न हो, तो इस जीवदया धर्म को बीच में लाकर भोगविलास से क्यों दूर रहना ? मांसाहार का चस्का लगने के बाद यदि दूसरी ओर दयाधर्म की जरूरत ही नहीं है, तो इस चस्के में मनुष्य के मांस की भी राक्षसी भूख लगेगी ! फिर दया, प्रेम, कृतज्ञता, कर्तव्य पालन आदि धर्मों को एक बाजु रखकर बाप का मन हुआ, तो बेटे का और बेटे का मन हुआ, तो बाप का मांस क्यों खाने नहीं जाएगा ? ऐसी राक्षसी लीला के सामने तो दयादि धर्म ही आड़े आने वाला है। इस प्रकार धर्म का महत्व है।

इस प्रकार, झूठ, अनीति करने से कैसे मिलते हुए दिखते हैं और धर्म की गिनती रखनी नहीं है, तो फिर सगे भाई या पड़ोस के भी माल या कैसे क्यों नहीं हड़प कर जाएगा ? एक कुटुंब में भी कुटुंबीजनों से चोरी छुपे अच्छा-अच्छा खुद खा ले, और पीछे वालों को लिये बचा-खूचा ही खाने का रखे ? इसे कौन रोकेगा ? न्याय-नीति-प्रामाणिकता का धर्म यदि जरूरी ही नहीं है, तो यह लूट, उठाईगिरी आदि में हर्ज ही क्या है ? यदि इसमें कोई हर्ज है तो यही धर्म का महत्व बताता है ।

इस प्रकार, यदि काम भोग का ही महत्व हो और धर्म का कोई महत्व न हो, तो फिर सदाचार धर्म का भी क्या काम ? उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं; फिर कुत्ते-कुत्तिया या जहाँ भाई-बहन, माँ-बेटे का भोग संबन्ध यथेच्छ चलता है, ऐसी दशा को रोकने वाला कौन ? ऐसे भोगों को क्यों अच्छा नहीं मानता ? ऐसे भोग या राह चलती चाहे जिस स्त्री के भोग को कौन रोकता है ? उसके आडे कौन आता है ? सदाचार धर्म ही न ? धर्म को जरूरी न मानना हो, तो ये सब काम क्यों नहीं करने योग्य हैं ?

इस प्रकार मृदु मुलायम - कोमल व्यवहार भी रखनेका क्या काम ? तामसी - क्रोधी रौब भरे क्रूर कठोर व्यवहार के आड़े क्षमता-नम्रता सौम्यता धर्म ही खड़ा रहेगा। यदि जीवन में धर्म की कोई जरूरत ही नहीं है, तो जंगली जैसे व्यवहारो को अयोग्य क्यों कहना ? यह करने वाले को क्यों रोकना ? आपको ऐसे व्यवहार करने से कौन रोकता है ? क्या सामने से मार पड़ने का भय आपको रोकता है; यदि भय ही रोकता हो, तो बलवान के द्वारा निर्बल पर ऐसे जंगली व्यवहार किए जाने में क्या हर्ज है ?

इसलिये कहना ही पड़ेगा कि धर्म की तो पहले जरूरत है; सही महत्व तो धर्म का ही है । इसलिये तो चाहे जैसे कैसे या भोग विलास मिलते हों, परन्तु यदि जीवदया सत्य, नीति सदाचार क्षमा नम्रता मैत्री आदि धर्म का उल्लंघन होता हो, तो उन्हें छोड़ दिया जाता है । अतः पहला महत्व तो धर्म का ही हुआ ।

श्री कुवलयमाला के रचयिता महापुरुष आचार्य श्री उद्योतनसुस्त्रिजी महाराज आगे फरमाते हैं कि यह धर्म चार प्रकार का है-दानमय, शीलमय, तपमय और भावनामय । पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान ने स्वयं इन चार प्रकार के धर्म की साधना की, केवलज्ञान-सर्वज्ञता प्राप्त की और बाद में उन्होंने इस अवसर्पिणी काल में शुद्ध धर्म का प्रकाश दिया ...

### ४ प्रकार का धर्म

**प्रभु ने किस प्रकार चतुर्विध धर्म की साधना की ?**

(१) पहले तो वर्षीदान दिया । एक वर्ष तक घोषणापूर्वक लोगों को दान देते रहे; यह दानधर्म की साधना हुई ।

(२) प्रभु गृहवास का त्याग कर अणगारजीवन - साधुजीवन अर्थात् अहिंसादि व्रतमय सर्वविरति सामायिक स्वीकार कर संयम पालने लगे, इस प्रकार शीलधर्म साधा !

(३) उसके साथ ही तपस्या कायकष्ट संलीनता यानी मन-वचन-काया का संगोपन-संकोच-संयमन, ध्यान आदि करते रहे । इस प्रकार तपधर्म की साधना की ।

(४) इस साधना के समय अनित्यता - अशरणाता आदि बारह तत्त्वों का चिन्तन किया इस प्रकार भावनाधर्म की साधना की ।

बाह्य धन-धान्य-काया-परिवार आदि के संयोग अनित्य हैं, नाशवंत हैं, इसी तरह आभ्यन्तर क्रोधादि भाव के संयोग भी ऐसे ही हैं, ऐसे चिन्तन-अनुप्रेक्षा को भावना कहते हैं । इस चिन्तन से आत्मा को ऐसा भावित करना है कि सहज में



इन बाह्य अभ्यन्तर संयोगो पर दृष्टि जाने पर वे अनित्य ही लगेंगे । जब कि आत्मा तो नित्य है, अविनाशी है, उसे ये संयोग किस काम के ? ऐसा आत्मा का स्वाभाविक भाव तैयार हो, तो उसमें आत्मा भावित हुए कहलाती है । वारंवार दिल से अनित्य आदि चिन्तन का अभ्यास करने से आत्मा ऐसी भावित होती है । इसीलिये उन चिन्तनों को भावना कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन चारित्र और वैराग्य के प्रखर अभ्यास से आत्मा को भावित कर देना है, जिससे हर साँस में ज्ञानादि घुल-मिल जाते हैं, मन के सहज भाव ज्ञानादिमय बन जाते हैं । इसलिये ऐसे अभ्यास को भी भावना कहते हैं । श्री ऋषभदेव प्रभु ने इस भावनाधर्म की भी साधना की ।

चारों प्रकार के धर्म की साधना के अन्त में वीतराग सर्वज्ञ बनकर प्रभु ने जगत को भी इस दान-शील-तप भावनामय चतुर्विध धर्म का उपदेश दिया ।

### अपने लिये कौन-सा धर्म आसान है ?

चरित्रकार कहते हैं, हमारे जैसे हीन सत्त्ववाले जीव प्रभु के द्वारा साधे गये दान-शील तपधर्म से बहुत दूर हैं । क्योंकि ऐसा वार्षिक दान देने जितना धन हमारे पास नहीं है; उच्च व्रतमय शील पालने का सत्त्व नहीं है, इसी तरह वैसा प्रबल तपधर्म साधने योग्य शरीर का संघयण नहीं मिला है, परन्तु अनित्यता आदि का सहृदय चिन्तन करने रूप भावनाधर्म सुखपूर्वक किया जा सके, ऐसा है । इसमें तो कोई उतने धन सत्त्व या संघयण की सुविधा हो ही, ऐसा जरूरी नहीं; यह तो मन से साधने की चीज है । संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव बनने का पुण्य उदय में है, इसीलिये चिन्तन-मनन भावना कर सके, ऐसा मन मिला है । इस मन से इन अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन करना सरल है, भावनाधर्म सुकर है, आसान है ।

चरित्रकार महर्षि अब यह बताते हैं कि भावना-धर्म का कितना महत्त्व है ? कितनी आवश्यकता है ।

### भावना धर्म की अति आवश्यकता

वे कह रहे हैं कि हमारा चित्त दुनिया के कोलाहल से खींचा हुआ है और यह सदा उल्लासपूर्वक बाह्य के भूसे कूटता रहता है । इसी तरह यह मन मिथ्या बातों में पिरोया हुआ और दूसरे के दोष, कमियों आदि देखते रहता है। इसीलिये बेहतर यही है कि मन को इन सबमें पिरोये रखने के बदले उसे जिनेन्द्र भगवान साधु महात्मा और सत्पुरुषों के गुणगान में सदा जुड़ा हुआ रखें । इस मन से भावनाधर्म

की साधना होने से यह जन्म कुछ सफल बनता है ।

शास्त्रकार ने मन को वश में करने के लिये कैसा सुन्दर तरीका बताया है! लोग कई वर्षों तक फरियाद करते हैं कि 'हमारा मन स्थिर नहीं रहता, मन में बुरे व उल्टे-सीधे विचार बहुत आते हैं, मन में बहुत चिन्ता व संताप होता है....', परन्तु इसका कोई उपाय किया ? क्या यह असाध्य दर्द है ? उपाय तो कुछ करना नहीं और मान लेना कि 'यह स्थिति ऐसे ही रहने वाली है, सुधरने वाली नहीं है, तो फिर इसकी फरियाद क्यों ? बात गलत है । यह दर्द असाध्य नहीं, उपायसाध्य है । इसका उपाय यह है कि तीर्थकर भगवान तथा महापुरुषों के गुणगान में चित्त लगाना, उनके सच्चरित्रों पर विस्तार से चिन्तन करना ।

**उत्तम चरित्र पढ़ने-उन पर चिन्तन करने से दो लाभ :-**

(१) एक तो इतने समय तक मन उसमें लगा हुआ रहने से मनमें ऐसे-वैसे विचार नहीं आते, संकल्प विकल्प रूक जाते हैं, दुर्ध्यान बन्द हो जाता है; और

(२) दूसरा लाभ यह है कि महापुरुषों के जीवनचरित्रों का आलेखन करने वाले शास्त्रकार उसमें उनके सुकृत-सत्पराक्रम और क्षमा - समता - सहिष्णुता आदि अनेकानेक सद्गुणों का वर्णन तो करते ही हैं, साथ-ही-साथ ऐसे सुन्दर उपदेश व हितशिक्षायें प्रस्तुत करते हैं, उस उस पात्र की ऐसी सुन्दर भावनाओं का वर्णन करते हैं, ऐसे उचित उदाहरणों का आलेखन करते हैं कि यह सब पढ़ने व सोचने से अपने मन का संशोधन होता है, कुसंस्कारों का परिमार्जन होता है और सुसंस्करण हुआ करता है । इससे भी मन को अच्छा बल मिलने से फिजुल के विचार व गंदे विचारों के प्रति घृणा होने से उनमें मंदता आती है, ऐसे विचार कम आते हैं, इसीलिये समझ रखिये कि मन की अस्थिरता और मलीन विचारों का रोना रोने के बदले ऐसे उपायों का सेवन करना चाहिये ।

उस प्रकार सत्पुरुषों के जीवनचरित्र का वांचन-मनन मन की स्थिरता - स्वस्थता के लिये एक प्रकार का ठोस व्यायाम है, एकदम सही तालीम है । ऐसे सच्चरित्र के चिन्तन - मनन से भावनाधर्म की साधना सुन्दर होती है । इसीलिये ये चरित्रकार कहते हैं कि मन से आहट्टदोहट्ट विचार करने के बदले, दूसरों की बातों में मायापच्ची करने के बदले, मिथ्याशास्त्रों की बातों के बदले जिनेन्द्रप्रभु, श्रमण और सत्पुरुषों के गुण हृदय में चिन्तन करते रहकर जन्म सफल करना चाहिये । इन गुणों का चिन्तन उनके चरित्र पर विचार करने से होगा । यह चरित्र धर्मकथा है । पादलिप्तसूरि द्वारा विरचित तरंगवती-तरंगलोला आदि धर्मकथायें हैं।

## २. कथा के ४ प्रकार

### ४ प्रकार की कथा क्यों?

शास्त्रकार कहते हैं कि जिनेश्वर देवों ने चार प्रकार की धर्मकथा कही है। इसका कारण यह है कि धर्मकथा में अनेक प्रकारके जीवों के हृदय के भावों का विचार करना होता है। यह विचार करना अर्थात् यह देखना कि 'कैसे-कैसे जीव कैसे-कैसे भाव से आगे बढ़ते हैं और कैसे-कैसे भाव करके फिर से गिर जाते हैं...

यह विचार करना अर्थात् सहज में यह देखा जाय कि,

### (१) आकर्षिणी कथा :-

धर्म से एकदम पराङ्मुख जीवों को कुछ इस प्रकार का प्रतिपादन - उद्बोधन किया जाय कि जिससे वे जीव पहले तो धर्मोपदेशक की वाणी के प्रति आकर्षित हो; कान चौकन्ने करे। वहाँ कथा के श्रोता को दिखे कि 'देखो, यह फलों जीवन उपदेशक से पूर्ण पराङ्मुख होने पर भी उपदेशक की इस कथा से उसके भाव कैसे बदल गये ! वह कैसा पराङ्मुख मिटकर सम्मुख हो गया है !' ऐसी कथा-ऐसे उद्बोधन को आकर्षिणी (आक्षेपिणी) कथा कहते हैं! 'कथा' अर्थात् उपदेश, प्रतिपादन, उद्बोधन, वह ऐसा हो कि श्रोता को श्रवण के प्रति आकर्षित करे, इसका नाम है आकर्षिणी कथा, आक्षेपिणी कथा।

### चार कथा का दृष्टान्त कपिल :-

आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी व निर्वेदनी - इन चारों प्रकार की कथा को समझाने के लिये दृष्टान्त के रूप में, ५०० चोरों को श्री कपिल केवली महर्षि द्वारा दिया गया उपदेश प्रस्तुत करते हैं।

कपिल एक ब्राह्मण विद्यार्थी है। राजा के पास सिर्फ दो माशा सोना मांगने के लिये जाता है, परन्तु वहाँ तो राजा इतना ही देने के बदले कहता है कि 'क्या चाहिये? तुझे जो चाहिये वह मांग।' तब कपिल लोभ में चढ़कर विचार करता है कि जब राजा मुँहमाँगा धन देने को तैयार है, तो फिर कितना मांगु? ४-८-१०-२०-१००-१०००-लाख, इस तरह करते-करते वह एक करोड़ का धन मांगने के विचार तक पहुँच जाता है, परन्तु वहीं पर अचानक आघात का अनुभव करता है कि 'अरे अरे ! यह मैंने क्या किया ? लोभ में मैं कहाँ तक पहुँच गया ? यह

लाभ और लोभ दोनों कैसे हैं ?

‘जहा लाहो, तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ’

इस जगत में मनुष्य को जैसे-जैसे लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे उसका लोभ बढ़ता जाता है। पुनः लोभ से लाभ को पाने पर, इस लाभ से लोभ बढ़ता है, तो इसका अन्त कब ? कभी अन्त आने वाला ही नहीं।

‘इच्छा हु आगाससमा अणंता’

इच्छा तो आकाश की तरह अनन्त है, उसका अन्त ही नहीं है। इसीलिये तो इच्छित वस्तु मिला करने से इच्छा का रोग यानी विकार मिटता नहीं, बल्कि बढ़ता है।

इच्छारोग तो तभी मिटेगा यदि इच्छित को पाने की और इस प्रकार बन्दर जैसे मन की खुजली खुजलाने की दौडधूप करने के बदले कोई अच्छे तात्त्विक विचार करके या त्यागी निर्लोभी किसी महापुरुष के दृष्टान्त को नज़रों के सामने रखकर या लोभ के इस इहलोक - परलोक के भयंकर अनर्थ से भड़ककर इच्छा की खुजली ऐसे ही दबा दी जाय, उसे तृप्त करने की परवाह ही छोड़ दी जाय। पहले तो मन पर दबाव करना पड़ेगा, मन को मनाना पड़ेगा। परन्तु अनेक बार ऐसे कह-कहकर उठती हुई इच्छाओं का पोषण न करने से, क्रमशः इच्छाओं का जोर कम होता जाता है। यह अभ्यास अच्छी तरह से आगे बढ़ने पर मन सहज में ही ऐसा बन जाता है कि इच्छा ही नहीं जागेगी।

**कपिल को स्वयं बोध:-**

कपिल ब्राह्मण ने यह सोचकर देखा कि मैं इतने लोभ में कैसे चढ़ा ? ऊहापोह करते हुए उसे पूर्वजन्म का चारित्र्य याद आया। इच्छाओं से रहित चारित्र्य जीवन की भव्यता देखी, उसके सामने इच्छाओं से भरे गृहस्थजीवन की गंदगी-अधमता देखकर वहीं पर, उसी क्षण मन से चारित्र्य लेकर साधु का वेश स्वीकार लिया! आश्चर्य चकित राजा पूछता है - ‘यह क्या ?’ कपिल मुनि कहते हैं:-

‘जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।  
दो मासाए कज्जं कोडीए वि न निड्डिअं ॥

- जैसे जैसे लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे लोभ होता जाता है। लाभ के साथ लोभ बढ़ता जाता है। दो माशा सोने का प्रयोजन था वह करोड़ों से भी पूर्ण नहीं हुआ। संसार के समस्त प्रयोजनों में ऐसा ही होता है। इसीलिये ऐसे प्रयोजन से इच्छा कराने वाले संसार वास से मुझे कोई काम नहीं। अब तो मैं इच्छाओं से रहित चारित्र्य जीवन ही पालूँगा।

**कपिलमुनि केवलज्ञान पाते हैं:-**

बस, इतना कहकर कपिलमुनि निकल पड़े और छ मास की उत्कट तप-संयम की साधना से केवलज्ञान पाया। देवों को अभी कुछ पता नहीं है। अभी तो कोई केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिये भी नहीं आ रहे हैं। इतने केवलज्ञानी महर्षि कपिल भगवान तो चल पड़े जंगल की राह ! वहाँ रहनेवाले ५०० चोरों ने उन्हें घेर कर जब कहा कि 'खड़े रहिये, कुछ गार्इये' तब कपिल केवली उन्हें धर्म की प्राप्ति कराने के लिये चार प्रकार की धर्मकथा का उपयोग करते हैं।

**कपिल केवली रास गवाते हैं:-**

उसमें पहले आक्षेपिणी कथा का उपयोग करके बोलते हैं:-

‘कसिण - कमलदल - लोयणचल - रेहंतओ,  
पीण - पिहुल - थण कडियलभार - किलंतओ ।  
ताल - चलिर - - वलयावली - कलयल - सद्दओ.  
रासयम्मि जइ लब्भइ जुवई - सत्यओ॥’

“संबुज्झह किं ण बुज्झह, एत्तिए वि मा किंचि मुज्झह ।  
कीरउ जं करियच्चयं, पुण दुक्कइ तं मरियच्चयं ॥

अर्थात् रास गाने में यदि ऐसा युवतियों का समूह मिल जाय, कि (१) जो काली कमल पत्र जैसी आँखों के कटाक्ष से शोभित हो रहा हो। (२) जो स्थूल विशाल स्तनभार और कमर के नीचे के जांघ के भार को उछलता हो, (३) तथा ताल लेते वक्त हिलते हुए जिनके कंगनों की पंक्तिओं से कलकल ध्वनि गूँज रहा हो, ऐसा युवतीसमूह साथ में हो, तो कैसा मजा आ जाय ?’ इस प्रकार रास की

पहली पंक्ति गवाकर फिर प्रत्येक पंक्ति के साथ गीत की टेक गवाते हुए कहते हैं ।

‘अरे ! बोध पाओ । तुम क्यों बोध नहीं पाते हो ? क्यों नहीं समझते ? इतने में भी तुम बिल्कुल मोहित मत होना । जो भी करने योग्य है, वह कर लो, क्योंकि मृत्यु समीप आती जा रही है ।’

यह क्या किया ! चोरों को आकर्षित करने के लिये कहा ‘रास में युवतियों का समूह हो, तो मजा आ जाय’ वास्तव में देखा जाय, तो यह कोई धर्म का वाक्य नहीं है । इसमें न तो धर्म की कोई हितशिक्षा है, न पाप दुगंछा है और न ही धर्म प्रशंसा है । फिर भी आगे कहे जाने वाले धर्म-उपदेश की ओर कान चौकन्ने कराने वाले ये वचन हैं; क्योंकि यदि पहले इतनी मनपसंद बात न कहेंगे, तो चोर आकर्षित हुए बिना सीधे ही धर्मवचन - वैराग्य वचन सुनने के लिये ही कहा तैयार होंगे ? इसलिये उपरोक्त वचन धर्मश्रवण की ओर ले जाने वाला होने से उसे भी धर्मवचन - धर्मकथा के रूप में गिना है ।

छोटे बच्चे को कहिये - ‘ले यह पेड़ा । यहाँ बैठकर खा ले ।’ लड़का बैठा, उसे पेड़ा देकर कहो - ‘देख बेटे ! झूठ नहीं बोलना चाहिये । माता पिता के पाँव छूने चाहिये, प्रतिदिन भगवान के दर्शन करना ।’ इसमें पहला वाक्य कैसा ? धर्म की ओर आकर्षित करनेवाला वाक्य, इसलिये इसे भी आकर्षणी धर्मकथा ही कहा जाएगा ।

प्रत्येक स्थान पर गंभीरता से विवेक रखना चाहिये । ऊपर-ऊपर से देखकर तुरन्त जजमेंट या निर्णय नहीं दिया जा सकता कि यह ऐसा ही है ।

### **राजा को लात मारने वाले को इनाम :-**

दिवान का चुनाव करने के लिये एक राजा ने कुछ युवकों की परीक्षा लेने के लिये पूछा - ‘बोलो भाई ! कोई मुझे लात मारे, उसे क्या सजा दी जानी चाहिये ?

तब ऊपर-ऊपर से देखकर एक ने कहा - ‘उसे कोड़े मारने चाहिये ।’

दूसरे ने कहा - ‘उसे जेल में डालना चाहिये ।’

तीसरा कहता है - अरे नहीं, दूसरों को भी इस उदाहरण से संभलने के लिये ऐसे को तो फांसी पर ही चढ़ाना चाहिये ।

इस प्रकार सबने अलग अलग जवाब दिये।

पुराना वृद्ध दिवान गंभीरता से, विवेक के साथ कहता है - ‘महाराज ! उसे या तो सोने के खिलौने या हीरे का हार इनाम में दिए जाने चाहिये ।’

यह सुनकर सब चौंक उठे ।

वृद्ध मंत्री ने कहा - 'देखिये ! महाराज के साथ तो सदा अंगरक्षक होते ही हैं, इन्हे लात मार ही कौन सकता है ? या तो गोद में लिया हुआ बाल राजपुत्र, या अन्तपुर में महारानी प्रेम में कभी रूठकर हल्की सी लात की तरह पाँव लगा दे ।' इन दोनों को तो सोने के खिलौने ये हार का इनाम ही दिया जा सकता है, सजा तो नहीं दी जा सकती !

यह सुनकर सब नौजवान एकदम ठंडे पड़ गये ।

### युवतीवर्णन धर्मकथा कैसे ?

गहराई से, दीर्घ दृष्टि से वस्तु तत्त्व को देखे-समझे बिना सीधे ही जजमेंट देने में इन्सान गलती करता है । बच्चे को पेड़े का लालच दिया या कपिल केवली ने चोरों से रास में युवतियाँ शामिल हो तो मजा आये, ऐसा कहा, 'यह पापवचन है, पापकथा है,' ऐसा जजमेंट देनेवाला भी गलत साबित होता है । शायद उसे लगता होगा कि 'अरे ! नारी का शृंगार रस से वर्णन भला धर्मकथा कैसे' परन्तु उसे शायद यह पता नहीं कि ऐसे जीव को पहले-पहेले ऐसा कुछ न कहकर सीधे ही धर्म की बात कही जाय, तो क्या वह धर्मवचन सुनने को तैयार होगा ? पहले तो वह अपने विषय-रस की बात ही ध्यान से सुनेगा । तब उसे लगता है कि 'महाराज अच्छा बोलतै हैं, चलो उनकी बात पर ध्यान दुं । देखुं तो सही अब आगे ये क्या कहते है ?' इस प्रकार वह पहला वाक्य तो आगे कहे जाने वाले धर्मोपदेश के प्रति जिज्ञासा पैदा करता है । ऐसी जिज्ञासा जगाने वाला वचन भी धर्मवचन है, धर्मकथा ही है । हाँ वक्ता को बाद में ऐसा जोरदार प्रेरक धर्मवचन भी बोलना आना चाहिये । वैराग्य का स्रोत बरसाने की यदि शक्ति न हो, तो वक्ता को धनसंपत्ति - शृंगार आदि का वर्णन भी नहीं करना चाहिये ।

### प्रभावना गलत लालच क्यों नहीं ?

सारांश - धर्म की ओर ले जाने वाली भूमिका भी धर्म के अन्तर्गत है । इसीलिये तो जो कुछ लोग कहते हैं कि इन लोगों को पूजा या व्याख्यान में प्रभावना देते हो, यह तो रिश्वत है, आप झूठा लालच जगाते हो। ऐसा कहने वाले का जजमेंट सिर्फ ऊपरी है, बिना विचारा हुआ कथन है । उसे यह मालुम नहीं कि चाहे लालच में ही सही, ये जीव मंदिर उपाश्रय तो आये हैं न ? फिर तो कोई अच्छा धर्मसंगीतकार या धर्मोपदेशक उन्हें प्रभुभक्ति में या धर्मबुद्धि या वैराग्य भावना

में कैसे नहीं चढ़ा देगा ? परन्तु यह कब होगा ? एक बार मन्दिर उपाश्रय में आये तभी न ? आये ही नहीं, तो उसे क्या दिया जाय ? उसे किस तरह धर्म की प्राप्ति करायी जाय ? प्रभावना से भी आता है, तो उसे धर्म दिया जा सकता है। इसीलिये यह प्रभावना भी पापक्रिया नहीं, किन्तु धर्मक्रिया ही है ।

तो अब आप कहेंगे, प्रभावना में धर्म कैसे?

(१) इसका कारण यह है कि यह बाल जीवों को धर्म की ओर मोड़ने वाली बनती है ।

(२) प्रभावना धर्म करने की उपबृंहणा-समर्थन - अनुमोदन रूप होने से सामने वाले को विशेष धर्म में प्रेरित करती है । इसी तरह

(३) प्रभावना देने वाला सामने वाले के पूजाश्रवण, व्याख्यान श्रवण या किसी व्रत नियम तपस्या की कद्र करता है, अनुमोदना करता है, और इससे उसके दिल में धर्म की लगन जगती है, इसी तरह करण-करावण- अनुमोदन सरीखा फल नीपजायो ।

इस प्रकार मालमेवा देने - खिलाने की दिखने वाली यह क्रिया धर्म की उत्पत्ति करने वाली होने से अथवा अच्छी खाने की चीज, कोई खिलौना या दूसरी कोई अच्छी चीज देकर भी शाला भेजते हैं, फिर उसे धीरे - धीरे पढ़ने की इतनी दिलचस्पी हो जाती है कि कई बार तो वह भूखा प्यासा भी स्कूल चला जाता है । इसका मूल कहाँ है ? पहले (खाने की अच्छी चीज) मिठाई या खिलौना दिया था, उसमें। इसलिये यह देना भी पढ़ाने की क्रिया में ही जाता है । वहाँ यह नहीं सोचा जाता कि यह अच्छा अच्छा देने से तो बच्चा लालची बन जाएगा । क्योंकि यह सबको मालुम ही है कि एक बार तो उसे पढ़ाई में जुड़ने दो न ? फिर तो पढ़ाई की दिलचस्पी ही उस लालच को भुलवा देगी । इसी तरह प्रभावना का यह हेतु समझिये कि ऐसा करके भी इन बालजीवों को एक बार तो पूजा-व्याख्यान में जुड़ने दो न ? फिर तो उसे प्रभु-भक्ति धर्मश्रवण की दिलचस्पी ऐसी जागेगी कि फिर उसे लालच की कोई परवाह नहीं होगी । इस प्रकार प्रारंभ में लालच से करने पर भी इतने समय के लिये तो दुनिया के आरंभ-समारंभ या विकथा से तो बचेगा न ? यह भी लाभ है न ?

कहने का तात्पर्य यह है कि आकर्षिणी कथा - धर्मकथा है । 'उपमिति - भवप्रपंच कथा' शास्त्र में इसका दृष्टान्त आता है ।



## आकर्षिणी कथा का दूसरा दृष्टान्त :-

एक धर्मपराङ्मुख व्यक्ति को रास्ते में मिले आचार्य भगवंत कहते हैं, 'क्यों भाई ! व्याख्यान में क्यों नहीं आते हो ?'

उस आदमी को भय है कि 'महाराज के पास गये, तो कुछ पैसे - बैसे खर्च करने को कहेंगे।' इसलिये वह छूटने के लिए कहता है, 'साहेब ! क्या करूं ? मुझे तो कई उपाधियाँ हैं।' परन्तु आचार्य महाराज कहते हैं - 'तो क्या हुआ ? जरा पांच मिनट के लिए भी परमात्मा की वाणी सुनकर जाओ। इतने में कुछ नहीं बिगड़ेगा।'।

सेठ सोचता है, 'यह तो ठीक है। पांच मिनट वहाँ बैठकर उठ जाऊँगा; महाराज साहब की बात भी रह जाएगी।' ऐसा सोचकर व्याख्यान में आने का कबूल करता है।

अब आचार्य महाराज दूसरे दिन यह बात लक्ष्य में रखकर व्याख्यान शुरू करते हैं। जैसे ही सेठ को दूर से आते हुए देखा कि तुरन्त बात आगे चलाते हुए कहा - 'देखो महानुभाव ! जगत में पुरुषार्थ चार प्रकार का है, इसमें

'अर्थ पुरुषार्थ में माननेवाले कहते हैं कि .....

इतना कहा, इतने में तो सेठ नजदीक में आ गये; अब वे सुन सके इस तरह आचार्य भगवान ने बात आगे चलायी - 'दुनिया में पैसा है, तो सब कुछ है। पैसे से ही बड़े व्यापार चलते हैं और जोरदार कमाई होती है।'

यह सुनकर बनिया तो चौंक उठता है। वह मन में सोचता है - 'अरे ! अंधा क्या चाहे आँख ! मुझे जो चाहिये था, वह मिल गया ! महाराजजी सच ही कहते हैं ! मैंने पहले ऐसा क्यों मान लिया कि महाराज तो धर्म की ही बात करते हैं ? देने की ही बात करते हैं ? मैं तो भूल गया था। अब सुनुं तो सही, आगे क्या कहते हैं ?' बस अब सेठ के कान चौकन्ने हो गये, आतुरता जगी। आचार्यदेव ने बात आगे चलायी - 'पैसों से सिर्फ व्यापार और कमाई ही नहीं होती, परन्तु बाग - बगीचे, बंगले - गाडी, नौकर - चाकर, मेवा - मिठाई सब कुछ मिलता है। अरे ! घरवाली भी पैसे के ढेर करने वाले पति को देवता की तरह पूजती है। लोग भी पैसेवाले को हाथ जोड़ते हैं, सलाम मारते हैं, भाव पूछते हैं। पैसे गये तो कोई भाव पूछनेवाला भी नहीं मिलता, सगे भी पराये बन जाते हैं, सामने तक नहीं देखते। सारा जीवन पैसे के बल पर ही सुखी बनता है। पैसे हो तो परदेश भी स्वदेश जैसा बन जाता है। पैसे हैं तो प्रतिष्ठा है। सेठ को नाक नहीं हो,

नकली लकड़े का नाक हो, तो भी सेठजी नाकवाले कहलाते हैं। नहीं तो नाक होने पर भी दरिद्र मनुष्य नककटा कहलाता है।’

श्रोता सेठ अब बराबर आकर्षित हो गये हैं, सुनने में एकदम तल्लीन हैं। मन में ‘हाँ ठीक है।’, ‘हाँ ऐसा ही है।’ ऐसे कर रहे हैं, तभी आचार्य महाराज कहते हैं -

“इस प्रकार जैसे से ही जीवन की उन्नति है, सुख-सन्मान है - ऐसा अर्थ पुरुषार्थवाला मानता है।”

“दूसरे काम पुरुषार्थ के रसिक ऐसा कहते हैं कि ‘सिर्फ पैसा - पैसा क्या करते हो ? क्या जैसे खा सकते हैं ? जीवन की मौज तो विषयसुख भोगने में है। जैसे तो हो, परन्तु बीबी झगडालु, कर्कश - कठोर शब्द बोलनेवाली मिली, तो क्या जैसे को चाहेंगे ? जैसे हो, परन्तु शरीर बीमार हो, रोगग्रस्त हो तो कैसा सुख ? मजा तो तभी आएगा यदि सुशील, पतिव्रता, मधुरभाषिणी स्त्री मिली हो, निरोगी शरीर मिला हो.....आदि मिलने से आनंद भरे सुखों का उपभोग करने को मिले। कंजूस का काका, जैसे होने पर भी धन गाड़कर रखे और खाने-पहनने के नाम पर कंगाल की तरह रहे। यह भी कोई जीवन है ? धन के बिल पर अजगर मूर्च्छा कर-करके ज़िंदगी पूरी कर देता है, इसमें क्या विशेषता ? जब कि जैसे थोड़े होने पर भी रंग - राग - विलास में मस्त रहकर जीये, तो जीवन जीने का मजा आये।’ इस प्रकार काम पुरुषार्थ में माननेवाले कहते हैं।”

यह सुनकर सेठ विचार करने लगे कि ‘यह बात भी ठीक लगती है। सिर्फ जैसे ही इकट्ठे करते गये, न ठीक से खाया, न पीया, न मौज-मजा किये तो फिर जैसे किस काम के ? ऐसे जीने का क्या मतलब ? महाराज की बात एकदम सही है। अब आगे भी देखूँ तो सही, ये क्या कहते है ?’

कहाँ गयी सेठ की पांच मिनट ? ‘पांच मिनट व्याख्यान में हाजरी देकर उठ जाऊँगा।’ ऐसी गिनती करके आया हुआ सेठ पांच तो क्या पचास मिनट हो गयी, तो भी जैसे वहाँ चिपक ही गया ! किसके कारण ? आकर्षिणी-आक्षेपिणी धर्मकथा के कारण। धर्म की तरफ खींचने वाली यह आकर्षिणी कथा भी धर्मकथा ही है। धर्मोपदेशक गुरु के पास सेठ को पचास मिनट किसने रोके रखा ? आकर्षिणी कथा ने। इसीलिये यह कथा धर्म कथा है। आचार्य महाराज अब प्रवचन आगे चलाते हैं -

“तीसरे धर्म-पुरुषार्थ को मानने वाले ऐसा कहते हैं कि दुनिया के विषय-सुख भोग लिये, इसमें कौन-सी बड़ी बात ? इससे हाथ में क्या आया ? क्योंकि

(9) इसमें तो 'खा गया खो गया' का सौदा है। जीवन के अन्त में चाहे जितने सुख भोगने वाला भी, सुख न भोगने वाले की तरह ही स्वयं को अकेले ही रवाना होते देखता है। धन-माल-परिवार और यह सुख सब कुछ छूटता हुआ और स्वयं को इन सबसे भ्रष्ट होते हुए देखता है ! तब उसके दुःख का पार नहीं होता। तो फिर सुख भोगा, वह किस काम का ? जिसका अन्त अच्छा, वह अच्छा और जिसका अन्त बुरा, वह बुरा।' ऐसा कहा जाता है। इस हिसाब से इस दारुण-दुःखभरे बुरे अन्त के हिसाब से जीवन भर भोगा हुआ सारा सुख भी बुरा ही माना जाएगा। देव-जीवन के अन्तिम ६ मास की स्थिति ऐसी दुःखमय होती है और उसे ऐसा ही लगता है।

(२) यहाँ भी काम-पुरुषार्थ के पीछे पड़े हुए जीव को,

(i) कर्म के विचित्र तूफानों के कारण उसे कुछ न कुछ कम ज्यादा लगता ही रहता है। एक तरफ सुख ठीक तो, (ii) दूसरी ओर सुख में कमी दिखती है। (iii) उसका वह सुखसाधन क्षण भर बाद उसे दुःखरूप लगता है। इन सब कारणों से कदम-कदम पर उद्वेग तो है ही। (iv) दूसरे को अच्छा या अपने से ज्यादा अच्छा मिला हो, तो यह देखा नहीं जा सकता, हृदय में चुभता है। इस प्रकार (v) संयोग के सुख ऐसे हैं कि इन संयोगों की अपेक्षा रखनी पड़ती है, गुलामी करनी पड़ती है। यह भी अन्त में दुःखदायी सिद्ध होता है। इस तरह देखा जाय तो वर्तमान जीवन में भी पूरा सुख तो है ही नहीं, उद्वेग, गुलामी, आतुरता आदि से भरा हुआ मिश्रित सुख है।

(३) इसमें भी यदि रोग आ जाय, अचानक पैसे, पत्नी या पुत्र चले जायें, तो माने हुए दूसरे सब सुख-साधन मौजूद होने पर भी रोना पड़ता है। वहाँ काम-पुरुषार्थ की हिमायत बचा नहीं सकती, स्वस्थ नहीं रख सकती।

(४) काम पुरुषार्थ में डूबे हुए की परलोक में महा दुर्दशा है। क्योंकि यहाँ केवल विषय-सुखो की मन में चढ़ी हुई आंधी एक तरफ भंयकर पापोपार्जन और दूसरी तरफ दुःखद कुसंस्कारों को दृढ़ बनाती है। इससे परलोक में एक तरफ दुःख का, दुर्दशा का पार नहीं और दूसरी तरफ उन दृढ़ कुसंस्कारों के कारण जीवन पाप भरा मिलता है। यहाँ किसी पुण्य का उपार्जन नहीं किया, इसीलिये वहाँ मनचाहा नहीं मिलता; आहार-विषयों के कुसंस्कारों के कारण उसकी भूख ज्यादा होती है ! कितने दुःख का विषय ?

इस प्रकार काम पुरुषार्थ के पीछे पड़े हुए को यहाँ और परलोक में विडंबना है। इसीलिये धर्म पुरुषार्थ ही एक स्वीकारने योग्य है, जो यहाँ और बाद में स्वस्थ

रखता है ।’

अब सेठ का मन डोलने लगा । मन में होने लगा कि ‘महाराज यह भी कहाँ गलत कह रहे हैं ? बात तो सच है कि यह देखने पर तो अर्थ और काम विडंबना भरे हैं । सब कुछ खाक हो जाने के बाद क्या काम आयेगा ? फिर तो निराधार ही होना पड़ेगा न ? ठीक है । देखता हूँ, अब आगे क्या कहते हैं ?’ रस लग गया बनिये को ।

अब महाराज अपना व्याख्यान आगे चला रहे हैं—

**अन्त में सब कुछ खोने पर भी धर्मों को दुःख क्यों नहीं ?**

धर्म पुरुषार्थ वाले को तो अन्त समय में पैसे - परिवार - सुख सब जाता हुआ दिखता है, परन्तु इससे उसके दिल में कोई दुःख नहीं होता । क्योंकि उसने तो धर्म की समझ से पहले से ही सब कुछ असमय ही नष्ट होने वाला है, बात समझ रखी है । फूल की माला शाम होने पर मुरझाने ही वाली है, यह बात सुबह से ही समजा रखी है, इसीलिये तो वह फूल की माला शाम को मुरझाई हुई देखकर दुःख कहाँ होता है ? इस प्रकार धर्म की समझ से अर्थ काम को असमय ही खोनेवाले समझ रहा है, तो फिर अन्त में उन्हें उड़ते हुए देखें, तो दुख कहाँ से होगा ? वहाँ तो उल्टा धर्म का महान आलंबन जीव को मस्त रखता है ! वह समझता है कि अर्थ-काम तो चाहने पर भी साथ में चलने वाले ही नहीं हैं, जब कि धर्म तो वास्तव में साथ चलने वाली चीज़ है ।

(२) धर्म उसे जड़ की ममता, दुर्ध्यान, असमाधि, हाय-हाय आदि खतरनाक हैं, परलोक को बिगाड़नेवाले है; यह बात समझाता है । इसीलिये अन्त काल में विशेष रूप से इनसे दूर रहकर समता-समाधि शुभध्यान में वह लीन रहता है, इसीलिये उसे दुःख कैसा ?

**धर्मों को वर्तमान में दुःख क्यों नहीं ?**

(३) यदि अपने जीवनकाल के दौरान भी मनुष्य धर्म-पुरुषार्थ को प्रधानता देता हो, तो इस अर्थ-काम के रसिक जीव की तरह वह भला क्यों चिन्ता - संताप - ईर्ष्या - भय आदि से पीड़ित होगा ? अर्थ-काम को तो वह खतरनाक मानता है । इसीलिये उसके साधनों में कुछ यहाँ का वहाँ होने पर उसे संताप नहीं होता । बहुत पैसेवाले या बहुत विषय सुख में पड़े हुए जीवों को देखकर तो उसे उन पर दया आती है कि ‘अरे अरे ! इस बेचारे का बाद में क्या होगा ? बिल्ली वाले

घर में चूहा छज्जे पर कुछ अनाज के दाने मिलने पर वहीं पर मस्त होकर फिरता रहता है, तो उस पर दया आयेगी न ? कि 'यह इसमें अंध बनकर यहीं चिपका रहता है, पर बाद में बिल्ली चुपके से जाकर इस पर टूट पड़ेगी तब इसका क्या हाल होगा ?' इस प्रकार धर्म समझने वाले को जहाँ अमीर व विषयसुख में लुब्ध बने हुए जीव पर दया आती हो, तो इस पर ईर्ष्या होगी ही कहाँ से ? इसी प्रकार उसे उसकी बहुत आतुरता भी क्यों रहेगी ? अतः वर्तमान काल में भी उसे चिन्ता - संताप ईर्ष्या - आतुरता की पीड़ायेँ नहीं हैं ।

(४) कभी अचानक पैसे चले भी गये, पत्नी या पुत्र मरा, तो भी धर्म की समझ से पहले से ही उसने सब संयोग नश्वर ही समझ रखे होने से रोएगा नहीं । पैसे जाने पर वह समझेगा कि 'जैसे शुभाशुभ कर्मों का उदय हो, वैसा ही होगा । चलो, इसमें भी हमें धर्म में अधिक जागृत करने का कोई संकेत होगा ।' पत्नी या पुत्र मरने पर यही विचार करेगा कि 'मुझे भी चेतना पड़ेगा । मैं भी न जाने कब रवाना हो जाऊँ ? ये बेचारे धर्म साधे बिना ही मेरे मोह में जीवन पुरा कर गये, अब उनका क्या हुआ होगा ?' यदि सद्गत जीव अच्छा धर्म करके गया है, तो जीवन कुछ अंशों में सार्थक कर गया है । वे अन्त में समाधि में गये हैं, इसीलिये सद्गति ही पायी होगी, अतः चिन्ता की कोई बात नहीं । मुझे स्वयं के लिये विशेष सावधान बनने की नोटिस मिली है, अतः अब मैं विशेष रूप से धर्म में जुड़ जाऊँ और अर्थ-काम की ममता विशेष रूप से कम करूँ ।' इस प्रकार धर्मी जीव स्वस्थ रहता है ।

(५) धर्म पुरुषार्थ में मानने वाला जीवन में और अन्त में भी मुख्य रूप से धर्म में ही चित्त रखता है, धर्म सुकृत करता रहता है, झूठ-अनीति, निन्दा - ईर्ष्या - मद आदि खतरनाक दोषों से दूर रहता है, जिससे उसका परलोक अच्छा बनता है, मरने के बाद भी ऊँची सद्गति और सुख शान्ति का अनुभव करता है ।

इस प्रकार धर्म से यहाँ और परलोक में सच्ची सुखशान्ति मिलती है, उसके दिल में दुःख संताप की कोई होली नहीं सुलगती । इसीलिये अनर्थकारी अर्थ-काम को महत्त्व न देते हुए धर्म में ही लग जाना चाहिये, नहीं तो परलोक में तिर्यच - नरक के अवतार में विडंबना का पार नहीं होता !!' इस प्रकार धर्मपुरुषार्थ में माननेवाले कहते हैं ।"

**आकर्षिणी आदि कथा का सेठ पर असर : -**

आचार्य महाराज का यह उपदेश सुनकर सेठजी तो काँप उठे । उनके दिल में

ऐसा होने लगा कि - 'अरे ! मैं फिर किस चक्र में पड़ा हूँ ? महाराज इसमें कुछ गलत थोड़े ही कह रहे हैं ? पैसों के पीछे पागल बनने के बाद तिर्यच या नरक गति में फँस गये, तो वहाँ कितना दुःख ? कितने कष्ट ? कितनी विडंबना ? यहाँ पर भी मुझे सच्ची शान्ति कहाँ हैं ? हाय हाय ! धर्म के बिना मेरा क्या होगा ? बस, अब तो कुछ धर्म करने लगूँ और प्रतिदिन व्याख्यान सुनने आऊँ ।'

कहिये, यहाँ आकर्षिणी कथा ने क्या काम किया ? उस जीव को धर्म की ओर खींचकर यदि पहले से धर्म की ही बात की होती तो उसे आकर्षण ही नहीं होता, गुरु महाराज की बात उसके दिल में ही नहीं उतरती, वक्ता उपदेशक के प्रति उसके दिल में भाव नहीं जगते। आकर्षण हो, तो उनकी आगे-आगे की बात ग्रहण करे । आकर्षिणी कथा यह काम करती है, इसलिये यह भी धर्मकथा है ।

इसीलिये तो कपिल केवली भगवान ने चोरों को पहले रास में गवाया कि 'मनोहर नेत्र - गात्र वाली रमणियाँ रास में साथ में हो, तो कितना मजा आये ?' इससे चोर खुश हुए, आकर्षित हुए कि सुनें तो सही, ये आगे क्या कहते हैं ? वहीं तुरन्त केवली भगवंत टेक गवाते हैं कि 'बोध पाओ । क्यों बोध नहीं पाते ? इतने में क्या मोहित हो जाते हो ? करने योग्य कार्य कर लो, नहीं तो मरण तुम्हारे पास आ रहा है ।'

चोर अब भी समझते नहीं हैं कि करने योग्य क्या है ? परन्तु आकर्षित हुए हैं, इसीलिये आगे सुनने के लिये उत्सुक बने हैं ।

अब कपिल महर्षि गवाते हैं, उसमें विक्षेपिणी कथा कहते हैं । अर्थात् चोरों को स्त्रियों के प्रति जो आकर्षण है, उसमें विक्षेप पैदा करते हैं, उनके आकर्षण को काटने का प्रयत्न करते हैं । वे आगे गवाते हैं—

“असुइ - मुत्त - मल - रुहिर - पवाह - विरुवयं,  
वंत - पित्त - दुग्गंधि - सहाव - विलीणयं ।  
मेय मज्ज - वस फोप्फस, - हड्ड - कलियं, चम्ममत्त - परछायण - जुवइसत्थयं॥  
संबुज्झह किं न बुज्झह...

अर्थात् बाहर से रमणीय दिखनेवाला भी युवती समुह अन्दर से कैसा है ? अशुचि, मूत्र, मल और खून के प्रवाह से बीभत्स ! वमन, पित्त और दुर्गन्धी स्वभाव वाले मैले पदार्थों को अन्दर छूपाकर रखने वाला, चर्बी-मांस - नसे - फेफड़ों व हड्डियों से भरा हुआ और सिर्फ बाहर के ढक्कन रूप सुन्दर चमड़ी से आच्छादित है, ... बोध पाओ । क्यों बोध नहीं पाते ? क्यों नहीं समझते ?

यह गवाने से चोरों के चित्त में स्त्रियों के प्रति विक्षेप पैदा हुआ, आकर्षण कुछ कम हुआ, मन में हुआ कि 'तो फिर मलमुत्र आदि से भरी हुई ऐसी स्त्रियों में अच्छा क्या ? ऊपर से सिर्फ (अच्छे) गोरे रंग का चमड़ा मढ़ा हुआ है, इसीलिये क्या स्त्रियाँ अच्छी ? विष्टा की थैली पर रेशमी कपड़ा ऊपर से सजाने से, वह थोड़े ही अच्छी कही जाएगी ?' यह क्या हुआ ? आकर्षण से पीछे हटे, मन का विक्षेपण हुआ । यह कराने वाले वचन हैं - विक्षेपिणी कथा । यह है - कथा का दूसरा प्रकार ।

अब **संवेगिनी** कथा प्रस्तुत करते हुए महर्षि गवाते हैं -

“कमल - चंद - नीलुप्पल - कंति - समाणयं, मुढएहि उवमिज्जइ जुवइ - संगयं।  
थोवयं पि भण कत्थइ जइ रमणिज्जयं, असुइयं तु सव्वं चिय इय पच्चक्खं॥  
संबुज्झह किं न बुज्झह....’

अर्थात् 'युवती के अवयव हिरण, चन्द्र, नील कमल आदि की कान्ति जैसे हैं', ऐसी तुलना मूढ जनों द्वारा की जाती है ! परन्तु बताओ तो सही, उसमें कहीं थोड़ी भी रमणीयता है ? वास्तव में तो उसका सब कुछ अशुचिमय है, गंदा है। यह प्रत्यक्ष दिखता है, इसीलिये बोध पाओ। क्यों बोध नहीं पाते ?... ’

यह सुनकर चोरों को संवेग उत्पन्न हुआ । अर्थात् स्त्रियों के शरीर के प्रति घृणा उत्पन्न हुई ।

तत्पश्चात् कपिल महर्षि **निर्वेदिनी** कथा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

“जाणिऊण एयं चिय एत्थ संसारए, असुइमेत्त - रमणूसय - कय - वावारए ।  
कामयम्भि मा लग्गह भव - सय - कारए, विरम विरम मा हिंडह भवसंसारए ॥  
संबुज्झह किं न बुज्झह ...’

अर्थात् यह जानकर, इस संसार में सिर्फ अशुचि में रमण करने के उत्सव में प्रवृत्ति कराने वाली कामक्रीडा में मत मन लगाओ । क्योंकि यह तो सैकड़ों भवों का भ्रमण कराती है । इससे विराम पाओ, विराम पाओ और भव में भटकना बन्द करो । बोध पाओ, क्यों बोध नहीं पाते ?.... ”

यह सुनकर चोरों को निर्वेद उत्पन्न हुआ, अर्थात् संसार के अशुचिमय कामसुखों पर वैराग्य हुआ, भव में भटकने का खेद जगा, थकावट लगने लगी ।

इन चार प्रकार की कथाओं से जिस प्रकार चोरों का मन कामसुख पर से उठ गया, वें उनसे निवृत्त हो गये, क्रोध-मान-माया-लोभ तथा कुधर्मों से भी निर्वेद

प्राप्त हुआ। ऊहापोह करते हुए उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण हुआ।

फिर तो महर्षि जैसे-जैसे आगे-आगे गवाते गये, वैसे वैसे चोर प्रतिबोध पाते गये और रास के अन्त में सब चोर संयमधर साधु बन गये !!

चरित्रकार कहते हैं कि 'इस प्रकार आक्षेपिणी आदि चार प्रकार की कथा धर्मकथा है। हम भी यह चरित्र रच रहे हैं, इसमें आक्षेपिणी कथा का भी उपयोग करेंगे। क्योंकि यह धर्म की प्राप्ति कराने में हेतु है। इतना तो सहि है कि उपदेशक को आक्षेपिणी कथा का उपयोग करने के बाद विक्षेपिणी आदि कथाओं का सही उपयोग करने आना चाहिये, यह न आये तो अनर्थ हो जाय।

चरित्रकार कहते हैं कि मुझे यह कथा ह्रीदेवी ने कही और इस देवी की ही कृपा से विस्तार करके यह चरित्र मैं कहता हूँ, वह आप सुनिये। चरित्रकार कवि हैं। वे कहते हैं कि 'कवि खल पुरुषों से डरते हैं।' डरने का कारण बताते हैं,-

खल पुरुष कुत्ते की तरह पहले भींकते हैं, फिर पीछे से काटते हैं। कौए की तरह भक्ष्य के छिद्र में जीभ डालने रूप चोंच मारते हैं; गधे की तरह सज्जनों की ऋद्धि देखकर स्वयं उसे भोग न सकने से ईर्ष्या से जलते हैं, साँप की तरह छिद्र खोजकर उसमें प्रवेश करते हैं, वक्रगति वाले होते हैं और खली की तरह स्नेह-रहित व पशुतुल्य मनुष्यों द्वारा भोग्य बनते हैं।

ऐसे खल दुर्जन पुरुषों से क्या डरना? अच्छा काम करना हो, तो उनकी अवगणना करके सुजन पुरुषों को दृष्टि में रखकर शुभ काम करना चाहिये, क्योंकि वे गुण के ग्राहक होते हैं। किसकी तरह?

### सुजन कैसे-कैसे ?

सुजन पुरुष राजहंस जैसे हैं। जिस प्रकार राजहंस दो उज्ज्वल पक्ष-पंख वाले होते हैं तथा 'पय' विशेष यानी दूध को समझकर उसे ही ग्रहण करने वाले होते हैं। उसी प्रकार सुजनों के उभयपक्ष-मातृपक्ष-पितृपक्ष उज्ज्वल होते हैं, तथा वे 'पय' अर्थात् पद के विशेष रहस्य को समझकर उसे ही ग्रहण करने वाले होते हैं।

वे पूर्णिमा के चन्द्र की तरह सर्व कलाओं से भरे हुए और जन-मन को आनन्द देने वाले होते हैं। विशेष में, वे तो फिर निष्कलंक होते हैं।

वे मृणाल जैसे होते हैं। उन्हें पीस दिया जाय, तो भी उनके स्नेहंतु अखंडित रहते हैं; वे सुशील होते हैं। विशेषता यह है कि मृणाल स्वभाव से कुछ तुरे और जल यानी जड़ के संसर्ग वाले हैं, जबकि सुजन मधुर स्वभाव वाले और सुज्ञ का संसर्ग रखने वाले होते हैं।



वे दिग्गज की तरह दिल से ऊँचे और सतत दान बहाने वाले होते हैं। हाथी के गंडस्थल से मद झरता है, उसे दानश्री कहते हैं, जबकि सुजन धन-दान सहायदान - सुवचनदान आदि करने वाले होते हैं। विशेषता यह है कि हाथी मद से उन्मत्त और श्यामसुख बनते हैं, जबकि सुजन मदोन्मत्त और श्यामसुख नहीं होते। दान देकर भी वे उन्मत्त या अभिमानी नहीं होते कि, मैं कैसा दानी ?' अथवा 'हाय मेरे पैसे गये!' ऐसे निराश बनकर श्यामसुख नहीं होते। परन्तु 'धन्य सुकृत !' ऐसे उज्ज्वल प्रसन्न मुखवाले होते हैं।

सुजन मोती के हार जैसे सहज निर्मल और बहुत गुणों के सार वाले होते हैं। विशेषता यह है कि मोतियों को हार के बीच में छिद्र होते हैं, जब कि ये छिद्ररहित होते हैं।

सुजन समुद्र की तरह गंभीर स्वभाव वाले और महान पदार्थों से भरे हुए होते हैं। गंभीर समुद्र की गहराई नहीं मापी जा सकती। वह भरतीमें अपने रत्न बाहर नहीं उछालता, उसी प्रकार सुजनों की गंभीरता भी ऐसी कि उनके दिल की गहराई मापी नहीं जा सकती, वे अपने गुणों को अपनी वाणी से बाहर नहीं निकालते।

समुद्र में रत्नादि महान पदार्थ होते हैं, उसी प्रकार सुजन में गुण, सद्भावनायें आदि महान पदार्थ होते हैं। फिर भी विशेषता यह है कि जब समुद्र में आवर्तों के भँवर चलते हैं, उसके कलरव से पास वाले को ऐसा ही कष्ट होता है, जैसे कि पास रहे हुए किटकिट करते हुए दरिद्र कुटुंब के कारण पड़ोसी को कष्ट होता है। जब कि सुजनों में न तो माया के भँवर चलते हैं और न ही वे बेकार की किटकिट करते हैं।

कवि ने सुजनों की कितनी सुन्दर पहचान करायी है ! ऐसे सुजनों के सामने देखकर ही इस चरित्र की रचना की जाती है।



## ३. कुवलयमाला कथा का प्रारंभ

जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में विनीता नगरी है, जहाँ दृढवर्मा नामक राजा राज्य करता है। अति वैभवशाली व सत्ताधीश होने पर भी सरल, मृदुभाषी, दक्ष, दाक्षिण्यता संपन्न, दयालु आदि अनेक गुणसंपन्न है। उसे प्रियंगुश्यामा नामक पटरानी है। वह भी इतनी गुणवती है कि राजा भी उसके पक्षपात वाला है। परन्तु गुण से, न कि रूप सौन्दर्य व काम विलास के कारण; गुणवानों का आकर्षण गुणों की ओर ही होता है।

### राजसभा में नयी घटना :-

एक बार ऐसा हुआ कि राजसभा भरकर राजा बैठा है। वहाँ द्वारपाल आकर नमस्कार करके विनंती करता है - 'महाराज ! यह शबर सेनापति का पुत्र सुषेण आपकी ही आज्ञा से मालवा के राजा को जीतने के लिये गया था, वह लौट आया है व आपके चरण के दर्शन का सुख मांगता है।

राजा के सेवक जन कैसी विवेक युक्त व विनयमय भाषा का प्रयोग करते हैं और कितने संबद्धभाषी होते हैं। सीधे बिना किसी संबन्ध या संदर्भ के यों नहीं कहते कि 'सुषेण आया है।' क्योंकि राजा का संबन्ध तो बहुतों के साथ होता है। यदि सीधा ही कह दे तो राजा विचार में पड़ जाय, सोचने लगे कि कौन सुषेण ? 'क्यों मिलना चाहता है ?' इसलिये भूमिका बांधकर कहता है.... 'सेनापतिपुत्र, जिसे आपने विजय के लिए भेजा था....' द्वारपाल ऐसी भी भाषा भी नहीं बोलता कि 'सुषेण को मिलना है।' राजा जैसे बड़े आदमी को कोई छोटा आदमी ऐसे ही कैसे मिल सकता है ? वह तो विनय-विवेक भरे शब्द बोलता है कि आपके चरणों में दर्शन का सुख चाहता है।'

राजा ने हुक्म दिया कि 'उसे प्रवेश करने दिया जाय।'

सुषेण ने सभा में प्रवेश किया, और राजा के करीब आकर राजा को नमस्कार करता है। बड़ों के पास जाने पर यह नमस्कार की विधि है। आपकी संतानों को बचपन से यह बात सिखायेंगे, तो वे अच्छे विनयवान के रूप में तैयार होंगे। राजा ने उसे देखा, तो कैसा दिखा ? छाती पर बड़ा घाव है, जिस पर लंबी सफेद रेशमी पट्टी बांधी हुई है और मुख कमल जैसा खिलता हुआ शोभित हो रहा है,

जो सीना तानकर लड़कर प्राप्त की हुई विजयलक्ष्मी को सूचित कर रहा है। राजा तो देखकर खुश हो जाता है। 'योग्य व्यक्ति का योग्य सम्मान करना ही चाहिये,' अतः राजा भी उसके झुके हुए सर पर हाथ फेरता है, और तुरन्त 'आसन, आसन' कह कर आसन पर बैठने के लिए हाथ से संकेत करता है। विवेकी सुषेण भी एकदम-से बैठ नहीं जाता। महारानी को नमस्कार करता है, मंत्रियों को प्रणाम करता है, फिर बैठता है।

जहा छोटों का ऐसा विनय-विवेक हो और बड़ों का, छोटी परन्तु योग्य आत्माओं के प्रति ऐसा वात्सल्यदर्शन व योग्य सम्मान हो, वहां आपसी जीवन की गाड़ी कितने सुख व आराम से चलती है ?

राजा दृढ़वर्मा अब सेनापतिपुत्र सुषेण से पूछता है, -

'मालवा के राजा के साथ तुम्हारा क्या हुआ ? सारी बात बताओ।'

**सुषेण द्वारा सारी बात का बयान :-**

सुषेण उत्तर देता है - महाराज ! आपके आदेश से मैं यहाँ से गया और सेना के साथ मालवा पहुँच गया। वहाँ का राजा तो मदान्ध, शरण में कहा से आये ? युद्ध की ललकार लगाते हुए वह सेना लेकर लड़ने आया। जोरदार लड़ाई छिड़ गयी अपनी सेना ने गजब का पराक्रम दिखाया ! अपनी व्यूह रचना भी इतनी कुशलताभरी थी कि जिससे मालवा की सेना परास्त हो गयी।

यहा पर चरित्रकार युद्ध में कैसी मार-काट चली उसका वर्णन करते हैं। इसके अन्त में सुषेण के ये शब्द कहते हैं :-

'देव ! आपकी कृपा से दुश्मन की सेना अन्त में, मर-मिटने की तैयारी न होने से, खड़ी भी कहाँ से रहे ? सारी सेना भाग गयी। राजा भी न जाने कहाँ गया ? परन्तु महाराज ! क्या बताऊँ ! एक आश्चर्य की बात की मालवराज का पांच वर्ष का बालकुमार युद्ध करने के लिए सामने आया ! उसका पराक्रम तो एक नवयुवक को शोभा दे, वैसा था। उसकी लड़ाई किसी और के आधार या सहारे पर नहीं, परन्तु स्वयं की ही शक्ति पर थी। हमने उसे जिंदा पकड़ लिया। भारी-भारी माल के साथ हमने उसे भी उठाया, वहा आपकी विजयपताका लहरा दी और सब कुछ लेकर हम आपकी सेवा मे उपस्थित हुए हैं।'

**धर्मी को आनन्द कहा ?:-**

यह सब सुनते-सुनते राजा को तो आनन्द ही आनन्द होने लगा। संसारी जीव को मनचाहे अर्थ-काम की प्राप्ति में आनन्द होने का तो पूछना ही क्या ? धर्मी आत्मा को धर्म की वृद्धि में आनन्द होना सहज ही है। वह जैसे-जैसे दया दान

करता जाता है, परोपकार-सेवा-कृतज्ञता बजाने के लिए भोग देता जाता है, शीलधर्म का पालन करता जाता है, नये-नये व्रत-नियम स्वीकारता जाता है, देव-गुरु की भक्ति-पूजा, सन्मान-गुणगान करता जाता है, तप में आगे बढ़ता रहता है, त्याग में विकास करता रहता है, रोज नयी-नयी जिनवाणी सुनता रहता है, उसके चित्त में शुभ भावनायें रमती जाती हैं, जीवन में क्षमादि गुणों का अभ्यास हममें कितना बढ़ता है, इस पर से अपने धर्म-प्रेम का माप निकलता है। हृदय में संसार ज्यादा बसा है या धर्म ने ज्यादा स्पर्श किया हुआ है ? इसका हिसाब निकाला जा सकता है।

**आनन्द के स्वरूप पर प्रेम का माप निकलता है। वह प्रेम किस पर और कितनी डिग्री का है ?**

परमात्मा की पूजा की परन्तु पराये द्रव्य लेकर ! वहाँ यदि अपना द्रव्य बचने का आनन्द रहा, तो जैसे पर ज्यादा प्रेम गिना जाएगा, परमात्मा पर नहीं। एकाशन किया, उसमें मिठाई मिली, तो आनन्द हुआ ! आज दो-तीन बार भोजन यानी आहार-संज्ञा का पोषण करने से छूटने का आनन्द नहीं, परन्तु मीठा-मीठा मिलने का आनन्द हुआ, तो तप पर ज्यादा प्रेम कैसा ? वह तो मीठे भोजन पर ही गिना जाएगा। किस बात का आनन्द और कितना आनन्द, इस पर से स्वयं ही समझ सकते हैं कि प्रेम किस पर है ? और कितने प्रमाण में ? धर्म पर कितना प्रेम ? जड़ का आनन्द कितना ?

यहाँ दृढवर्मा राजा को जड़ का आनन्द है, इसीसे वह सुषेण की प्रशंसा करता है। परन्तु उसके दिल को उस बाल राजकुमार का पराक्रम आश्चर्यजनक लगता है। इसीलिये वह पूछता है -

‘तो वह बालक कहा है ?’

सुषेण कहता है, ‘देव ! यहां द्वार पर ही खड़ा है।’

राजा कहता है ‘अरे ! ऐसे रत्न को वहाँ खड़ा रखा जाता है ?

लाओ, लाओ ! उसको यहाँ ले आओ।’

**पराक्रमी बालक का प्रवेश :-**

बालक राजसभा में प्रवेश करता है। सभा के बीच से वह मालवपति का बालपुत्र आ रहा है, उसकी चाल कैसी ? पिता का राज्य व माता-पिता के जाने पर भी बिल्कुल दीन-हीन मुँह किए बिना ओज भरी आँखों से सभा को आजु-बाजु से देखते हुए चलता है। एक शूरवीर सिपाही की अदा से राजा के पास आ पहुँचता है। साहसी पिता के पुत्र भी साहसी होते हैं ; परन्तु यह नियम नहीं है, हाँ ? आज

भी देखा जाता है न कि अच्छे दान आदि धर्मपराक्रम करनेवाले पिता के पुत्र धर्म के कायर होते हैं। ऐसी भी देखा जाता है कि शूरवीर पिता के पुत्र डरपोक होते हैं। पुछो,-

**पराक्रमी के पुत्र पराक्रमी क्यों नहीं ?**

प्र. इसका कारण क्या ? सिंह के बच्चे तो सिंह जैसे पराक्रमी व सियार के बच्चे उसके जैसी ही कायर होते हैं न ? तो फर्क का कारण क्या ?

उ. यहा पूर्व के संस्कार काम करते हैं, यही अन्तर का कारण है। पूर्व के संस्कार कायरता के होते हैं, परन्तु पराक्रमी के यहा जन्म लेने का पुण्य लेकर आया हो, जिससे पराक्रमी के यहाँ जन्म लेने पर भी संस्कारवश कायर पकता है। हाँ समझदार बने, विवेकी बने और पराक्रम का नया अभ्यास शुरू करे, तो पराक्रमी बन,सकता है। अकेले पूर्व-संस्कार के गुलाम भी नहीं बने रहना है। उसमें भी विपरित अभ्यास से फेरफार हो सकता है। धर्म के संस्कार भी कहाँ अनादि से लेकर आये हैं ? यह तो बार-बार पापसंस्कारसे विपरित धर्म का अभ्यास करते जायें, विविध साधना करते जायें, तो पापसंस्कार मिटते जायेंगे और धर्मसंस्कार जमते जाते हैं।

यह बालक पूर्व के ऐसे ही कोई शूरवीरता के संस्कार लेकर आया होगा, इसीलिये लडाई करने के लिये तैयार हो गया और यहाँ सभा में भी दीनता दिखाये बिना अदीन दृष्टि से देखता-देखता राजा के पास आ पहुँचता है।

राजा को तो यह देखकर आनंद नहीं समाता। जैसे ही बालक उसके समीप आया कि राजा ने स्नेह भरे हृदय से दो हाथ लंबे करके उसे उठाकर अपनी गोद में बिठा देता है और उसे गले से लगाता है। उसके मुँह में से उदगार निकलते हैं :- अहो ! इस का पिता तो वज्र जैसे कठोर दिल का होगा कि जो इसके बिना भी जीता है !'

वहाँ महारानी भी स्नेह-सभर होकर बोल उठी कि धन्य है उस युवती को, जिसको ऐसा पुत्र है। परन्तु वह भी वास्तव में कठोर होनी चाहिये कि जो पुत्र के विरह में जो प्राण टिकाकर रही होगी !'

मंत्री कहते हैं, 'महाराज ! क्या कहा जाय ? यह तो भाग्य का चमत्कार है, और अपने पुण्य से यह हुआ है कि अपने पास ऐसा रत्न आ गया है। लोक में ये संपत्तियाँ किसीको मिलने पर भी न मिली हो जाती है, जबकि किसी को न होने पर भी मिल जाती है !'

**दृष्टिबिन्दु की भिन्नता से अलग-अलग भाव :-**

यह बालक वीज्र एक है, फिर भी उस पर राजा, रानी और मंत्रियों को अलग-

अलग भाव जगते हैं। इसका कारण ?

दृष्टिबिन्दु में फर्क ! राजा की दृष्टि में ऐसे बालक से दूर रहने वाले पिता की मूर्खता चढ़ती है, जबकि रानी की नजरों में ऐसा बालक पानेवाली माता का अहोभाग्य आता है; तो तत्त्वदृष्टिवाले मंत्री भाग्य की विचित्रता ही देखते हैं। इससे सूचित होता है कि वस्तु में अनेक धर्म हैं और देखनेवाले के उस-उस वक्त के वैसे-वैसे भाव के हिसाब से वे लक्ष्य में आयेंगे और वैसे विचार करायेंगे। यहाँ बालक के तीन धर्म का विचार हुआ,-

(१) कठिन हृदयी पिता का पुत्रत्व

(२) भाग्यवती माता का पुत्रत्व

(३) विधि के हाथों नचाया जाना ;

जबकि राजा के दिल में क्रोध का भाव, रानी को आश्चर्य का भाव और मंत्रियों को वस्तु-विवेक का भाव, ऐसे तीन अलग-अलग भाव, वह-वह धर्म पकड़कर विचार-उच्चारण होता है।

इससे सूचित होता है कि-

**दिल में जैसा-जैसा भाव पैदा करेंगे, उसके अनुसार सामने वाली वस्तु के धर्म पर लक्ष्य जाएगा और वैसा-वैसा विचार आएगा।**

उदाहरण के लिए :- किसी अमीर को देखा, (१) अब यदि आपके दिल में दया का भाव जागता होगा, तो उस व्यक्ति में रही हुई अपने पुण्य की सिर्फ चटनी करने की खासियत ही लक्ष्य में आएगी।

(२) परन्तु आपके हृदय में यदि बहुत राग झलकता होगा, तो उस व्यक्ति की बोलबाल पर ही दृष्टि जाएगी फिर विचार भी ऐसे ही आयेंगे।

**अच्छे विचार का मूल :-**

कहने का तात्पर्य यह है कि सामने चाहे कोई भी वस्तु क्यों न हो, चाहे कोई भी घटना घटे, यदि आप दिल में मैत्री, करुणा, वैराग, उपशम, उदासीनता आदि कोई भी अच्छा भाव रखेंगे, तो उस वस्तु या घटना पर भी वैसे ही विचार होंगे, उसकी खासियत पर ही दृष्टि जायेगी और अच्छी विचारधारा चलेगी। इसका मजा कुछ और ही है, यह मन को प्रफुल्लित रखता है, हृदय को स्वस्थ व स्वच्छ रखता है। सामनेवाली चीज़ विलक्षण या एकदम बेकार दिखने पर भी दिल में यदि मैत्री आदि भाव होगा, तो वह आपके दिल में शुभ विचार का प्रेरक बनता है।

**बालक क्यों रोया ?**

अस्तु। इस बालक की तरफ तीनों के भाव खींच गये, यह देखकर बालक को

रोना आ गया। उसका रुदन देखकर राजा का दिल भी पिघल जाने से उसकी आँखों में भी आंसू आये, रानियों व मंत्रियों की आँखें भी भर आयीं। राजा अपने उत्तरीय से बालक के आंसू पोछते हुए कहता है- 'बेटे ! तू रो क्यों रहा है ? घबरा मत !' राजा कोमल हाथ से बालक का मुख वस्त्र से पोछता है और सेवक द्वारा लाये गये जल से उसकी आँखें धोता है।

राजा को विचार आता है कि ' यह बालक यहाँ आया, तब तक तो गंभीर था, फिर यकायक रो क्यों पड़ा ?' अतः राजा सभा में सवाल पूछता है-

'हे सुरगुरु आदि मंत्रियों ! कहिये, यह कुमार मेरी गोद में क्यों रोने लगा ?'

एक मंत्री कहता है, 'देव ! इसके माता-पिता के वियोग से यह खिन्न हुआ, इसीलिये शायद रोया होगा।'

दूसरा कहता है - 'महाराज ! आपको देखकर इसे अपने माता-पिता याद आ गये होंगे कि वे कहाँ होंगे ? किस हालत में होंगे ? इस दुःख से ही इसे रोना आया होगा।'

ऐसे सब जवाबों से राजा को संतोष नहीं हुआ। क्योंकि वह तो यही देख रहा है कि वैसे तो यह रोते-रोते ही आया होता, परन्तु आया था एक वीर की अदा से, तो अब यकायक कैसे रो सकता है ? इसलिये सीधा बालक से ही पूछता है

'पुत्र महेन्द्रकुमार ! तू ही बता, रोना क्यों आया ?' अब कुमार का गंभीर जवाब सुनिये। वह कहता है - 'देखिये तो सही, विधि का विचित्र खेल कि ऐसे इन्द्र जैसे पराक्रमी पिता का पुत्र हो हुए भी मुझे आज शत्रुजन की गोद में रहकर शोचनीय दया का शिकार होना पड़ा है। दूसरे का दयापात्र बनना पड़ा है। मुझे स्वयं पर ही गुस्सा चढ़ा है, जिससे मेरा अश्रुप्रवाह में रोक नहीं सकता हूँ।'

**हम शत्रु की गोद में ?**

बालक की गंभीर विचारधारा पर विचार करने जैसा है, सिर्फ कहानी में ही मत अटक जाईये ! श्रवण तो उसका नाम कि जिसमें से सार ग्रहण किया जाय। यहाँ पर सार है कि, हम अनन्त पराक्रमी श्री महावीर प्रभु की संतान और मोक्षपुरी के वास के अधिकारी है, और आज ? दुश्मनभूत संसार व संसारियों की गोद में बैठे है ! दयापात्र बने हैं। ऐसे बने हुए अपनेआप पर हमें शर्म आनी चाहिये, गुस्सा आना चाहिये कि 'मैं कैसा नालायक ? कैसा बेशर्म व निर्बल कि शत्रु की

गोद में रोने के बदले आनन्द से, मजे ले रहा हूँ ।’

**संसार अपना घर नहीं, पराया घर है ;  
संसारी हमारे सगे नहीं, हमारे दुश्मन हैं ।**

यह खयाल सदा जीता-जागता होना चाहिये । कोई किसीको अपने खुद के घर से बाहर निकालेगा ? जबकि यहाँ तो अपना वक्त पूरा होते ही देशनिकाला मिलता है । देशनिकाला तो पराये घर से, दुष्मन के घर में से होता है । दूसरे विश्वयुद्ध के समय आस्ट्रेलिया में घुसे हुए जपानियों को फिर वहाँ से निकाल दिया गया । संसार के जन्मों में से ऐसे निकाले का शिकार बनना पड़ता हो, तो यह अपना घर या पराया? अपना घर तो मोक्ष है कि जहाँ एक बार आराम से बैठने के बाद फिर कभी वहा से निकाला नहीं होता ।

दृढ़वर्मा राजा के वहाँ आया हुआ और उसकी गोद में बैठा हुआ मालवराज का बालपुत्र कहता है - ‘धिक्कार है मुझे कि इन्द्र जैसे पराक्रमी के पुत्र होते हुए भी मुझे दुश्मन की गोद में बैठने का अवसर आया !’

**आप कहाँ बैठे हैं ?**

भगवान की गोद में ? या दुश्मन की गोद में ? इसका विचार भी है ? विचार हो तो सांसारिक घर-दुकान में उमंग होगी ? कि धिक्कार लगेगा ? शर्म महसूस होगी ? कि मुझे मेरे भगवान के घर में रहने के बदले दुश्मन के घर में रहना होगा?

पांच वर्ष के बालक की बात पर राजा दृढ़वर्मा आश्चर्यचकित हो जाता है । वह बोल उठता है कि ओह ! क्या इस बालक का स्वाभिमान ! क्या इसकी गौरवशालिता ! कैसी इसकी व्यवस्थित बोली ! कैसी इसकी कार्य-अकार्य की विचारणा ! ऐसी बाल्यावस्था में भी बुद्धि का कैसा विस्तार व कैसी शब्दरचना ?’

**राजा की कद्र :-**

राजा इसमें बहुत तत्त्व देखता है । बालक को दुश्मन की गोद में बैठना पड़ा, यह अपमानजनक लगता है, कलंक लगता है, उसकी राजा कद्र करता है ।

उसके हृदय में स्वयं एक पराक्रमी पिता का पुत्र होने का गौरव है । चाहे उसे शत्रु की गोद में प्यार मिला, परन्तु इसमें उसे अपना स्वाभिमान छीनता हुआ महसूस हुआ । दुश्मन का प्रेम भी लेने की स्थिति में आना पड़ा, यह उसे अकार्य लगता



है । राजा एक लघु बाल में यह सब देखकर चकित हो उठता है ।

### छोटा-सा भी वज्रकण वजनदार :-

वहाँ मंत्री कहता है, 'देव ! इसमें भला आश्चर्य की क्या बात है ? एक छोटा-सा भी अग्निकण क्या घास के बड़े ढेर को जलाने के लिये समर्थ नहीं ? छोटा-सा भी वज्रकण भारी वजन के स्वभाव वाला होता है न ? बस, इसी तरह महायशस्वी कुल में जन्मे हुए राजपुत्र सत्त्व, बल, मान, गौरव आदि गुणों के साथ बड़े होते हैं, यह तो स्वभाविक है और महाराज ! दूसरी बात यह भी है कि ऐसे जीव सामान्य पुरुष नहीं होते परन्तु देवलोक से च्यवन पाकर बाकी का सुख भोगने के लिये यहाँ जन्म लेते हैं ।'

मंत्री जगत में विशिष्ट वस्तु की अलग खासियत होने की बात कहता है । यदि यह जड़ पदार्थों में भी हो, तो चेतन आत्माओं में भी क्यों नहीं होगी ?

मंत्री के वचन से राजा संतोष पाता है और बालक की महानता देखकर इसे कहता है,-

'पुत्र महेन्द्रकुमार ! तू मुझे अपना शत्रु मत मानना । जब से तू यहाँ आया, तब से तुझे देखकर तो तेरे पिता भी मेरे मित्र बन गये हैं, और तू मेरा पुत्र बना है । इसीलिये अब बिल्कुल घबरा मत । शत्रुत्व की कल्पना छोड़ दे और यह भी तेरा-अपना ही घर मानकर आनन्द से रह । सब कुछ ठीक हो जाय, ऐसा मैं कहूँगा ।' ऐसा कहकर राजा ने बालक के गले में रत्न की कंठी पहना दी और मंत्री से कहा

'देखो ! तुम्हें इसकी ऐसी संभाल रखनी है कि इसे इसका पूर्व का घर याद ही नहीं आये । ऐसा सब कुछ करना कि पुत्रहीन ऐसे मेरा यही पुत्र हो ।'

### शत्रु पुत्र से डर क्यों नहीं ?

गुणज्ञ राजा की वस्तु की कद्र देखो । दुश्मन का बच्चा है, इसलिये दुःख देने-तिरस्कार करने योग्य या बेचारा मानकर उपेक्षा करने लायक नहीं, किन्तु स्वयं को पुत्र नहीं है, तो पुत्र जैसा बनाने योग्य तक मान लेता है ।

प्र. तब डर नहीं लगता कि 'यह तो दुश्मन का पुत्र है । कल उठकर कहीं दुश्मन पक जाय तो ?

उ. नहीं, वह पुत्र के लक्षण पलने में ही देखता है । इस बच्चे के वचन कितने सुव्यवस्थित और समझदारी भरे हैं । इसे प्रेम से अच्छी तरह से पाल-पोसकर बड़ा

किया जाय व ठेठ राजपदवी तक पहुँचाने का उपकार किया जाय तो क्या यह कृतघ्न, नमक हराम व विश्वासघाती निकलेगा ? नहीं, शायद नहीं। अपवाद के रूप में तो अपने पुत्र भी कहाँ द्रोह नहीं करते ? दुश्मन से भी बुरे निकलते हैं न ? ऐसे अपवाद के उदाहरण देखकर डरकर नहीं बैठा जाता। नहीं तो फिर अच्छा व्यवहार या अच्छी प्रवृत्ति ही नहीं चलेगी। दूसरों के साथ के जीवन में हम द्रोह का भोग न बने, इसके लिये अर्थात् अपना विश्वासघात न करे, इसके लिये सावधानी रखनी चाहिये।

राजा ने दुश्मन के पुत्र को अपने पुत्र की तरह संभालने के लिये मंत्री को सूचना दे दी, परन्तु वहाँ अब कुछ अलग ही घटना घटती है। निमित्त मिलने पर मनुष्य की विलक्षण वृत्ति कैसी सजग बनती है, यह यहाँ देखा जा सकता है। निमित्त का आगमन न हो, वहाँ तक सब कुछ सीधा चलता है, परन्तु जैसे ही निमित्त का आगमन हुआ कि अन्तर में उधलपुधल मच जाती है। यहाँ पर मालवदेश के बाल राजपुत्र का आगमन निमित्त बना है। इससे किसकी कैसी वृत्ति उछलती है और कैसी घटती है, यह देखिये।

### रानी को कोप :-

एकबार ऐसा हुआ कि सुमंगला नामक अन्तःपुर की स्थविरा आकर राजा के कान में कुछ कह जाती है। सुनकर राजा एकदम व्याकुल होकर पटरानी के महल की ओर जाता है। ऊपर जाकर देखता है तो महारानी प्रियंगुश्यामा वहाँ है ही नहीं। जाकर सुमंगला से पूछता है -

‘महारानी कहाँ है’

वह कहती है - ‘महाराज ! क्या कहूँ ? वे तो न भोजन करती हैं, न स्नान; बस रोती ही रहती हैं।’

### स्त्रियों को कोप के ५ कारण :-

राजा चौक उठा। अरे ! ऐसा क्या हुआ कि रानी ने खाना-पीना बन्द कर दिया और रोती ही रहती है ? इतना क्रोध आने का क्या कारण है ? हाँ, स्त्रियों को ५ कारणों से क्रोध आता है -

- (१) पति की तरफ से प्रेम भंग हो,
- (२) स्वयं को पति अयोग्य नाम से संबोधित करे।
- (३) सेवकजन अविनय करे।

(४) सौतन झगड़ा खड़ा करे ।

(५) सासु कुछ ऐसी बड़ाई मारे या व्यंग करे ।

परन्तु यहाँ तो इनमें से एक भी कारण ही नहीं दिखता, क्योंकि,-

(१) मेरे मन में तो यह महारानी मेरी राज्यसंपत्ति की ही नहीं, मेरे जीवन की भी स्वामिनी है । मेरे दिल में इसके प्रति अपरंपार स्नेह है, फिर स्नेह का भंग करने का तो सवाल ही कहाँ उठता है ?

(२) नाम के संबोधन में भी कुछ गलत होने की संभावना नहीं, क्योंकि मैं सारे अन्तःपुर को 'प्रिये !' 'देवी !', ऐसे संबोधन से ही बुलाता हूँ ।

(३) परिवार व सेवक वर्ग भी इतना गुणवान है कि कोई उद्वण्डता से इसकी आज्ञा भंग करे वैसा नहीं है ।

(४) सौत के झगड़े का भी यहाँ कोई अवकाश ही नहीं है । क्योंकि सब रानियाँ इसे एक स्वर्ग की देवी जैसी मानती हैं, और देवी के साथ कोई थोड़े ही झगड़ेगा ?

(५) सासु के बड़ाई मारने व व्यंग्य करने की भी कोई संभावना ही नहीं, क्योंकि मेरी माताजी तो कभी स्वर्ग सिधार चुकी है ।

तो फिर महारानी को क्रोध करने का क्या कारण होगा ? राजा सोच में पड़ गया । किन्तु अब वह समय बर्बाद न करके जल्दी से जल्दी खोज करने के लिये लालायित बना है । इसीलिये पूछता है - 'कहाँ है देवी ?'

सुमंगला कहती है - 'कोप भवन में ।'

राजा जल्दी वहाँ पहुँच जाता है । देखिये, स्त्री के कारण कितने तुच्छ हैं । कितनी संकुचित बुद्धि के हैं । पति के प्रेम में थोड़ी-भी कमी देखी कि मन बिगड़ा ही समझो । यह कैसी बात ?

राजा दृढ़वर्मा अपनी पटरानी के क्रोध के बारे में विचार करता है कि स्त्रियों को तुच्छ कारणों से गुस्सा आता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी कोई बात नहीं । तो फिर रुठने का कारण क्या ? खैर, उसे ही पूछ लूँ ।

राजा कोपगृह में जाकर देखता है तो रानी कृश शरीर और म्लान मुखवाली बन गयी है । इसके मन में भारी दुःख है । फिर भी वह राजा के आने पर विनय से खड़ी हो गयी और राजा को बैठने के लिये आसन दिया ।

राजा पूछता है - 'प्रिये ! क्यों बिना कारण इतना दुःख कर रही है ? मेरे ख्याल से तो मेरे हाथों तेरा कोई अपराध नहीं हुआ है । तब क्या किसीने तेरा अपमान किया ? अथवा तेरी कोई इच्छा पूर्ण नहीं हुई ? मेरे होते हुए, तुझे किस बात

की कमी ? बिनकारण रुठने का प्रयोजन ? जिसने तुझे गुस्सा दिलाया है, उसे मैं हजार सोनामुहरों का दान दे दूँ कि ऐसा करके भी उसने तेरे नयन कमल से अधिक शोभा वाले बनाये ? ऐसे अपूर्व नयनों का दर्शन कराके वैसे तो उपकार करनेवाले उसने भी मुझ पर उपकार किया है, ऐसा मैं मानता हूँ ।’

यह सुनकर रानी हस पड़ी और कहती है - ‘देव ! आपकी कृपा से मुझे सब कुछ अच्छा है, परन्तु मंद भाग्यवाली मुझे उस मालवराज के आये हुए पुत्र महेन्द्रकुमार जैसा पुत्र नहीं, इससे मुझे अपने-आप पर उद्विग्नता व तुम पर क्रोध आया है ।’

यह सुनकर राजा सोचता है - ‘अहो ! देखो, अविवेकी नारी जात के असंबद्ध प्रलाप । इसे पुत्र नहीं, इसके लिये मुझ पर क्रोध, गुस्सा । ऐसे झूठे वचनों से ही स्त्री कामी जनों के हृदय का हरण करती है ।

वह रानी को कहता है -

देखो ! इसका क्या उपाय है ? पुत्र होना तो दैव के आधीन है, इसमें पुरुषार्थ को कहाँ अवकाश है?

**अत्यो विज्जा पुरिसत्तणाइं अण्णाइं गुणसहस्साइं ।  
देवायत्ते कज्जे सब्वाइं जणस्स विहडेंति ॥’**

- अर्थात् जो कार्य होना सिर्फ भाग्य के अधीन है, उस कार्य के पीछे चाहे जितने पैसे, विद्या-कला, पुरुषार्थ या दूसरे हजारों गुण खर्च करेंगे, फिर भी यदि भाग्य विपरीत हो, तो ये सब व्यर्थ जाते हैं । भाग्य अलग दिशा में काम करता हो और पैसा उसके सामने वाली दिशा में फल लाने के लिये खर्च किया जाय, तो इससे वह फल नहीं देगा । परिणाम तो भाग्य के अनुसार ही आने वाला है । कितने ही सट्टेबाज भाग्य की गिरती हुई हालत में पैसों के जोर पर मन माना व्यापार करते गये और बर्बाद हो गये । एकाध सौदे में परिणाम स्वरूप भाग्य थोडा भी कमजोर दिखा कि वहाँ अक्लमंदा तो इसीमें थी कि परिस्थिति को भाँप कर व्यापार बंद करके घर बैठ जाता !

परन्तु मूढता-अज्ञानता के अंधापे में मनुष्य भाग्य-चक्र की करामात देख नहीं सकता ! इसीलिये वह पूंजी और बुद्धि के भरोसे दौड़ता है कि, ‘ऐसे कमा लुंगा,’ परन्तु पूंजी और बुद्धि दोनों बर्बाद करता है, और ऐसी पछाड खाता है कि शायद जिंदगी में भी ऊंचा न आये !

### भाग्य के आधार पर क्या ?

पैसे कमाना, परिवार मिलना, आबरू बचाये रखना, दूसरों को भी अपनी बात पर आकर्षित करना आदि सब बातें भाग्य के अधीन हैं। भाग्य यदि यह सब होने के सामने विपरीत हो, तो चाहे जितनी मेहनत करो, कुछ हाथ नहीं आएगा। विद्याओं के बल पर, सेना-शस्त्र आदि के आधार पर रावण बहुत लडा, परन्तु भाग्य विपरीत था, तो लक्ष्मण को मारने के लिये फेंका गया सुदर्शन चक्र, लक्ष्मण को मारने के बदले, उसके आगे सेवक जैसा खडा रह गया और लक्ष्मण ने वह चक्र रावण पर फेंका, तो जो चक्र पहले रावण का था, वही चक्र रावण का गला काटकर लक्ष्मण के पास आकर खडा रह गया !

**बिगडा हुआ भाग्य साधन सामग्री, होशियारी, मेहनत या ढेर सारे गुणों को भी नहीं गिनता ।**

सीताजी अति गुणवती थी। उनका सतीत्व सौ टंच के सोने जैसा था। फिर भी भाग्य फिरा, तो वे सब गुण धरे रह गये, और 'सीता तो रावण के घर रहकर आयी है, इसलिये असती है, ऐसा कलंक उनके सर पर चढ गया। उनके गुणों व योग्यता की कोई शर्म भाग्य ने नहीं रखी।

### गुमान या खेद कैसे रोका जाय ?

इसीलिये मनुष्य को इस बात का विचार करना है कि भाग्याधीन बातों में पैसे, होशियारी आदि का मद किस काम का कि 'मैं ऐसा कर दूँ ?' इसी तरह कुछ उल्टा होने पर भी खेद किस बात का कि 'हाय ! इतने पैसे व इतनी होशियारी होने पर भी मुझे यह सब क्या देखना पड रहा है ?' वहाँ तो एक ही विचार चाहिये कि पैसे आदि का अभिमान बुरा है। भाग्य का चक्र फिरते ही सब कुछ साफ ! इसी प्रकार अदृश्य भाग्य के योग से कुछ उल्टा हो जाय, वहाँ खेद करना भी बेकार है। 'भाग्य की राह स्वतंत्र है, परन्तु मेरे पैसे, होशियारी या गुणों के काबू में कुछ नहीं। चलने दो चले वैसा, हमें तो सिर्फ देखा करना है कि क्या होता है ! सही काम तो नया अच्छा भाग्य कमाने के लिये सुकृतों में लग जाना है।'

### सीताजी की विचारधारा :-

सीताजी ने क्या किया ? पति द्वारा जंगल में छोडे जाने पर भी विलाप नहीं किया कि 'हाय ! मैं महारानी और मेरी यह दशा ? मैं गुणवती हूँ और पति को मेरे सतीत्व पर पूर्ण विश्वास होने पर भी वे ही मुझे इस स्थिति में रखें ?' नहीं, ऐसा कोई खेद नहीं। उन्होंने तो एक ही विचार किया कि 'इसमें मेरे भाग्य का

ही दोष है। इसलिये मुझे किसीको भला-बुरा कहने या हल्के मानने की कोई जरूरत नहीं। मेरे पूर्व के किसी दुष्कृत्य के कारण ऐसा दुर्भाग्य पैदा हुआ होगा। तो अब ऐसे नये दुष्कृत्य न करके अरिहंत परमात्मा की शरण ले लूँ। 'अरिहंता मे सरणं' 'प्रभु! यह जो कुछ भी हो रहा है, उसमें मैं नादान हूँ, अशक्त हूँ, मुझे तो अचिंत्य शक्ति व अचिन्त्य ज्ञान वाले ऐसे आपकी ही शरण है। मुझे तो आपका ही आधार है। मुझे पूर्व की संपत्ति, ओहदा या होशियारी, किसीका आधार नहीं, मुझे तो आप ही का आधार है।' बस, इसी विचार से गर्भवती सीता जंगल में अकेली पडने पर भी स्वस्थ रहीं, खेद-शोक-कल्पांत करके नहीं बैठीं।

यहाँ राजा दृढवर्मा रानी को यही कहता है कि 'पुत्र मिलना मेरी होशियारी या पुरूषार्थ से कुछ होने वाला नहीं। तो फिर बिना कारण गुस्सा क्यों करती हो?'

### पुत्र के लिये रानी द्वारा उपाय का सूचन:-

परन्तु रानी ने तो मन में उपाय सोच रखा था, इसीलिये वह कहती है -

'देव ! मैं कारण के बिना नहीं रुठी हूँ। आप के वचन का उल्लंघन तो देवता भी नहीं कर सकते। वे भी आपके वचन को स्वीकार ही लेते हैं। यदि आप किसी देवता की आराधना करे और मेरे लिये एक पुत्र की प्रार्थना करें, तो मेरे मनोरथ सफल नहीं होंगे ? नाथ ! मुझ अभागिन पर मेहरबानी कीजिये,'- ऐसा कहते हुए रानी राजा के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करती है।

### प्रार्थना कब फलती है ?

वैसे भी राजा को रानी पर अतीव प्रेम तो है ही और उस पर वह राजा के पाँवों में गिरकर आजीजी भरी अरजी करती है तो राजा की क्या मजाल कि उसकी बात न माने ?

हम परमात्मा के पास प्रार्थना तो करते हैं, परन्तु वह फलती क्यों नहीं ? कारण यही है कि एक तो उन पर ऐसा प्रेम और ऐसी श्रद्धा नहीं, और दूसरी बात यह है कि हमें ऐसी अनुनय भरी हार्दिक अरजी करनी आती ही नहीं।

प्रभु पर श्रद्धा यही कि 'मुझे जो कुछ भी अच्छा हुआ है और होगा, वह मेरे प्रभुजी से ही हुआ है और होगा।

## ४. प्रार्थना से इष्टसिद्ध

‘मेरा कोई न जगत में, तुम छोरी हो जिनवर जगदीश ।  
प्रीत करूँ अब कोन शं, तुं त्राता हो मोहे विसवा वीश ।’

जगत में उत्तम पुण्य भी भगवान के द्वारा ही मिलता है, जिसमें से अच्छा अच्छा बनता है, उसी तरह उत्तम आत्महित भी भगवान् के आलंबन से ही उपस्थित होते हैं, तब फिर व्यर्थ ही बेढंगे प्रयत्न क्यों करूँ ? एक मात्र प्रभु के साथ ही न लगा रहूँ ? प्रभु पर एवं प्रभु की अचिंत्य शक्ति, अचिंत्य प्रभाव पर ऐसी आस्था, श्रद्धा, यकीन चाहिए, उन पर ऐसा प्रेम उत्पन्न होना चाहिए !

प्रभु पर प्रेम यह कि ‘नाथ ! इस दुनिया में आप के सिवा मेरा कौन है ? कवि ने कहा है -

तू ही मेरा बीसों बिस्वा रक्षक है। जीवन में आपत्तियाँ आने पर, हे प्रभु ! तेरा स्मरण मुझे आश्वासन देता है । क्रोध या घमंड का प्रसंग आने पर मैं तेरी क्षमालघुता को याद करता हूँ और यह मुझे उन क्रोधादि कषायों से बचाती है । पुण्य की अल्पता के कारण मुझे सुविधा की सामग्री कम मिली - ऐसे समय तेरा ध्यान मुझे दैन्य से बचाता है। अर्थात् हे प्रभु ! तुझे वैभवादि खूब मिला था फिर भी तूने जो उसका त्याग किया और कष्टमय अकिंचन स्थिति अपनायी थी, उसका स्मरण मुझे शक्ति देता है, दीनता, विवशता तथा रूदन से बचा लेता है; तो यहाँ लिया हुआ एकमात्र तेरा सहारा भवान्तर में तो और भी कितनी ही उत्कट उष्मा और समृद्धि स्थिती प्रदान करता है । मेरे ऐसे त्राण-प्राण-शरण भूत प्रभु ! तुझे छोड़ अन्य किस से प्रीति करूँ ? मेरे नाथ ! तूही मेरा वल्लभ, (बालम) तू ही मेरा प्यारा, तू ही मेरे मन - मयूर का मेघ है । मेरे मस्तक का मुकुट, हृदय का हार और मेरी आत्मा के लिए बार बार जाकर आश्रय लेने का स्थल आत्माराम तू ही है ।

### प्रार्थना गद्द हृदय से

प्रभु पर यह श्रद्धा और यह प्रेम हो, और फिर प्रभु के सम्मुख अत्यन्त करुण, अनुनय-विनय पूर्ण प्रार्थना हो तो क्या मजाल कि फले बिना रहे ? अवश्य फले ।

अन्यथा यदि दिल में किसी और के प्रति श्रद्धाएँ पडी हो, प्रेम अन्योँ पर जमा

हो, वहाँ श्रद्धा-प्रेम-विहीन प्रार्थना सच्चे दिल में से कहाँ उठी हो ? वह कहाँ से फले ? उसी तरह प्रार्थना करते हुए दिल गद्गद् न होता हो, हृदय को छुए बिना, हिया काँपे-गिडगिडायें बिना, शुष्क हृदय से प्रार्थना के शब्द निकलते हों तो उसमें भी 'प्रार्थना' अर्थात् प्रकर्ष से अर्थना है ही कहाँ ? सचमुच खूब आग्रह से माँगना-जाचना है कहाँ ? वास्तविक माँगना-जाचना कैसा होता है ? जैसे तीन दिन का भूखा भिखारी आशास्पद दाता से याचना करे वैसा ! जहाँ याचक को लगे कि "मुझे सचमुच यह वस्तु चाहिए, इसके बिना मैं तडप रहा हूँ, दुखी हूँ, नष्ट हो रहा हूँ। मेरा इसके बिना चलेगा ही नहीं। और यह दाता देगा ही, ऐसा है;" ऐसा महसूस हो तो प्रभु के आगे गद्गद् हृदय की प्रार्थना फूरे।

अब देखें, पूछो तो आत्मा से कि तुम हर रोज भगवान के सामने जो स्तुति बोलते हो, स्तवन गाते हो, तथा 'जय वीयराय सूत्र' बोलते हो उसमें जिस जिस वस्तु की माँग की जाती है, सो सो वस्तु क्या तुम्हें सचमुच ही चाहिए ? उनकी प्राप्ति के बिना क्या तुम दुःखी हो ? नष्ट हो रहे हो ? क्या तुम उनके बिना छटपटा रहे हो, अतः माँगते हो ? या यँ ही बोलने के लिए बोल देते हो ?

बस, बात यह है कि उस 'भव निव्वेओ (भव-निर्वेद) मार्गानुसारिता, गुरुजन-पूजा आदि की सच्ची भूख पैदा करो कि 'यह मुझे चाहिए ही, इनके बिना मैं छटपटा रहा हूँ, इन के बिना मुझे चल ही नहीं सकता' दिल में यह भाव जगाओ तो यह प्रार्थना विफल (वन्ध्य) नहीं होगी।

रानी को राजा पर श्रद्धा है, प्रेम है और वह गद्गद् हृदय से प्रार्थना करती है कि 'आप (चाहे) किसी भी देव की आराधना कर के उससे पुत्र की माँग कीजिये।'

रानी की यह प्रार्थना मंजूर होती है। राजा कहता है, 'तुम जैसे कहती हो वैसे मैं अवश्य करूँगा।' राजा के सामने रानी की प्रार्थना स्वीकृत हुई।

### प्रभु से प्रार्थना का बल

एक सामान्य मनुष्य से की हुई प्रार्थना स्वीकृत होती है और तीन लोक के नाथ से प्रार्थना की जाय वह स्वीकृत न हो-ऐसा मानना प्रभु पर अश्रद्धा है, प्रभु को निर्बल मानने जैसा, अकिंचित्कर मानने जैसा है। दृढ श्रद्धा होनी चाहिए कि 'प्रभु से प्रार्थना करने से अचिंत्य सिद्ध होता है। हरिभद्र सूरिजी महाराज कहते हैं - "प्रार्थनात एव इष्टं सिद्धिः"

प्रार्थना से ही इष्ट सिद्धि होती है। मन चाहा मिलता है। प्रार्थना न करे और



अपने पुरुषार्थ के गर्व में दौड़ा करे उसे इष्टसिद्धि नहीं होती । यह समझना चाहिए कि 'हमारी क्या बिसात ? ताकत (शक्ति) देवाधिदेव की है । वे हित का मार्ग दिखाते हैं; वे जानते हैं। हित-अहित अतीन्द्रिय परोक्ष-वस्तु है । सर्वज्ञ उसे जानते हैं। हम नहीं समझ सकते । उन्होने देखा कि 'स्त्री के आसन पर बैठना अहित है, वहाँ हमें इस बात का क्या पता लगे कि 'कैसे अहित होता होगा, उसके पुद्गल कैसा असर करते होंगे ? स्त्री के बैठने के बाद उसके सूक्ष्म पुद्गल वहाँ चिपके तो हमें थोड़े ही दिखाई देते हैं ? उनका गुप्त प्रभाव थोड़ा ही दिखाई देता है ? ऐसे हित-अहित के ज्ञाता तो वे भगवान् ही हैं । उनके आगे हित की प्रार्थना करें तो हमारा अहंत्व दबता है, उनकी शरण मन पर हावी होती है और हमें एक ऐसा फोर्स-बल मिलता है, ताकत मिलती है कि जिससे पुरुषार्थ सफल हो । गणधर भगवान् इस प्रार्थना बल और अरिहंत भगवान् की शरण लेने का प्रभाव समझते होंगे तभी तो उन्होने ऐसे ऐसे सूत्र रखे हैं न ? देखिये

-  

<p style="text-align: center;">‘तित्थयरा मे पसीयंतु’  ‘आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु’  ‘धम्मो वड्डु...धम्मत्तरं वड्डु’</p>
---

आदि क्या है ? प्रभु के प्रभाव से वस्तु सिद्ध होती है इस गिनतीसे ही तो 'होऊ मम तुहप्पभावओ.... भवनिव्वेओ, मग्गाणुसारिआ....' 'मुझे आपके प्रभाव से हो - भव-निर्वेद, मार्गानुसारिता...' आदि कहा न ? वीतराग प्रभु कृतकृत्य है - वे कुछ करने नहीं बैठते; परन्तु उनके अचिंत्य प्रभाव से यह सब बन आता है यह हकीकत है; इसीलिए तो ऐसी गणधर वाणी है कि 'आपके प्रभाव से हो !' वे कोई असत्य या औपचारिक नहीं बोलते, अतिशयोक्ति नहीं करते । सच्चाई ही यह है कि प्रभु के प्रभाव से वस्तु सिद्ध होती है । पूछिये -

प्र० - प्रभु के प्रभाव से सिद्ध होने का सबूत क्या है ?

उ० - दूसरे किसी को नहीं लेकीन प्रभु को नमैं (प्रणाम करें) पूजे, जपें, याद करें, बिनती करें तो महान् वस्तुएँ सिद्ध होती हैं - सो ऐसा होने के ढेरों उदाहरण मिलते हैं । तब और किसी को नहीं परन्तु प्रभु को नमन आदि करने से सिद्ध होती है तो इसमें प्रभु की कोई विशेषता होनी ही चाहिए यह तो सही है न? यह विशेषता - यह प्रभाव क्या है सो कहा नहीं जा सकता । यह हमारी कल्पना में नहीं आता इसीलिए यह प्रभाव अचिंत्य कहलाता है । पर है सही उनका कोई

ऐसा प्रभाव कि जिसके कारण उन्हीं को नमन, बिनती करो तो वस्तु सिद्धि होती है यह तथ्य है। अतः उनके आगे बारबार नमस्कार, शरण और प्रार्थना की जरूरत है।

### पुत्र के हेतु राजा की देव-साधना

पैरों पड कर रानी ने प्रार्थना की तो राजा पहले जिस वस्तु को भाग्य पर छोड़ता था उस वस्तु के देव की सहायता से हो सकने की बात मान लेता है। देवता के प्रभाव से वस्तु क्यों न बने? अनुकूल भाग्य क्यों न जगे? यह उसके मन पर छा गया। अतः अब रानी से कहता है - 'ठीक है, मैं देव को प्रसन्न कर के पुत्र माँगूंगा। अतः तुम खेद या विषाद मत करो, और स्नान, भोजन इत्यादि कामों में लग जाओ।

शत्रुका भला पुत्र आ गया। उसने कैसी वस्तु खड़ी की। जीवन में एकाध निमित्त मनपर हावी हो जाय तो क्या क्या नहीं करता? हमें प्रभु प्राप्त हुए, यह भी यदि मन में घर कर ले, मन को ऐसा लगे कि 'अहो! इस भगवानने स्वयं कई भवों की साधना से देवत्व पाया है तो मैं भी उस रीति से क्यों न पा सकूँ?' तो हमारे जीवन में भी अद्भुत, अभिनव साधनाएँ एवं पुरुषार्थ खिल उठे।

अच्छे निमित्त को मन पर लेना चाहिए। संकल्प करना चाहिए। और बुरे का विचार ही नहीं करना चाहिए।

अब राजा ने भोजनादि निपटाकर मंत्रियों को एकत्र किया और जो हुआ था सो उन्हें बता कर कहा - 'मैं अब किसी देव की उपासना करने जानेवाला हूँ और पुत्रप्राप्ति का वरदान लेकर ही लौटूंगा।'

मंत्रीगण यह सुन कर प्रसन्न होते हैं और कहते हैं - 'महाराज! बहुत सुन्दर विचार है, देव की प्रार्थना का।' निःसंदेह पुत्र का वरदान प्राप्त करना भगीरथ कार्य है, फिर भी ऐसे तो कायर, असमर्थ मनुष्यों को तिनके जैसा तुच्छ कार्य भी बड़े पहाड़ सा लगता है; जब कि शक्ति-पुरुषार्थ-वीर्योत्साह से पूर्ण व्यक्ति के लिए तो महान् पर्वत समान कार्य भी तिनके जैसे आसान बन जाते हैं। अतः आपने जो सोचा है कि 'कुपित हुआ भाग्य भी मेरे कार्य को बदल नहीं सकता? क्या गुस्सा हुआ सियार केसरी सिंह को किसी तरह की रूकावट कर सकता है?' यह सोचा सो उचित ही है, और उसका कारण सोचा सो भी ठीक ही है कि -

जाव य न देंति हिययं पुरिसा, कज्जाइं ताव विहडंति।  
अह दिण्णं चिय हिययं, गुरुं पि कज्जं परिसमत्तं॥

जब तक मनुष्य कार्य को अपना दिल नहीं देता तब तक ही कार्य सिद्ध नहीं होता। नहीं तो दिल दिया कि बड़ा कार्य भी पूर्ण हुआ ही समझिये। अतः आपका विचार सुन्दर है। परन्तु किस देव की साधना में लगना - इस सम्बन्ध में हम अपना नम्र मत प्रस्तुत करते हैं।

राजा एवं मंत्री दोनों यह बात समझते हैं कि कार्य को हृदय दो अर्थात् यह बात मन पर ले लो कि मुझे यह काम करना ही है तो फिर वह कैसे सिद्ध न हो? पूछिये -

प्र० क्या भाग्य मनोभिलषित की प्राप्ति में रूकावट नहीं डालता?

उ० इसमें दो बातें हैं।

(i) एक तो योग्य व्यक्ति ऐसा अयोग्य या असंभव कार्य मन पर लेते ही नहीं। पास में फूटी कौड़ी नहीं और सोचे कि मैं करोड़पति बने बिना न रहूँ तो यह हुआ असंभव कार्य। अथवा सोचे कि 'मैं ऐसे बिखेर कर अमुक स्त्री को वश में किये बिना नहीं रहूँगा' - तो यह है अयोग्य विचार।

योग्य व्यक्ति असंभव सोचता नहीं अथवा संभव भी अयोग्य विचारता ही नहीं।

### योग्य बनने की कुंजी

अगर असंभव या अनुचित विचार करे तो योग्य विचारक काहे का? लियाकत या योग्यता बढ़ाने-विकसित करने की यह एक कुंजी है कि हम अयोग्य या असंभव न सोचें।

### कायर बनाने वाले अज्ञान और भ्रम -

(२) दूसरी बात यह है कि संभव तथा योग्य के विषय में भी यह जो विचार आता है कि 'भाग्य हमें पीछे धकेलेगा तो?' सो विचार कायरता के घर का है और यह कायरता अज्ञान तथा भ्रम के घर की है। (१) अज्ञान यह कि हमें यह पता नहीं है कि 'भाग्य यानी कर्म तो ऐसे कितने ही हैं जिन्हें हम शुभ योग - शुभ उपयोग द्वारा 'कु' में से 'सु' में अर्थात् बुरे में से भले में परिवर्तित कर सकते हैं, अथवा हटा सकते हैं। तो यह हमें मालूम नहीं, इस से उसकी अज्ञानता में ऐसा भ्रम पालते हैं। (२) भ्रम यह कि 'हमें बाधक कर्म हैरान करते हैं, और वे तो

शेष बचे हुए होते ही है अतः आगे चल कर भोगने ही पड़ेंगे । - फिर (३) कायरता यह खड़ी होती है कि 'हाय ! यदि काम प्रारंभ करूँ तो वे कर्म आकर हैरान करेंगे - अतः दूर हट कर पिछडना पड़ेगा और मेरे बारह बज जाएँगे ।'

**मूर्खता कहाँ ? : स्वार्थ में कायरता नहीं -**

खूबी तो यह है कि कोई क्षमा, कोई त्याग, तप, व्रत वगैरह धर्म-सेवन की बात आने पर ही यह कायरता उपस्थित होती है । परन्तु धंधा करने जाते समय या भोजन के लिए जाते समय या विवाहादि सांसारिक सम्बन्धों में शामिल होने जाते हुए इस कायरता को नहीं पालते । नहीं तो वहाँ ऐसा विचार क्यों नहीं आता कि "हाय! धंधा करने जाऊँ और ऐसे बुरे कर्म आ कर हैरान करें और लेने के देने पड जाएँ तो?" 'नौकरी करने जाऊँ और उसमें पापोदय के कारण मालिक, ग्राहक या दूकान के अन्य लोगों के षड्यंत्र में फँस गया तो ?' 'भोजन करूँ और किसी अशुभ कर्म के उदय से अन्दर मक्खी आदि आ जाने से कै (उल्टी) हो जाय तो? अथवा गैस के दबाव से कुछ उलटा हो जाय तो ?' 'शादी करूँ और कर्म ऐसे आ कर संतावें कि पत्नी दुश्मन या दुश्शील निकले तो ?' 'मैत्री जोड़ूँ और मित्र धोखा दे तो ?' सांसारिक (दुनियाबी) स्वार्थ साधते हुए ऐसी ऐसी कोई कायरता पैदा नहीं होती; परन्तु गुनाह बेचारी धर्मसाधना का, सुकृताचरण का और गुणाभ्यास का, उसे करने के बीच अज्ञान-भ्रम-कायरता आ ही जाते हैं । यह कितनी मूर्खता और स्वहितघातकता है कि स्वार्थ में कायरता नहीं और परमार्थ में कायरता!

**सावधानी और पुरुषार्थ से कर्म हट जाते है**

विचारना तो यह चाहिए कि जिस तरह व्यापार - नौकरी करने में सावधानी न रहे तो जो अशुभ कर्म आकर हैरान करते हैं वे इतने जटिल नहीं है कि आकर हैरान करें ही, बल्कि सावधानी बरतने से वे कर्म दूसरे रूप में भोगे जाकर नष्ट हो जाते है; अतः आपत्ति खड़ी नहीं होती । इसी तरह जैसे भोजन सावधानी से किया जाय तो असावधानी में उदयमें आनेवाले अशाता कर्म इस सावधानी के कारण चालू शाता कर्म में शामिल होकर प्रदेश-उदय पाकर कोरे ही भोग लिए जाएँगे । अशाता का अनुभव नहीं होगा । इस तरह किसी धर्म, किसी सुकृत या किसी गुण का अभ्यास करने, स्वीकारने में सावधानी और उचित पुरुषार्थ जाग्रत रखने से ऐसे कितने ही विघ्नभूत कर्म यों ही भोगे जाकर नष्ट हो जाते हैं, और

कहीं पीछेहट नहीं करनी पडती । तप के अभ्यास से क्या धीरे धीरे आगे नहीं बढा जाता? क्या पीछे हटना होता है ? दान, सेवा, परोपकारादि के सुकृतों का अभ्यास करते हुए क्या आपत्तियाँ ही आती है ? क्या क्षमा-दया-गांभीर्यादि गुणों का अभ्यास करते समय हानि ही सामने आती है ?

समझ रखो कि आत्मा में ऐसे तो कितनेही ढेरों बाधक कर्म है जो सावधानी और पुरुषार्थ के कारण अपने मूल रूप में विपाक न दिखा कर प्रदेश रूप में उदय में आकर कोरे के कोरे समाप्त हो जाते हैं । तब उनसे डरना क्या ? डर डर के धर्म से दूर क्या रहना ?

**निकाचित कर्म हैरान करेंगे यह डर व्यर्थ है -**

प्र० परन्तु जो ऐसे नहीं बल्कि अचूक आपत्तिकारक कर्म हैं वे विघ्न करें तब तो हार खानी पड़े न ?

उ० क्या मतलब ? तब तो समझ लो कि धर्म न भी करो, सुकृत न करो, गुण का अभ्यास न करो, तो भी वे जटिल कर्म अपनी भूमिका तो अदा करेंगे ही । उदाहरणतया तप करते हुए किसी निर्धारित निकाचित कर्म के उदय से टी.बी., केंसर जैसी कोई व्याधि आ गयी तो वह तो तप न किया होता तो भी आती ही । दुनिया में देखो तो सही कि क्या तपस्या करनेवालों को ही टी.बी.; केंसर आदि रोग होते है ? या तप न करनेवाले ढेरो आदमियों को भी ये रोग होते है ? अस्पतालें कि और औषधालयों में किनकी भरमार है? खानेवालों की या तपस्या करनेवालों की ? तपस्वी तो उनमें कोई एक मिल जाए तो भाग्यशाली ! एक प्रतिशत भी नहीं मिलेगा। इसलिए व्याधि या अशक्ति अशाता के कर्मों का उदय होने के डर के कारण तपधर्म खोना होगा, जब कि निर्धारित - निकाचित कर्म उदय में तो आएँगे ही । दान करने से शायद धन कम हो जाता, तो दान नहीं करने पर भी वैसे निश्चित अशुभ कर्मों के उदय से कम होगा सो होगा ही । कर्म अगर इतने जटिल पडे हुए है तो आप कहाँ जाएँगे ? धर्म-सुकृत करें चाहे न करें पर ये तो अपना काम करेंगे सो करेंगे ही । मूर्खता इतनी कि व्यर्थ कायरता में उत्तम धर्म-साधना, सुकृताचरण तथा गुणाभ्यास का अवसर खो दिया ।

**अतः कायर की दोनों तरह से मौत है ।**

(9) निकाचित अशुभ के उदय की वेदना तो निश्चित ही है, वरन् धर्म करने का सुन्दर अवसर खोया, अकेले पापारंभ और पापविचारों में ही भटका । साथ

ही (२) अनिश्चित कितने ही कर्म सावधानी एवं पुरुषार्थ से निपटाये जाएँ ऐसे थे वे भी निपटाये नहीं गये, और धर्म करने का अवसर खोया ।

कर्म कर्म क्या करते हो ? 'आगे जाकर पीछे हटना पड़े तो?' ऐसी कायरता क्यों रखते हो ? प्रभु ने सारा मोक्ष मार्ग स्थापित किया, और धर्म, सुकृत तथा गुणों के सेवन के लिए, एवं दोष-दृष्ट-पाप की रूकावट के लिए जो पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया सो इसी गिनती पर कि इससे आत्मा के ऐसे कितने ही अनिकाचित कर्म योंही नष्ट होने जैसे है, सो वे अवश्य कोरे के कोरे खत्म हो ही जाते हैं । नहीं तो अगर सबकुछ सम्पूर्ण ज्यों का त्यों भोगता ही पडता होता तब तो जीव मोक्ष-मार्ग साधना ही न कर सकता या उसमें आगे ही न बढ़ सकता। इसलिए फिर मोक्ष-मार्ग जैसी चीज ही नहीं रहती । फिर मोक्ष भी काहे का हो ? बस, पुराने कर्मों के उदय से नये पाप सेवन करने ही पड़ते हो और इन नयों के उदय से फिर आगे आगे पाप-सेवन निश्चित हो, तो हो चुका संसार अखंड धारा से शाश्वत काल चला ही करे। मोक्ष की बात ही क्या ?

लेकिन नहीं, 'मोक्ष है, मोक्ष के उपाय हैं।' यह सूचित करता है कि इन मोक्षोपायों को साधने में ऐसे अशुभ रूप से उदय में आनेवाले इस तरह के कई अनिकाचित कर्म कोरे के कोरे खत्म हो जाते हैं । और ऐसा होते होते आत्मा का ऊँचे चढना जारी रहता है ।

कर्म तथा धर्म-पुरुषार्थ के इस साइन्स को लक्ष्य में रख कर धर्म साधनेवाले जीवन जीत लेते हैं; और न समझनेवाले तथा कायर बने रह कर धर्म पुरुषार्थ से दूर रहनेवालों का बुरा हाल होता है ।

अतः विघ्न से डर कर कायरता रखना गलत है । हिम्मत रख कर धर्म, सुकृत एवं सद्गुण के अभ्यास में लगे रहना चाहिए । उत्तरोत्तर आगे बढ़ना ही चाहिए।

राजा दृढवर्मा यही विचार करता है, और उसके मंत्री यही कहते हैं कि 'महाराज ! बात आपकी सच है कि जब तक कार्य को दिल नहीं दिया जाता तब तक वह सफल नहीं होता, परन्तु दिल अगर दिया तो कार्य पूर्ण हुआ ही - सफल हुआ ही समझिये । और लौकिक शास्त्र कहते हैं - पुत्र के बिना सद्गति नहीं, तो अब पुत्र के वरदान हेतु किस देव की उपासना शुरू करनी है, इस संबंध में हमारा नम्र विचार यह है कि - 'आपको भला महादेवजी, भवानी वगैरह देवी-देवताओं के पास जा कर साधना करने की क्या जरूरत है ? उसमें प्राण-हानि की आशंका रहती है । आप अपनी राज्यलक्ष्मी की अधिष्ठात्री कुलदेवी की ही साधना कर उनसे ही वरदान माँगिये जो चिरकाल से आप के वंश में अनेकानेक

पराक्रमी पुरुषों को तैयार करती आई हैं और पूर्वजों ने उन्ही की आराधना की है; वह राज्यलक्ष्मी आपके वारिस - उत्तराधिकारी को क्यों नहीं निर्माण करेगी ? अतः उनकी ही आराधना कीजिये ।'

मंत्रियों की बात युक्तिसंगत थी । साथ ही राजा को अपने बुद्धिमान् मंत्रियों पर श्रद्धा भी थी । अतः उसने उनकी बात स्वीकार करते हुए कहा, - 'हे निर्मल बुद्धिधारी मंत्रीगण ! शाबाश ! बहुत अच्छे ! आपने श्रेष्ठ कहा है । पूर्व-पुरुषों ने जो अनिघ्न कार्य किया हो, पुत्र को भी वही करना चाहिए, ऐसा दुनिया का दस्तूर है । साथ ही सच बात यह है कि राज्यलक्ष्मी-देवता के दर्शन भी दुर्लभ है तो वरदान तो कितना अधिक दुर्लभ माना जाए ? अतः मुझे तो लगता है कि उनके दर्शन मात्र से सब अच्छा हो जाएगा । बस, सभा बरखास्त हुई ।

इस में से तीन महान् वस्तुएँ सीखने को मिलती हैं कि -

(१) जिस किसी देवी-देवता की आराधना में लग जाने की अपेक्षा एक निश्चित फलदायक देव को ही पकड़े रख कर उनमें ही श्रद्धा रख कर, उनकी ही आराधना में मग्न रहना चाहिए ।

(२) पूर्व-पुरुष जिनकी आराधना करते करते समृद्धि पाते आये हो उन्ही में श्रद्धा रखना ।

(३) जिन देवता ने अतीत में दीर्घ काल से महान् फल दिखाना जारी रखा हो, हमें भी फलप्राप्ति के लिए उन्हें ही पकड़ रखना चाहिए ।

## ५. अरिहंत ही उपास्य क्यों ?

अब इस पर से एकमात्र अरिहंत परमात्मा की ही श्रद्धा रखकर उन्ही की साधना में लगे रहना फलित होता है । इसका कारण यह है कि यह बात सिद्ध है कि

(१) वीतराग जिनेश्वर भगवान् की बराबरी रागादि युक्त कोई देव नहीं कर सकता, तब भला ऐसे सर्व दोष मुक्त तथा अनन्तगुण-संपन्न परमात्मा मिलने के बाद अन्य किसी में मुँह डालने की ज़रूर ही क्या ?

(२) दूसरे यह कि किसी भी मुमुक्षु - मोक्षार्थी जीव को रागादि दूषणों को दूर किये बिना चल नहीं सकता । वीतराग बने बिना मोक्ष नहीं ही होता तो फिर

वीतराग बनने के लिए हमारे सामने कैसा आदर्श होना चाहिए ? सराग या वीतराग ?

जीवन में सत्यवादिता विकसित करने के लिए आदर्श के तौर पर उत्तम सत्यवादी ही दृष्टि-समक्ष रहना चाहिए न ? ब्रह्मचारी बनने के इच्छुक अपनी नजर के सामने क्या सर्वथा स्त्री संगरहित संपूर्ण ब्रह्मचारी को रखें तो ही ध्येय की दिशा में आगे बढ़ेगा ? या अब्रह्मचारी स्त्री संगी को रखे तो? बस, इसी तरह अनादि अनंत काल से जब हम रागद्वेषादि के योग से मर रहे हैं तो अब उसका संग छोड़ना - वीतराग को भजने से संभव होगा या रागवाले को भजने से ?

सांसारिक (दुनियाबी) चीज के लिए भी सरागी देवको नहीं माना जाय:-

प्र० लेकिन जब तक मोक्ष न हो जाय तब तक तो सांसारिक वस्तुओंकी जरूरत के लिए सराग देव को भजना पड़े न ?

उ० इसके लिए तीसरे मुद्दे को समझों -

(३) इस लोक और परलोक में जीव का जो उत्कृष्ट भला अरिहंत प्रभु के प्रभाव से होता है वह अन्य किसी के प्रभाव से नहीं होता ।

इस की वजह यह है कि कई जीव जीवनभर के पापी होते हुए भी अन्त समय में अरिहंत देव के ध्यान में मन पिरोने से उच्च सद्गति को प्राप्त हुए हैं।

शूली की सजा पाये हुए चोर को श्रावक ने अरिहंत नमस्कार दिया तो वह मर के देव बना ।

चंडपिंगल चोर भी इसी तरह मरते समय अरिहंत नमस्कार पाने से राजपुत्र बना ।

चील बाण से बिंध कर मर रही थी, उसे नवकार मिला तो सुदर्शना राजकुमारी बनी।

कमठ तापस के लकड़े का अधजला साँप पार्श्वनाथ प्रभु का मुख देख कर और अर्हन्नमस्कार प्राप्त कर मरने पर नागकुमार देव लोक का इन्द्र - धरणेन्द्र बना ।

महापुण्य के दाता भगवान् क्या अल्प पुण्य नहीं देंगे ?

तब यह सोचना चाहिए कि जिन वीतराग अरिहंत परमात्मा का इतना सारा प्रभाव है कि उन के ध्यान - नमस्कार से उच्च सद्गति के महापुण्य पैदा होते हैं तो क्या उन प्रभु का इससे कम पुण्य उत्पन्न करने का प्रभाव नहीं होगा ? जिस में करोड़ों रुपये देने का सामर्थ्य है, क्या उसमें हजार-दो हजार देने का सामर्थ्य नहीं होगा ?



इस जीवन की अनुकूलता के तौर पर जो सुविधा सामग्री और आपत्ति-निवारण आवश्यक है, सो छोटी वस्तु है; और भवांतर में सद्गति की परंपरा प्राप्त हो यह बड़ी वस्तु है। बड़े कल्प वृक्ष और चिंतामणि रत्न या समृद्ध सम्राट् इस लोक की विपुल सुख-सुविधाएँ दे सकते हैं, किन्तु परलोक में सद्गति नहीं। लेकिन इहलोक या परलोक का यह जो मिलता है सो पुण्य के बीच में आने के कारण। छोटी वस्तु का पुण्य छोटा, बड़ी का बड़ा। अतः यदि बड़ा पुण्य अरिहंत प्रभु के प्रभाव से मिल सकता है तो क्या छोटा पुण्य नहीं मिले ? इसी तरह यहाँ की आपत्तियाँ छोटी वस्तु और पर लोक में दुर्गति बड़ी वस्तु है। छोटी आपत्तियों का पाप छोटा, और बड़ी का पाप बड़ा। छोटी को दूर करनेवाला फिर भी कोई मिल जाय, परन्तु बड़ी आपत्ति रूप अधम भव को रोकने वाला कौन मिले ? अतः यदि अरिहंत परमात्मा के प्रभाव से बड़ी आपत्ति का निवारण एवं पापक्षय हो सकता है तो क्या छोटी आपत्ति का निवारण और उसका पापक्षय नहीं हो सकता ? तो पूछेंगे -

यहाँ (इस लोक में) अरिहंत की उपासना क्यों फल नहीं देती ?

प्र० तो हम यहाँ अरिहंत की उपासना तो करते हैं, फिर भी यहाँ की आपत्तियाँ दूर क्यों नहीं होती, सुविधा क्यों नहीं मिलती ?

उ० तो क्या ऐसा कह सकते हो कि अरिहंत देव से दूर नहीं हो सकती परन्तु अन्य रागी-द्वेषी देव से दूर होती है ? यदि ऐसा होता तो, तो इस दुनिया में ऐसे देव-देवियों को भजने वाले करोड़ों लोग हैं, वे सभी दुःख मुक्त हो गये होते। पर क्यों नहीं होते ? कदाचित्त किसी में ऐसा होता दिखाई दे कि अमुक देव की मन्त मानी और उसके बाद आपत्ति दूर हुई। वहाँ भी सच बात यह है कि पुण्योदय के प्रभाव से पापों के दब जाने से दूर हुई होती है और उसमें देव को मात्र यश दे दिया जाता है। (उसका श्रेय देव को मिल जाता है)

### अनिकाचित कर्म पर भारी असर

फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि अरिहंत देव का भी प्रभाव यहाँ के संकट दूर करने का नहीं है। निकाचित पापकर्म के उदय से आपत्ति आयी हो तो उसे हटाने की ताकत किसी में नहीं। महात्मागण अरिहंत-देव के परम उपासक थे, तो भी उनमें से कुछ को प्राणान्तक विपदा भोगनी पड़ी। निकाचित कर्म के दुःख तो सहने ही पड़ते हैं। फिर भी जिनभक्ति से अनिकाचित कर्मों के दुःख दूर हो सकते हैं और उसमें अरिहंत प्रभु का प्रभाव जबरदस्त काम करता है।

महावीर प्रभु के महान् भक्त राजा श्रेणिक की निकाचित कर्म के योग से नरक-गमन की आपत्ति दूर न हो सकी, परन्तु नरक की ओर दौड़ लगाते हुए नास्तिक राजा प्रदेशीकी अरिहंत प्रभु भजने को मिले तो प्रभु के प्रभाव से नरक के कर्म टूटे! और नरक-गमन तो नहीं हुआ। बल्कि उलटे देवगति में जाना हुआ। अरिहंत देव के अचिन्त्य प्रभाव का कथन महर्षिगण करते आये हैं, और भव्यात्मा उसका अनुभव करते आये हैं।

### अरिहंत के प्रभाव पर श्रद्धा (भरोसा) है ?

प्र० परन्तु उन अरिहंत के प्रभाव से तो परभव की आपत्ति मिटती है न? अरिहंत के प्रभाव से यहाँ की आपत्ति मिटती है क्या ?

उ० अरे, यहाँ की भी मिटे, परन्तु अरिहंत के प्रभाव में श्रद्धा चाहिए न? बताओ, तुम्हें खुद अरिहंत देव पर तो फिर भी श्रद्धा होगी लेकिन क्या उनके प्रभाव पर, उनकी अचिन्त्य शक्ति पर श्रद्धा है सही? अरे, अरिहंत पर भी क्या (कौनसी) श्रद्धा है सो भी विचारणीय है ?

प्र० क्यों भला ? उन्हें भजने से और उनके द्वारा उपदेश दिये गये (दिखाये गये) मोक्ष-मार्ग की आराधना करने से मोक्ष मिलता है, सद्गति मिलती है, यह श्रद्धा है ही न ?

उ० इसमें श्रद्धा क्या रही है सो जाँचिये। अब भी अपने भजने के तथा मार्गाराधन के पुरुषार्थ के सामर्थ्य पर श्रद्धा है कि यह सद्गति तथा मोक्ष अवश्य देता है, परन्तु इसमें अरिहंत का सामर्थ्य कुछ काम करता है ऐसा मन में पक्का विश्वास है सही! 'मेरे पुरुषार्थ ने भला किया या करता है' ऐसा लगता होगा, परन्तु सचमुच तो अरिहंत देव ही भला कर रहे हैं ऐसा लगता है सही? ध्यान का स्मरण का पुरुषार्थ तो है सो ही है परन्तु स्वयं अरिहंत देव में ऐसा कोई जादू है, चमत्कार है, प्रभाव है कि उन्हें ध्यान - स्मरण में लाएँ तो अद्भूत कल्याण होता है, अतः कहिये कि फल मिलने में उनका प्रभाव मुख्य काम करता है। अरिहंत में ऐसा अद्भूत प्रभाव है, और वह प्रभाव क्या है उसे हम नहीं जान सकते, अतः उनका प्रभाव अचिन्त्य है - यह श्रद्धा है सही?

अरिहंत वीतराग हैं, सर्व श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न हैं, सच्चा मोक्षमार्ग सिखा गये हैं अतः उन पर प्रीति - आदर हो यह अलग बात है, पर उन के प्रति यह श्रद्धा कि 'ये ही तारणहार, ये ही मोक्षदाता, स्वर्गदाता तथा सर्वसुखदाता है' यह अलग बात है। श्रद्धा में तो प्रीति के उपरान्त उनके प्रभाव, उनकी अचिन्त्य शक्ति पर

अचल-अटल विश्वास चाहिए । अगर यह हो तो मन को कैसे ऐसा न लगे कि 'आपत्ति उनके प्रभाव से ही दूर होगी, अतः उनका ही ध्यान-उपासना करूँ। अर्थात् दूसरी तीसरी चिंता और उधेड़बुन में पड़ने के बदले उन्हीं को ध्यान में - स्मरण में स्थापित करूँ, उन्हीं की उपासना करूँ ।

यह श्रद्धा किन के ऊपर हुई ? ध्यान और उपासना पर ? या कि अरिहंत प्रभु पर ?

**ध्यान - उपासना में फोर्स - जोश कैसे आए ?**

राह न भूलना अन्यथा ध्यान-उपासना में फोर्स - जोर नहीं आएगा । सच्चे उपकारी के प्रति उनकी शक्ति और उनका उपकार स्वीकार करने की कृतज्ञता नहीं हो तो बुनियादी गुण - कृतज्ञताका अभाव होने से उपर्युक्त साधना में बल कहाँ से आएगा ? ध्यान - स्मरण - उपासना में यह भाव होना चाहिए कि 'प्रभु ! तू ही तारणहार है, तेरे प्रभाव से अनंते पार हुए हैं, अनंते सुखी हुए हैं, तो मुझे भी तेरा ही आधार है । तू ही मेरे लिए शरण है, त्राण है, प्राण है, तू ही सुख कर्ता, हितकारी और दुःख निवारक अहितनिवारक है ।' केवल उनके मार्ग पर ही नहीं बल्कि उनके खुद के प्रति भी यह श्रद्धा होनी चाहिए तो ही उनके उपकार को जाना है ऐसा माना जाय, मन में कृतज्ञ-भाव लाया माना जाय । उसे लाने से ध्यान - स्मरण - आराधना में फोर्स आता है, वेग, बल, जोश आता है, और उससे इस लोक - पर लोक की महान आपत्ति भी दूर होकर महासम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ।

प्र० परलोक का तो बन जाय परन्तु इस लोक का क्यों कर बने ?

उ० क्यों न बने ? जिनमें परलोक की महान् आपत्ति निवारने और महासंपत्ति संपादन करने का प्रभाव है, क्या उनमें इस जीवन की मामूली (साधारण) आपत्ति दूर कर मामूली संपत्ति खड़ी करने का प्रभाव नहीं होगा ? न होने का मानना अश्रद्धा है और यह अश्रद्धा पर लोक के सम्बन्ध में भी विघ्न बनेगी । वहाँ भी ऐसी जोरदार श्रद्धा नहीं होने देगी कि 'प्रभु ! तेरे ही प्रभाव से भवांतर में सद्गति और सुविधाएँ मिलेगी ।' यहाँ के लिए भी यह श्रद्धा पहले आवश्यक है कि - 'मेरे अरिहंत देव तो जब परलोकोपयोगी महापापक्षय तथा महापुण्योपार्जन करानेवाला प्रभाव रखते हैं, तब सामान्य पापक्षय तथा सामान्य पुण्योपार्जन करानेवाला प्रभाव तो अवश्यमेव रखते हैं ।'

**अरिहंत के प्रभाव से यहाँ (इह लोक में) आपत्ति दूर होने के उदाहरण:-**

श्रीमती पर नाराज पति ने अंधेरे में घड़े में साँप रखा छोड़ा था। वह उससे कहता है - 'उस घड़े में से फूलों की माला लाना।' श्रीमती अपनी श्रद्धानुसार अरिहंत देव का स्मरण कर घड़े में हाथ डालती है और सचमुच साँप के बदले फूलों की माला ही उसके हाथ में आती है।

निर्धन दरिद्र बना हुआ शिवकुमार धन के लोभ से जोगी के जाल में फँसा। उसे सुवर्णपुरुष साधना है, अतः इस शिवकुमार की बलि ले कर सुवर्णपुरुष बनाने के लिए इसे उत्तरसाधक बनाया। अब जोगी के जाप करते करते अग्निकुंड के पास तलवार के साथ रखा हुआ शिव शिवकुमार पर वार करने के लिए उठ के बैठने लगता दिखाई देता है। तब शिवकुमार भड़का। उसने तो तुरन्त अपने पिताकी सलाह के अनुसार नवकार मंत्र पंचपरमेष्ठि नमस्कार - अरिहंत का स्मरण खूब श्रद्धा के साथ करना प्रारंभ किया। बस, शिव उठते उठते नीचे गिर गया।

जोगी चौंककर पूछता है- 'क्यों रे ! तू कोई मंत्र पढ़ रहा है ?

यह क्यों दूसरा कुछ कहे ? कहता है - 'भाई साहब! मैं कहाँ से मंत्र जानू ?

जोगीने पुनः जाप शुरू किया। फिर शिव उठने लगता है, लेकिन शिवकुमार के नवकार-अरिहंत पर श्रद्धा युक्त ध्यान के कारण शिव फिर गिर पड़ा। अतः फिर जोगी उसे जोर से धमकाता है परन्तु उसकी दीन दिखावट और दीनवाणी जोगी को शान्त कर के तीसरी बार जाप में चढ़ा देती है। बस, अब की बार तो ज्यों ही शिव उठने लगा त्यों ही शिवकुमार अधिक अटल अरिहंत श्रद्धा से स्मरण करने लगा, (अटल श्रद्धा से अरिहंत-स्मरण करने लगा) जिससे शिव ने उठ कर शिवकुमार के बदले जोगी को उठा कर आग में पटक दिया, जोगी का संहार कर डाला और जोगी का शिव अग्नि में पड़ने से सुवर्ण-पुरुष हो गया।

सुवर्ण-पुरुष से तात्पर्य सुवर्ण मूर्ति। हररोज उसमें से सुवर्णमय अंग काट लो और दूसरे दिन अखंड सुवर्ण-मूर्ति तैयार। दरिद्रनारायण शिवकुमार को यह देख कर हर्ष का पार तो क्या वरन् अरिहंत प्रभु पर श्रद्धा का भी पार न रहा। आँखे डबडबा आयी, उसके मन को हुआ कि

**शिवकुमार का पश्चात्ताप :-**

'अरे रे ! मैं कितना बड़ा बेवकूफ हूँ कि लोफरों - बदमाशों की संगत में पड़ कर व्यसनी बन गया, धर्म भूल बैठा। मेरे पिताजी मुझे बहुत समझाते कि 'यह

कुसंग छोड़ दे, व्यसनों को छोड़ दे, धर्म कर' । पर मैं मानता नहीं था। तो मैं मूर्ख अपने पिता की मृत्यु के बाद कुसंगत और व्यसनों में पिता की सारी पूँजी बरबाद कर बैठा, दरिद्र, निर्धन हो गया। तब मेरे वे संगी-साथी - कुमित्र मुझे कहाँ आश्रय देने आये ? कौन से व्यसन ने मुझे बचाया ? और यहाँ ऐसे प्राणलेवा संकट में कौन मेरी रक्षा करने आया ? मैं तो मर गया होता इस जोगी के माया जाल में ! जिंदा कट कर जल गया होता । भला हो मेरे उन कल्याण पिता का कि उन्होंने मुझे आखिर में संकट के समय नमस्कार-मंत्र गिनने और अरिहंत परमात्मा में श्रद्धा रखने की शिक्षा दी ! तभी तो उस के सहारे मैं इस जानलेवा कष्ट में से उबर सका। और दरिद्रता हटी हटी तो ऐसी हटी कि बैठे - बैठे हर रोज सुवर्ण-अंग देनेवाला सुवर्ण-पुरुष प्राप्त हुआ । वाह मेरे पिता! वाह मेरे अरिहंत ! धन्य है ! नाथ ! आपका कितना उपकार मानूँ ? प्रभु ! तू ही मेरी सच्ची शरण है, सच्चा तारणहार है, सच्चा सुखदाता है !'

अरिहंत देवपर ऐसी अचल-अनन्य श्रद्धा और उनके अचिंत्य, अमाप प्रभाव पर अमोघ श्रद्धा क्या काम नहीं करती ? इस जीवन में भी कल्पनातीत, चमत्कारी आपत्ति-निवारण और सम्पत्ति सम्पादन कैसे न सिद्ध करा दे ? तब पूछिये न :-

प्र० पर इसमें तो अपना पापोदय हटने वाला हो और पुण्योदय जगनेवाला हो तो ऐसा बन आवे, उसमें अरिहंत का क्या प्रभाव ?

उ० अरिहंत का प्रभाव यही कि उनका अतिशय श्रद्धापूर्वक आलंबन लो तो वह अनिकाचित पाप कर्मों को तोड़ डाले और सुस्त पड़े हुए पुण्य को जगा कर उसे उदय में ले आवे । तब निकाचित कर्म चाहें न भी टूटे परन्तु नये पाप कराने की उनकी अनुबन्ध शक्ति तो नष्ट हो ही जाती है । तत्पश्चात् वे उदय में आकर अशुभ या शुभ फल दिखा जाएँगे, इतना ही, लेकिन कोई नये पाप करने की दुर्बुद्धि नहीं जगाते, नये सिरे से पापकर्मों का बन्ध नहीं कराते ।

सारांश, इस लोक एवं पर लोक की आपत्तियाँ मिटाने की तथा संपत्तियाँ खड़ी करने की अमोघ एवं अनन्य शक्ति अरिहंत प्रभु में है, इसलिए इस तत्व पर अनन्य श्रद्धा चाहिए। मन रात-दिन रटता रहे -

‘मेरा भला हो और बुरा हटे सो मेरे अरिहंत के द्वारा ही ।  
बस, मेरे तो मन एक अरिहंत ।  
प्रभु! मुझे तुम से काम औरों से नहीं’

यह अचल श्रद्धा हिये में उछला करे तो आपत्ति की क्या मजाल कि वह ठहर सके ? सम्पत्ति कैसे खिंच कर न आए।

उन मंत्रियों ने राजा दृढवर्मा को यह परामर्श दिया कि “अन्य देवी-देवता की आराधना की क्या आवश्यकता है ? जिस राज्यलक्ष्मी ने आपके पूर्वजों का सर्जन - पालन पोषण किया है वे क्या आप के वारिस (उत्तराधिकारी) का सर्जन नहीं कर देंगी ? बस, उन्हीं की आराधना कीजिये !”

राजा ने यह सलाह तुरन्त स्वीकार कर ली । अब देखें वह कैसी पद्धति से आराधना करने जाता है और किस सीमा तक आराधना करता है ?

## ६. आराधना - विधि

अब राजा को कुलदेवी राज्यश्री की आराधना करने बैठना है, अतः उसने पूर्व-विधि में यक्ष, राक्षसादि को बलिदान दिये । पश्चात् याचक - दीन - अनाथ दुःखियों को भरपूर दान देकर उनके मनोरथ पूर्ण किये । अपने नौकर चाकर आदि परिवार को सन्तोषकारक उपहार दिये । फिर स्नान कर के शुद्ध श्वेत वस्त्र परिधान कर पुष्पमालादि पूजापे का सारा सामान लेकर पूर्व दिशामें शकुन देख कर देवगृह में प्रवेश किया। प्रवेश करके देव-देवी को पुष्प - अर्पण करता है और देवी के आगे रत्न के फर्श वाली भूमि पर फूल बिछाता है - एक गालीचा - सा बनाता है ।

आप भी प्रभु की पुष्प-पूजा, वर्क पूजा करते हैं न ? लेकिन क्या प्रभु के आगे इस तरह भूमि को भी सजाते हो सही ? नहीं, उसमें तो आपको लगता है कि ‘प्रभु के अंग पर फूल चढ़े सो तो पूजा हुई कहलाती है पर, जमीन पर रखे सो तो व्यर्थ गये ! कैसी अज्ञान-दशा !

‘पूजा’ माने क्या ? यह समझते हैं आप ? प्रभु के चिपका देना यही पूजा ? अच्छा मेहमान, यह समझिये कि साल में हजारों रुपयों का फायदा कराने वाला सेठ आप के घर आया हो तो उस की भक्ति (स्वागत) में क्या क्या करेंगे ? केवल उसके पेट में डाला जाय उतना ही करेंगे? उसे परोसा और उसने उसमें से थोड़ा ही खाया, बाकी छोड़ दिया तो छूटा हुआ बेकार गया इस तरह अपना दिल जलाएँगे ? या सेठ के इन प्रशंसा के शब्दों पर नाच उठेंगे कि “वाह!

आपने तो बहुत सारी सरस, स्वादिष्ट बानगियाँ बनायी, क्यों इतनी सारी तकलीफ की !' कहेंगे सही कि 'नहीं सेठ जी, नहीं, इसमें बहुत क्या किया ? आप हमारा जो करते हैं उसका तो लाखवाँ भाग भी हमने नहीं किया !'

'परन्तु थाली में सब बच रहा सो तो व्यर्थ गया न ?'

'नहीं सेठजी, बात यह है कि आप को भक्ति पूर्वक परोसा इस से ही हमारे मन की भावनाएँ पूर्ण हो गयी, अतः वह लेखे लगा - काम आ गया ऐसा ही माना जाएगा। कम करें, कम परोसें तो उसमें तो हमारे हृदय के भाव कृपण रहेंगे। (हमारे हृदय की कृपणता होगी), कृतज्ञता भूल जाएगी, आपके प्रीति भक्ति का स्रोत नहीं उछलेगा। यहाँ तो भरपूर तैयारी और भरपूर परोसन - परिवेषण करे तभी हमारा मन अघाता है, हृदय में हित (प्रेम) उभरता है, हिया भावोल्लास से भरता है।

ऐसा कुछ कहेंगे न ? रसोई में बहुत अधिक वस्तु तैयार करें उसमें अपने भाव पूरे करने का हेतु बताएँगे ? या सेठ का पेट संपूर्णतः भरने का ? क्या ऐसा कह सकेंगे - 'सेठजी, हम तो समझते थे कि आप बहुत खाएँगे, इसलिए इतना सारा बनाया और परोसा !' नहीं कहेंगे - क्यों ? इस में अविवेक है, जंगलीपन है। बस, तो फिर देवाधिदेव के लिए ऐसा विचार क्यों आता है कि उस सेठ ने जितना खाया उतना काम का, उसी प्रकार प्रभु के अंगपर चढ़ा उतना ही काम का, बाकी जमीन पर बिछाया जाय सो निकम्मा-बेकार ?

सेठ के लिए और भी कितनी विविध सजावटे करेंगे ? घर कैसा सजाएँगे ? दो चार अच्छे रिश्तेदारों को सेठ के स्वागतार्थ कैसे बुला रखते हैं ? यह सारा एक सेठ की भक्ति के लिए, तब क्या प्रभु भक्ति के लिए ऐसा कुछ नहीं करना ? अगल बगल कोई साज सज्जा नहीं ? पूजा में किसी को साथ नहीं ले जाना ?

राजा की पूजा के पूर्व की विधि भी भूलने योग्य नहीं।

राजा दृढवर्मा को देवी की आराधना का एक महत्कार्य करना था तो उसे प्रारंभ करने के पहले दान-उपहारादि दिये ! यह सब किसलिए करना भाई ? कारण यह है कि -

कोई भी महत्कार्य पार उतारना हो तो उसकी साधना सुन्दर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अनुकूलता के बीच होनी चाहिए।

'द्रव्य' अर्थात् साधना में उपयोगी वस्तुएँ, वे यथा-संभव उच्चकोटि की होनी चाहिए, जैसे पूजा की साधना में सुन्दर पुष्प आदि सामग्री; तप की साधना में

अपनी सुशिक्षित और कसी हुई आत्मा, शील-धर्म की साधना में महाशीलवान् महापुरुषों के चित्र, उपयुक्त वेश-परिधान, तदुपरान्त इन सब में उत्तम प्रेरक पठन, श्रेष्ठ संसर्ग - सत्संग वगैरह 'द्रव्य' कहलाता है ।

'क्षेत्र, से तात्पर्य साधना के आसपास की जगह; वह अनुकूल होनी चाहिए, अर्थात् ऐसी जो पवित्र प्रेरणा दे, और जिसमें जीवोंकी शांतिवाला वातावरण हो, जिस से कोमल शांत वातावरण में उसके अणु मन को प्रफुल्लित करें। जीवों के त्रासपूर्ण आर्तनाद जारी हों तो क्षेत्र का वातावरण क्षुब्ध रहता है; दुःख की हाय, निश्वास एवं शोक आदि से ग्लानिपूर्ण रहता है, ऐसे क्षेत्र में विवेकी व्यक्ति में उत्तम उल्लास, उत्साह, उमंग कैसे जगे, कैसे टिके और बढ़े ? अतः क्षेत्र भी ऐसे वातावरण से मुक्त चाहिए ।

'काल' भी अनुकूल होना चाहिए । अर्थात् शुभ शकुन-शब्द - मुहूर्तयुक्त एवं प्रसंग को उद्दिष्ट करे ऐसा होना चाहिए ।

'भाव' से मतलब है अपने चित्त के भाव सुस्ती (आलस्य) नहीं पर उत्साह से भरे हुए, सन्तप्त नहीं पर सौम्य और निराशापूर्ण नहीं बल्कि आशाभरे होने चाहिए । ऐसा क्यों ?

कहते हैं न कि 'रोता हुआ जावे सो मरे की खबर लावे ।'

### कार्य क्यों बिगड़ता है ?

सामान्यतया मनुष्य को वस्तु का काला पहलू देखने और रोना रोने की तथा बिगड़े हुए खोये-हुए अंशो की ओर ही ध्यान देने की आदत होती है। ऐसी हालत में यथा संभव अच्छा करने का उल्लास ही कहाँ से उठे ? हाँ, अगर वस्तु का उजला पहलू देखे, खोये हुए की अपेक्षा हाथ में कितना बचा है और उस का क्या सदुपयोग हो सकता है सो देखे, अब कितना अच्छा उत्पन्न किया जा सकता है उस ओर नजर रखे तो उत्साह-उल्लास-उमंग उठे, टिके और योग्य पुरुषार्थ चालू रहे । तब पूछिये,

प्र० सब तरह बरबाद हो गया हो वह उत्साह किस प्रकार रख सकता है ?

उ० इस प्रकार रख सकता है - पहले तो यह देखना कि कहीं कुछ बचा है या नहीं ? यह भी देखना आना चाहिए ।

### हमारे पास क्या है ? एक दृष्टांत :-

एक आदमी की अवनति होती गई । फिर तो निराशा निःश्वास में सब ऐसी



उलटी योजना करता गया कि ऊपर से जो था सो भी खो दिया। अब बिल्कुल दरिद्र निराश, हताश कर्जदार होने के बाद एक संत के पास गया और बड़े दुःख के साथ अपना रोना रोने बैठा - गिडगिडाकर कहने लगा, “महाराज कोई मंत्र जंतर बताइये जिससे (मेरी उन्नति हो) मैं उपर उठूँ।”

साधु संत के पास कब जाना ? और किस तरह जाना ?

सब सुष्ठु चलता हो तब नहीं, यही न ? क्योंकि इसमें मानो कि कुछ सुकृत-शक्तियाँ उपस्थित हैं और संत कोई सुकृत करने का संकेत करेंगे तो ? यह डर है। जिसे सुकृत का डर हो उसे भला दृष्टकृत का डर रहता है ? आप कहेंगे - डर सुकृत का नहीं बल्कि पैसे खर्च हो जाने का है, या शरीर आदि से यथेच्छ मौज करने से वंचित होने का डर है; तो इस से डर डर कर साधु संत के पास नहीं गये, कोई सत्कार्य नहीं किये तो क्या इससे कंचन - काया और मौज-मजा शाश्वत बने रहेंगे ? या पुण्य द्वारा दिये गये पुरस्कार एक दिन खत्म हो जाने पर पुण्य से बैर करके उसे (पुण्य को) पुष्ट न करने के भयंकर अपराध की सजा का शिकार होना पड़ेगा !

संत के पास कब जाना ? बरबाद होने के बाद ? जो नष्ट होने के बाद जाता है वह भी किसलिए जाता है ? वही पहले के सांसारिक विलास के मजे फिर मिले इसलिए न ? तो इस तरह वह उस संत के पास अच्छा क्या लाएगा ? संत तो आत्मा का कुछ सुधरे ऐसा करने और कहने के लिए बैठे हैं, जब कि इसे तो जड माया का भला हो यह चाहिए, तब किस तरह मेल खाएगा ?

अतः सचमुच तो अच्छी स्थिति में तो पहले संत के पास जाना चाहिए, और संत के पास जाना सो भी इसलिए कि अपनी आत्मा का कुछ हित हो, न कि जड माया की उन्नति के लिए बोलबाला के लिए; इस उन्नति - बोलबाला से क्या हाथ आनेवाला है ? जड़ के पीछे पागल होकर तो अनन्त काल भटकते रहे ।

वह दरिद्र बेकार हताश-निराश होकर संत से मिला - गिडगिडाने लगा, मेरे पास कुछ नहीं बचा । मैं दुःखी हूँ, कुछ जंतर मंत्र बताएँ तो आपका उपकार मानूँगा ।’ (कृतज्ञ रहूँगा)

बनावटी संत क्या करते हैं ? ऐसा ही कुछ गंडा-ताबीज, जंतर मंत्र, बाजार के भाव-ताव का रूख, मुहूर्त-ज्योतिष वगैरह ! आज कितने ही बेचारे इसमें फँसकर बरबाद हो गये । धर्म से तो गये ही साथ ही धन से भी खत्म हो गये। ऐसे बनावटी संत अच्छे लगते हैं, तब अच्छे संत कहाँ से अच्छे लगे ? सच्चे अच्छे संत नहीं सुहाते तो धर्म कहाँ से मिले ? कैसे धर्म में आगे बढ़े ? और

नसीब नहीं है, तथा पुण्य की राह अपना कर पुण्य बढ़ाना नहीं है, तब भाग्य की गिरती दशा में जो कुछ करे उसमें पछाड न खाय, धन आदि से बरबाद न हो तो और हो भी क्या सकता है ? इस तरह धर्म एवं धन जाने से यह लोक तथा परलोक दोनों नष्ट ही हो न ? बनावटी संत लोग ऐसी बरबादी वाला कल्ले-आम चलाते हैं। जीव को उत्तम मनुष्य-भव से भ्रष्ट कर कितने ही निम्न भवों की प्राप्ति में साथ देते हैं- सहारा बना देते हैं ।

यह संत तो सच्चा संत था, अतः उसे धर्म प्राप्त कराना था, उचित मार्ग पर चढ़ाने का अच्छा उपदेश देना था, अतः वह युक्तिपूर्वक समझाते हुए उस से कहता है -

‘क्या तुम्हारे पास कुछ नहीं रहा है ?’ उसने कहा, - ‘नहीं महाराज ! कुछ बचा तो नहीं ही, उल्टा कर्जदार बन गया हूँ ।’

‘क्या झूठ बोल रहे हो ! हजारों का माल दबाकर कहते हो कि कर्ज के अलावा मेरे पास कुछ नहीं है ।’

‘महाराज ! आपसे किसने कहा कि मेरे पास हजारों का माल दबा पडा है ? आपके सामने झूठ बोलूँगा ? सचमुच मेरे पास हजारों तो नहीं, सैंकडों भी नहीं, एक लाल पाई भी नहीं है ।’

‘पैसे न हो, माल तो होगा न ?’

‘जी नहीं माल-असबाब सब खत्म है । कुछ बचा नहीं है । ऊपर से कर्जा हो गया है ।’

संत ने कहा, ‘नहीं, ऐसे नहीं । फिर भी, ऐसा करो कि जो कहीं से तुम्हारे पास निकले तो तुम्हारा वह सब मुझको सोंपना रहा। और मैं तुमको पचास हजार रुपये मिले ऐसा डील बिठा दूँगा ।’

‘कबूल, कबूल महाराज !’

उसके सहमत होने पर संत ने कहा, ‘तो देखो, पहले कुछ विधि कर लें । मुझे तुम अपना यह एक हाथ दे दो ।’

‘अरे महाराज ! यह कैसे दिया जा सकता है ? फिर एक हाथ से काम कैसे हो ?’

‘परन्तु मैं इसके १०,००० रुपये तुम्हे दिला दूँ ।’

‘नहीं, यह नहीं होगा ।’

संत ने कहा, ‘तो लो, इस कागज पर लिख दो कि ‘दस हजार में हाथ नहीं देना है, क्योंकि यह काम आवे ऐसा माल है।’ ठीक, तो फिर एक पैर दे दोगे ?’

उसके २०,००० रुपये दिलवाता हूँ ।’

वह कहता है – ‘अरे .. ! पैर ? क्या बात करते है ? फिर मैं चलूँगा कैसे ?  
‘बैसाखी के सहारे चल सकोगे न ?’

‘वाह महाराज ! ऐसा होता होगा ? बैसाखी सो बैसाखी । साबुत पैर से जो चलना, चढना, उतरना होता है सो बैसाखी से थोडे ही हो सकता है ।’

‘तो लिखो, बीस हजार में पैर भी नहीं देना है ।’ अच्छा, तो एक आँख और कान दे दोगे ? रुपये ४०,००० नकद दिलाता हूँ ।’

अरे ! पर अगर एक आँख-कान दे दूँ तो काना और कनकट्टा हो जाऊँ। फिर ठीक तरह देखना सुनना किस तरह होगा ? ’

‘तो सिर्फ नाक दे दोगे? रु. ५०,००० दिलाऊँगा ।’

‘वाह ! तब तो नकटा बनने पर इज्जत क्या रहेगी ?’

संत ने कहा, ‘‘तो लिखो, आँख, कान, नाक चालीस और पचास हजार रुपयों में भी नहीं देना है । अब जोड़ लगाओ - १०+२०+४०+५० हजार अर्थात् कुल कितनी रकम हुई १,२०,०००. मतलब कि एक लाख बीस हजार रुपयों से भी अधिक मूल्य का तुम्हारे पास हाथ, पैर, आँख, कान, नाक का माल है यह साबित हुआ। यह माल दबा बैठे हो; देना नहीं है और मेरे पास से ५०,००० रुपये चाहिए ? क्यो ? तुम्हारी कबूली का क्या हुआ ?

वह सोच में पड गया कि, ‘क्या कहा जाय ?’

संत ने कहा, ‘विचार क्या करते हो ? कुछ समझते हो ? तुम्हारे पास ये बेशकीमत हाथ, पैर, आँख, कान, नाक है, उनका उपयोग करना नहीं आता और भीख माँगने निकले हो । उत्तम कुल के होते हुए भीख माँगने में शर्म नहीं आती ? क्या भीख की हँडिया सीके चढेगी ? ऐसे भीख माँग कर कर्जा उतरेगा, और आनंद मंगल होगा? अखंड हाथ, पैर, आँखो से उद्यम करना नहीं जानते ? और खास तो यह देखो कि –

आदमी के पास सच्चा अमूल्य धन है –

‘तुम्हारे पास यह मानव-जीवन रूपी अमूल्य धन अभी हाथ में है, यह कितनी कीमत का माल है? साथ ही बेवकूफ पागल मन नहीं बल्कि स्वस्थ, सयाना, विचारक मन एवं बुद्धि-बल का माल है, उसकी कीमत कितनी है ? इससे भी आगे देखो कि तुम्हारे पास देव-दर्शन-भक्ति, गुरु की उपासना, दया, परोपकार, मैत्री आदि भावना, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह, कषाय-शमन, और अत्यन्त सरल फिर भी बहुमूल्य प्रभु-प्रार्थना - इन सब का पुरुषार्थ करने की कितनी सारी अमूल्य

शक्ति मिली हुई पड़ी है ? उसका भी उपयोग नहीं करना है ! इस परम मूल्यवान पुरुषार्थ-शक्ति को काम में नहीं लगाना है, उससे महापुण्य नहीं बढ़ाना है, जो कि पाप को दूर हटाए; और झूठा रोना रोते, भीख माँगते फिरना है ? मैं कदाचित तुम्हें रुपये मिले ऐसी व्यवस्था कर भी दूँ तो भी पुरुषार्थ-शक्ति का सदुपयोग किये बिना जीवन पूरा करने के बाद परलोक में कहाँ पटके जाओगे इसका विचार आता है ? रुपये मिलना तुम्हारे हाथ की बात नहीं, वे तो भाग्य होंगे तो ही मिलेंगे; तुम्हारे चाहने या भीख माँगने से नहीं मिलेंगे, जब कि यह सत्पुरुषार्थ-शक्ति का उपयोग तो तुम्हारे हाथ की बात है । चाहो उतना सदुपयोग कर सकते हो। फिर व्यर्थ हैरान क्यों होते हो ? वह तो तुम्हारे हाथ की बात नहीं है, और यह तो हाथ में आने की तैयारी में बहुत निकट की वस्तु सो खो रहे हो ?’

संत के उपदेश पर वह दरिद्र मुग्ध हो गया । पैरों पड़ कर बोला, ‘महाराज! आपने आज तो मेरी आँखें खोल दीं। आपने एक तो सचमुच हाथ, पैर, आँख आदि सच्चे माल की पहचान करा दी, जिससे मैं उद्यमी बनूँ, न कि भिखारी, और दूसरे, परलोक की दृष्टि जगा कर बहुत ही निकट रहे हुए देवदर्शन-साधुसेवा-परोपकार-सद्भावना-शम-दम-प्रार्थना आदि की बहुमूल्य पुरुषार्थ-शक्ति का भान कराया, उसका सदुपयोग कर लेने का ज्ञान दिया । ये दो महान् वस्तुएँ सिखाकर तो आपने मुझ पर असीम उपकार किया है । मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ कि पहले मैंने आपसे - एक संत से - भीख माँगी। बस, अब मैं उचित उद्यम शुरू कर दूँगा, और समय आने पर आपकी तरह संत बनूँगा ।’

देखिये; यह आदमी पहले वस्तु बिगडने की ही दृष्टि से देखता था, तब ‘मेरे पास अभी तक कितना बचा हुआ है’ इस ओर नजर ही नहीं थी, फलतः निराशा, दीनता, याचना आदिमें घिसटता था। अब संत की वाणी के कारण बहुत सा बचा हुआ दिखाई दिया तो ऊँचे प्रकार के उद्यम में खूब उत्साहपूर्वक लग गया। इसमें भी विशेषतः निःस्वार्थ भाव से सच्ची मैत्री आदि भावना, इन्द्रिय-निग्रह, कषाय-शमन, तथा दोनों समय गद्गद् हृदय से प्रभु से शुद्ध प्रार्थना करने लगा। इससे उसका पुण्य बहुत बढ़ा, बहुत बढ़ा - वह सचमुच सुखी हो गया।

हमारी बात यह थी कि साधना के लिए योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आवश्यक है। उनमें योग्य भाव के तौर पर (१) ऐसे उत्साहपूर्ण भाव (२) उज्ज्वल पक्ष पर दृष्टि, (३) बचे हुए पर नजर (४) मैत्री आदि भाव- वगैरह जरूरी है । क्षेत्रमें जीवों के आर्तनाद से रहित, सुखःशांति पूर्ण सुन्दर वातावरणवाला क्षेत्र चाहिए ।

इसके लिए जीवों को दान, भेट, अभय आदि देना चाहिए। महोत्सव, पर्युषण, बड़े सामूहिक धार्मिक कार्यक्रम आदि में यह विशेषतः आवश्यक है।

राजा दृढवर्मनि ऐसा किया। पहले दान- उपहारादि दिये, यह साधना की पूर्वविधि हुई; उसके बाद देवी के आगे मणिरत्न की भूमीपर फूलों का गालीचा, धूप आदि किया, तब वह स्वयं घास के आसन पर घुटनों के बल रह कर देवी को अंजलिबद्ध नमस्कार कर के उसे संबोधित कर के कहता है—

**राजा की भीष्म प्रतिज्ञा—**

‘हे तेजस्वी हार से सुशोभित तथा कौस्तुभ मणिकी किरणों से व्याप्त देवी ! मेरी यह प्रार्थना सुन, कि तू ही कमला - लक्ष्मी - श्री - ह्री - कान्ति - और समृद्ध निर्वाणी, यावत् महाशांति सम्पदा तू ही है। अतः तू मुझे तीन रात्रियों के भीतर दर्शन देना, अन्यथा तलवार की धार से काटा हुआ मेरा मस्तक स्वीकार कर लेना।’

बस, इतना कह कर प्रणाम कर के राजा देवी के सामने आसन पर बैठ गया। राजा साधना करने आया है, वह निश्चित फलवती साधना करने; अतः कैसा महा जोखिम भरा निश्चय प्रकट करता है ? कार्य-सिद्धि कैसे होती होगी ? देव-महादेव को किस प्रकार अनुग्रहकारी बनाया जाता होगा ? ढीली-ढाली (निःसत्त्व) साधना से या फिर ‘करेंगे या मरेंगे’ के निर्णयवाली साधना में बैठ कर ?

**वर्तमान काल का एक अविस्मरणीय प्रसंग —**

एक शहर में हमारी एक भाई से भेंट हुई। आज तो वे मुनि बन गये हैं, परन्तु दीक्षा से पूर्व की यह बात है। उन्होंने मुझसे कहा, ‘महाराज ! एक बार मेरे व्यापार में जबरदस्त उलझन आ गयी। दो तीन लाख रुपयों का सवाल था। क्या किया जाय- यह भारी चिंता थी। किंतु मुझे यहाँ के मूलनायक भगवान पर बहुत श्रद्धा थी। अतः वैसे भी कई बार प्रभुजी के सामने बैठ कर एकाग्रतापूर्वक मेरे चित्त में निर्मलता और समाधि के लिए प्रभु से प्रार्थना में लग जाता, और साहब ! मुझे सचमुच कहना चाहिए कि इसके फलस्वरूप प्रभु के प्रताप से मुझ में बहुत सुधार होता जाता, दूसरे के प्रति द्वेष, तिरस्कार, ईर्ष्या, दुर्भावना आदि कितने ही दोष नामशेष - से हो गये थे। हमारे घर में से घरवाली का भी स्वभाव जरा भी ठीक नहीं था, परन्तु मुझे उनके प्रति भी मन में कुछ बुरा न लगता। मैं तो सोचता कि ‘सव्ये जीवा कम्मवस’, फलतः बार बार समाधि सद्बुद्धिकी हार्दिक

प्रार्थना से मुझे प्रसंग प्रसंग पर यह लाभ दिखाई देता था कि जीवन की ऊँची नीची घटनाओं में मलिनता या हायहाय को मेरे मन में खास स्थान नहीं मिलता था ।

अतः दो तीन लाख के प्रश्न वाली इस उलझन के सम्बन्ध में क्या राह अपनाऊँ, यह समस्या दूर हुई; धर्मध्यान में चित्त की स्वस्थता बनी रहे इस हेतु से मैंने तो अपने जीवन के एक मात्र आधार माने हुए प्रभुजी के आगे आसन जमा दिया । प्रभु को मन ही मन संबोधित कर कहा, - 'नाथ ! मैं इस भारी चिंता में व्यग्र हूँ । आपको मेरा मार्गदर्शन करना है कि मैं क्या करूँ ? मैं जवाब लेकर उठूँगा, जब तक जवाब नहीं मिलेगा तब तक हे प्रभु ! मैं यहीं बैठा रहूँगा ।' बस, फिर तो एक मात्र प्रभु का स्मरण और प्रभु के प्रभाव का गुणगान आदि करता हुआ बैठा । एक घंटा हुआ, दो घंटे हुए, मेरी कसौटी होने लगी । परन्तु मैंने जो मन में निश्चितता धारण कर ली थी कि चाहे रात हो जाय या सारी रात बैठना पड़े, परन्तु मुझे अपने नाथ से जवाब मिलनेवाला है । प्रभु सेवक को समाधि देते ही हैं । प्रभु स्वयं समाधि सिद्ध करनेवाले बने हैं तो उनके प्रभाव से मुझे समाधि क्यों न मिलेगी ? जरूर मिलेगी ! बस, जनाब ! मन के निश्चय के साथ बैठा था, हृदय में अचल श्रद्धा थी, घंटोपर घंटे बीतते गये, मैंने परवाह नहीं की। मंदिर में अब मैं अकेला ही रहा था। वैसे भी पुजारी जानता था कि भाई कभी कभी प्रभु के पास बैठते ही हैं, सो उसने भी कुछ नहीं पूछा-ताछा । समय अधिक होता गया, परन्तु मन में होता कि ऐसी भी बाहर जाकर चिंताग्नि में जलना है, इससे तो मेरे वीतराग भगवान के आगे अच्छी ठंडक है, वीतराग की महिमा अनंत है । बस, प्रार्थना सफल हुई । अवसर आ गया । एकाएक मुझे अपने मन के आगे जवाब दिखाई दिया कि तू ऐसे कर, मानो स्पष्ट स्वच्छ अक्षर पढ़ते हो ऐसा भास हुआ । प्रभु का बहुत उपकार माना । वंदना कर घर आकर उस मुताबिक किया और उलझन सुलझ गयी । प्रभु के प्रभाव और प्रभु के प्रति कृतज्ञता से गद्गद् हो गया। प्रभु! आपका कितना उपकार मानूँ ? नाथ ! मेरा कौन है, आप के सिवा और ?' उक्त भाई की बात पूरी हुई ।

परमात्मा के प्रति आस्था से उनका मन सुखमय संसार पर से भी अधिकाधिक विरक्त होता गया; और अब तो वे दीक्षित भी हो गये ।

बात यह है कि प्रार्थना अटल श्रद्धा तथा निश्चय वाली होनी चाहिए । 'होगा, देखते हैं, हुआ तो ठीक, नहीं तो पीछे और कोई उपाय खोजेंगे;' इस तरह संशययुक्त नहीं । वह तो एक मात्र निश्चय कि 'प्रभु से ही भला होनेवाला है,

प्रभु से भला होनेवाला ही है। मेरे जिनेश्वर भगवान् की अचिन्त्य, असीम शक्ति है, प्रभाव है, अनन्त करुणा है। मेरे तो वही एक उनकी ही शरण है।' ऐसा निर्धार हो और उद्देश किसी मलिन लोभ-लालच का न हो, किसी का कुछ बिगाडने का न हो, अहन्व, सत्ता, ठकुराई-बादशाही का न हो, क्योंकि उसमें जबरदस्त असमाधि होती है, चित्त की अस्वस्थता, बेचैनी होती है; किन्तु उद्देश्य ही समाधिवर्धक साधन का तो प्रार्थना क्यों फलवती न होगी ?

दुनिया के लबालब भरे हुए पुण्य जो चित्त की स्वस्थता, शांति-स्फूर्ति नहीं दे सकते, वह अचिन्त्य प्रभावी वीतराग प्रभु के आलंबन से प्राप्त होती है, एक मात्र प्रभु की शरण ग्रहण करने से मिलती है।

यहाँ राजा दृढवर्मा निश्चय करके बैठा है कि 'तीन रातों की अवधिमें देवी के दर्शन होने चाहिए, नहीं तो अपना सिर काटकर चढा दूँगा।' ऐसे निश्चय की कसोटी तो होती ही है, परन्तु पराक्रमी पुरुष धीरज नहीं खोए, उसी तरह जरूरत आ पड़ने पर मौत की भी परवाह न करें। मन को ऐसा लगे कि—

### श्रद्धा की विचारणा —

अगर उचित माँग सफल हो ऐसा प्रभाव काम करता नहीं दिखाई देता तो इसमें देवाधिदेव के प्रभाव की खामी नहीं है बल्कि उसे झेलने और उसके अनुकूल होने की जो श्रद्धा चाहिए उसकी मुझमें कमी है। तो यदि यह कमी ही हो तो जी कर भी क्या करना है ? मृत्यु आने पर भी यह श्रद्धा अखंड हो जाती हो, पौवरफुल (बलवान) बन जाती हो तो परलोक में वह बहुत काम आएगी। तीन लोकों के नाथ पर और उनके प्रभाव पर ऐसी श्रद्धा नहीं है इसलिए तो व्यर्थ भटकते हैं, जडासक्ति मेंपना(अहंता), ईर्ष्या, धिक्कार, दुर्भाव, अमैत्री आदि भयानक दोषों और निम्न, निष्फल उपायों में भटकते हैं। यहाँ अब कदाचित मरण का भी स्वागत कर नाथ पर और नाथ के अचिन्त्य, असीम प्रभाव पर अनन्य श्रद्धा हो जाती हो तो उसके समान धन्य घडी और कौनसी है ?

राजा की पहली रात बीती, दूसरी बीती, तीसरा दिन भी व्यतीत होते लगा किंतु देवी के दर्शन नहीं हुए, फिर भी राजा स्वस्थ है; निश्चित होकर वह तो साधना में बैठा और संकल्प बोल चुका, तब से देवी के गुणगान करना जारी है। वह एक रात, दूसरा दिन, दूसरी रात, तीसरा दिन..... एक ही काम करता बैठा हुआ है; देवी की कृपा, उसके अतीत के उपकार-पराक्रम और उसकी वत्सलता का विचार कर रहा है।

## जाप-स्तुति-वन्दना-भावपूर्ण कैसे बने ?

आराधना किसका नाम है ? (आराधना किसे कहते हैं?) जहाँ आराध्य के गुणगान हृदय में बसे हुए हो उनका उपकार, उनकी दया, उनका वात्सल्य आदि नजर के सामने तैरते हों वह आराधना है। नवकार मंत्र की आराधना करते हो न ? उसमें किसकी आराधना है ? अरिहंत देव आदि पंच परमेष्ठि की। तो उनकी इस आराधना के समय बीच बीच में मन में होता है न कि 'ये परमेष्ठि भगवंत कितने महागुणवान् ! कैसे गुणगण के भंडार। उनका कितना सारा उपकार। कैसी अनुपम उनकी दया और वात्सल्य।' यदि नहीं, गुणगान आदि नहीं, और केवल कोरी नाम की माला ही गिनी जाती हो, निरा कोरा जाप होता हो तो वह वैसा कैसे फले ? हृदय पर वह बहुत असर भी किस तरह करे ? जाप के साथ गुणगान, उपकार स्मरण और दया, विचार से हृदय भावित हुआ हो तो जाप का जोरदार असर पैदा हो, विशिष्ट कोटि का भावोद्भास आवे। उससे पुण्य भी विशिष्ट कोटी का उत्पन्न हो; और पाप भी वैसे बड़ी संख्या में नष्ट हो।

बस, जाप के समय खास यह बात मन में लानी चाहिए कि आराध्य के गुण उपकार - प्रभाव - वात्सल्य आदि कितने अति अनुपम। उसके विचार मात्र से दिल भर आता हो, आँखे भीग जाती हों - 'ओहो ! ओहों ! ऐसे इन का जाप मुझे मिला! स्मरण मिला !' यह अहोभाव आवे और अहोभाग्य मालूम हो।

अन्त समय के प्रभुस्मरण से जीव कैसे सुंदर सद्गति के ढेरों पुण्य को कमाई कर गये ?

कहिये कि उस स्मरण के साथ कुछ ऐसा रखकर हृदय को गद्गद् और मन के भावों को विशाल, तेजवाले और वेगवान् बनाया था इसलिए। इस जगत पर और मुझ पर आराध्य प्रभु के अनुपम उपकार है। ऐसे उपकार और कौन कर सकता है ? उनमें अनन्त गुण महक रहे हैं; जीवों पर तथा मुझ पर उनका कितना अगाध (अथाह) वात्सल्य! वाह मेरे भगवान् !' ये भाव दिल में बार बार आते रहने चाहिए; तो जाप - स्तुति - वंदना आदि खूब भावपूर्ण बनें।

यहाँ राजा देवी की आराधना गुणगान आदि से कर रहा है।

## राजा प्रतिज्ञा के अनुसार :

राजा को देवी के गुणस्मरण करते एक रात बीती, दूसरी बीती, तीसरी भी बीत गई पर देवी के दर्शन नहीं हुए। अब उसकी तो अपनी प्रतिज्ञा है कि तीन रात की अवधि में अगर दर्शन नहीं दे तो मैं अपना सर दे दूँगा। अतः दर्शन न



होने के कारण राजा का मुँह भयंकर रोष में चढ़ गया । उसने तुरन्त तीक्ष्ण खड्ग हाथ में लिया और कहने लगा -

‘देवी ! तु स्वर्गमें, पाताल में या क्षीर समुद्र के कमलवन में - जहाँ कही हो, अब तलवार की धार से मैं अपना यह सिर काट कर तुझे समर्पित करता हूँ । उसे तू स्वीकार कर लेना ।’

बस, इतना कह कर वह अपनी गर्दन पर तलवार का वार करने के लिए हाथ उठाता है । सात्त्विक पुरुष है । अतः जो प्रतिज्ञा की है उससे मुँह मोड़ने को तैयार नहीं है । प्रतिज्ञा के अनुसार - देवी के दर्शन नहीं हुए तो अपना मस्तक काट कर देवी के चरणों में चढ़ाने को तैयार हो गया है ।

### सत्त्व का महामूल्य

**मर कर सुख-सुकृत छोड़ने को तत्पर क्यों ?**

प्र० देवी के दर्शन मात्र के लिए इतना सब ? ऐसे सिर काट कर मर जाने के बजाय जिन्दा रहे तो कितने ही सुख-विलास कर सके और कितने ही सुकृत भी कर सकता है न ?

उ० बात सही है, परन्तु सात्त्विक मानवों के मन में अपने वचन की - प्रतिज्ञा की - संकल्प की महत्ता होती है । वचन सो वचन, प्रतिज्ञा सो प्रतिज्ञा । उसका पालन करनेमें सारे सुखभोग, सारे सुकृत है । और तो संसार के सुखभोग किस कामके ? क्षण जीवी, पराधीन वियोग से दुःख में परिणत होनेवाले और अमूल्य सुकृत क्षणों को नष्ट करनेवाले - इतना ही न या और कुछ ? उनके पीछे क्या स्वाधीन, सुखद तथा सुसंस्कार से अमर बननेवाले सुकृतों को जाने दिया जाय ? तात्पर्य - पवित्र वचनबद्धता जैसे महान सुकृत के परिणाममें तो आत्मा को ऐसे अलौकिक सत्त्व की प्राप्ति होती है, जो भवांतर में भी अनेकानेक सुकृतों को जन्म दे ।

**सच्चे सुकृत सत्त्वमें से जन्म लेते हैं—**

सत्त्व हो तो सुकृत की हिम्मत रहती है, उल्लास रहता है । सत्त्व के नाश से सुकृत-शक्ति, सुकृत-उल्लास, नष्ट होते हैं। सत्त्व के बिना किये गये सुकृत भी मुर्दार जैसे बनेंगे ।

### ग्वाल-पुत्र का सत्त्वोल्लास -

शालिभद्र के जीव, ग्वाले के पुत्र ने जीवन में पहली बार पाई हुई बहुत मन भावन खीर खा लेने का लोभ संवरण करने का सत्त्व उत्पन्न किया तो महातपस्वी के पात्र में सारी उँडेल देने का महान सुकृत उल्लास के साथ कर लिया। सत्त्व न पनपाया होता तो मन को मना लेता, “भाई ! महाराज जाते है, उन्हें जाने दो । हमारी कहाँ पहुँच है कि दान दे सके ।” तब क्या वह दान दे सका होता ? उसमें भी कही माँ ने आकर हुक्म दिया होता कि ‘क्या खाने बैठ गया है ? दे दे महाराज को, मैं तुझे और दे दूँगी’ तो शायद देता भी, परन्तु तब क्या वह सत्त्व पूर्वक देता ? अथवा रोते हुए मन से? मन में तो होता ‘दे भाई दे महाराज को, माँ कहती है इसलिए दिये बिना नहीं चलेगा; पर कोई चिंता नहीं, माता और खीर अपने देनेवाली है ।’ यह क्या है - खाने का सत्त्व या देने का ?

### सत्त्व के बिना सुकृत का उल्लास नहीं, सुकृत में कोई माल नहीं -

मुर्दार - मृतवत सुकृत और ज्वलंत धनसंचय - खानपानादि - निःसत्त्व की विशेषता है -

सात्विक की विशेषता ज्वलन्त सुकृत और सत्त्वहीन धनसंचय - खानपानादि में है ।

जाँच करना, जीव का सत्त्व क्या प्राणों में धडकता रहता है ?

धनमाल कमाना, संगृहीत करना, और मनमाने खानपानादि एवं भोग-विलास करना - यह तो अनार्य म्लेच्छ तथा भंगीचमार भी करते है क्या उसमें सत्त्व है ? इनमें पडे हुए वे लोग क्या दान-परोपकार, सत्य-नीती विश्वास-पालन आदि कर सकते है? तो वे दानादि के विपरीत चलकर क्या लोक विख्यात, सुखी और सद्गतिगामी बन सकते है ? नहीं, वह तो सत्त्व के साथ सुकृत के आचरण से ही संभव है । अतः सुकृतों का सेवन ही जीवन कर्तव्य कहलाता है । यह उत्तम सत्त्व होना आवश्यक है ।

### प्रतिज्ञा पालन अलोकिक सुकृत है -

इसमें प्रकट किया गया सत्त्व अमर बन कर उसके ऐसे सुन्दर संस्कार उत्पन्न करता है कि जिससे उत्तरोत्तर नये नये सुकृतों का उत्साह प्रकट होता है । प्रतिज्ञा लेने में भी सत्त्व विकसित होता है और पालने में भी सत्त्व विकसित होता है । कई लोग कहते है न कि ‘ऐसे ही ऐसी पाल लेंगे - सौगंध - प्रतिज्ञा का क्या काम

है?’ उन्हे पता नहीं है कि ...

सौगंद- प्रतिज्ञा का यह काम है कि सत्त्व विकसाना है। भीतरी जोश उछलता है तब प्रतिज्ञा ली जाती है, और पालते वक्त भी अन्तर्मन कहता है कि प्रतिज्ञा माने प्रतिज्ञा; मेरे उसको दृढता से पकड़ना ही रहा। कैसे भी प्रलोभन आये अथवा स्नेहीजनों का दबाव आवे तब प्रतिज्ञा के हिसाब से ही टिकना संभव होता है।

तात्पर्य यह कि इस जीवन में पाप छोड़ना और धर्म जोड़ना यह तो आवश्यक है ही किंतु सत्त्व को विकसाते जाना भी बहुत आवश्यक है, और वह प्रतिज्ञाओं से सरल सुलभ बनता है। सत्त्व के ही अधिकाधिक विकास के बल पर गुणस्थानक की सीढ़ी पर ऊपर से ऊपर चढ़ा जाता है। यावत् अपूर्व करण तथा क्षपकश्रेणी प्रारंभ की जाती है। जिसके द्वारा वीतराग - सर्वज्ञ बना जाता है।

**देवी का प्रकट होना -**

राजा दृढवर्मा सत्त्व के साथ अपनी प्रतिज्ञा के पालन में दृढ है। तीन रातों बीतने पर देवी के दर्शन नहीं हुए.तो अब तलवार निकाल उसे अपने गले पर फेरने को तत्पर हो गया। देवी को संबोधित कर कहता है - ले, अब मैं अपना यह मस्तक तुझे अर्पित कर देता हूँ।' ऐसा कहते ही वह ज्यों ही झटका लगाने जाता है त्यों ही देवी प्रकट होकर उसका हाथ रोक लेती है। राजाने तत्क्षण प्रणाम किया।

## ७. राजा और देवी का मधुर संवाद

देवी कहती है “क्यों ,क्या बात है ? इतना सारा साहस किसलिए ? बड़े युद्धों में विजय पानेवाला यह खड़ग रत्न तेरे कोमल कंठ पर चलाने की ज़रूरत क्यों हुई।”

राजा उत्तर में कहता है - ‘देवी ! कारण यही कि तीन दिन और तीन रात तुम्हारे दर्शनों के लिए बिना खाये पीये बैठने पर भी मुझे तुम दर्शन नहीं देती।’

देवी ने कहा - ओहो ! महाराज दृढवर्मा ! तीन रात का तू तपस्वी इतने में असहिष्णु बन गया ?’

राजाने कहा - भोजन न मिलने की असहिष्णुता नहीं है, परन्तु स्वाभिमान

रूपी धन जिसके पास हो उसे एक तिनके जितना पराभव भी हो तो वह विराट् मेरु जितना पराभव मालूम होता है।”

देवी ने नर्म पड़ कर कहा ‘कहो, - क्या काम है ?’

राजा माँग करता है कि “सर्व कला एवं ज्ञान का भंडार, राज्यधुरा का वहन करने में समर्थ और कुल में सूर्य समान तेजस्वी एक सुन्दर पुत्र मुझे दो।”

अब देखो ! देवी कैसा हल्का-फुल्का मजाक करती है। वह कहती है तो क्या तुमने मुझे पुत्र सौंप रखा है कि जिस कारण तुम मुझसे यों पुत्र मांगते हो ?

“नहीं, सौंपा नहीं है - तुम्हारा अपना ही दो।

देवी कहती है - मेरे भला पुत्र कहाँ है ?’

राजा हल्की सी मुसकान के साथ कहता है- “वाह ! जिसने भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, माधव, नल, आदि पुत्र तैयार किये ऐसी तुम तुम्हारे पास एकभी पुत्र नहीं ?’

देवी बोली - हँसने की बात रहने दो। जाओ ! तुम्हारे एक पुत्र हो !’ यह कर देवी ओझल हो गई।

राजा की कार्य सिद्धि हो गयी, इसलिए वहाँ से जाकर स्नानादि कर के देवपूजा, गुरुजनों को नमस्कार, स्नेही जनों से प्रेमालाप, आश्रितों को स्नेहवचन, तथा दानादि करके मंत्रीगण को बुला कर जो घटना घटी थी सो कह सुनाई।

कार्य सिद्ध हो जाने पर यह सब औचित्य है। फिर वहाँ यह विचार नहीं आता कि - ‘पराक्रम तो मैंने किया उसमें और सब को नमस्कार करने बुलाने या दान-सत्कार करने का क्या काम है ? ऐसा विचार क्यों नहीं। तो कहो - इसीलिए कि उसे इतनी समझ है कि -

(१) कार्य की सिद्धि होने में देवतादि बड़ों का प्रभाव और आशीर्वाद महान कारणभूत है, अतः कृतज्ञता के तौर पर उनका औचित्य करना ही चाहिए।

(२) कार्य सिद्ध होने का आनन्द और उसके फायदे इतने अधिक ऊँचे हैं कि (i) उन के सामने अभिमान या धनप्रेम पंगु हो जाते हैं, फलतः नमस्कार-पूजा विनय और दान अनायास ही बन पड़ते हैं साथही (ii) उस आनंद में दूसरे को हिस्सेदार बनाने की इच्छा होती है।

जीव में ये दो महान तत्व बहुत आवश्यक हैं, (१) गुरुजनों तथा उपकारियों के उपकार का मूल्यांकन करने के साथ साथ उनका योग्य स्वागत-सम्मान, तथा (२) प्राप्त हुए या होनेवाले मूल्यवान् लाभ को ऐसा महत्व देना कि उसकी तुलना में आरामतलबी, अभिमान या लक्ष्मी तुच्छ मालूम हो, उचित दान में संकोच न

कराए ।

आप जिनभक्ति से होनेवाले लाभ का अगर इस तरह मूल्यांकन करें तो उसमें अपने भरपूर द्रव्य और समय का व्यय करने में हमेशा उत्साहित ही रहेंगे ।

जो मंदिर उपाश्रय आदि आपको लाखों का पुण्य देते हैं, क्या उनके लिए कुछ भी नहीं देना ? क्या केवल रूखा सूखा जिनदर्शन, रूखी पूजा, रूखा देव वंदन, रूखा जिनवाणी श्रवण ? सब कुछ एक लाल पाई के भी व्यय के बिना, रूखा ही रूखा किया जाय ? लाभ तो लाखों का लेना और देना कुछ नहीं । बाजार में सामान्य सा माल भी कहीं मुफ्त में मिलता है सही ? ऐसे लेने जाय तो हराम का खानेवालों में शुमार हो न ? तब यहाँ साधारण (खाते) में घाटा क्यों? कृतज्ञता नहीं है हरामखोरी है । देव गुरु धर्म प्यारे हैं, लाभ प्यारा है पर मेरा धन मुझे अधिक प्यारा है । अतः उनके लिए पैसा नहीं जाने दूँगा ।” ऐसी घातक धन मूर्छा है (धर्म का मोह है) तथा करोड़ों के मूल्य के एवं जनम जनम के रिश्तेदार-सगे-देव गुरु धर्म की तुलना में कौड़ी की कीमत के नश्वर धन को अधिक मूल्यवान मान लिया है । वहाँ फिर श्रेणिक सुलसा का सा अरिहंत-प्रेम, कुमारपाल - वस्तु पाल की सी गुरुभक्ति और विमलशा - धरणाशा (धना पोरवाल) के समान धर्म-रंग कहाँ आएगा । कहते हैं -

प्र० देव-गुरु-धर्म के लिए हमें ऐसी भावना क्यों नहीं होती ? क्यों ऊछलता हुआ रस नहीं होता ?

‘उ० कहाँ से हो ? मुफ्तखोर बने रह कर लाभ लूटना हो तब प्रेम और रस कहाँ से जगे ?

अगर देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रेम और रस जगाना हो तो उसकी एक एक बात में तन-मन-धन की बलि देनी चाहिए ।

राजा ने मंत्रियों से पूरी बात कही कि किस तरह देवी का वरदान मिला, तब मंत्रियों ने कहा - ‘महाराज ! हमने तो कहा ही था कि जब तक मनुष्य काम को अपना दिल नहीं देता तभी तक कार्य सिद्ध नहीं होता । यदि हृदय दिया तो कार्य सिद्ध हुआ ही समझिये ।

तत्पश्चात् राजाने रानी को शुभ समाचार सुनाया, तब रानी प्रसन्न होकर कृतज्ञापूर्वक हाथ जोड़ कर कहती है - “आपने मुझ पर बड़ी कृपा, मेहरबानी की ।” जीवन में कृतज्ञता तो कदम-कदम पर दिखानी होती है ।

## रानी को स्वप्न :-

बस, अब देवी का वरदान है कि 'पुत्र हो', सो कोई निष्फल नहीं जाए।। जाए तो बड़े व्यक्ति का वचन ही क्या ? वह तो तुच्छ, क्षुद्र-अधम आदमियों के शब्द जिन्हें उन शब्दों को निष्फल बनाने में रद्द करने में और कह कर तुरन्त मुकर जाने में कोई हिचकिचाहट नहीं कोई विचार नहीं होता ।

उत्तम पुरुष तो वचनबद्ध ही होते हैं, इसीलिए पहले तो बोलते ही तोलकर हैं और उसके बाद बोला हुआ पालते ही हैं ।

देवीने कुछ ऐसी अनुकूलता की जिससे रानी के उदर में गर्भ रहा । उस रात रानी को एक सुन्दर सपना आया । सपने में उसने देखा कि एक अति सुगन्धपूर्ण कमल की माला चन्द्र से लिपटी पड़ी है ।

रानी सपना देख कर जाग उठी। अगर बुरा स्वप्न आया हो तब तो जग कर वापस सो जाना चाहिए जिससे उसका फल न मिले वह निष्फल हो जाए । परन्तु यह तो अच्छा स्वप्न है अतः रानी जग कर धर्म-ध्यान में लग जाती है, महापुरुषों की कथा याद करती है, इष्ट देव का स्मरण करती है, स्तुति-गुणगान करती है और इस तरह करके रात्रि व्यतीत करती है । प्रश्न उठता है कि -

प्र० स्वप्न शुभ है तो फलनेवाला ही है, इसमें फिर धर्म-ध्यान की क्या आवश्यकता ?

उ० सामान्यतया यह नियम है कि मूल्यवान वस्तु के साथ उसके अनुरूप परिकर होता है । गरीब या मध्य वर्ग का व्यक्ति अकेला बाहर रवाना होता है परन्तु धनवान के साथ कोई न कोई सहचर होता है । तांबे-पीतल की वस्तु वैसी ही रखी जाती है, परन्तु जवाहिरात का गहना योग्य पात्र या मंजुषा में रहता है । नगरजन का प्रवेश यों ही हो जाता है, परन्तु बड़े सेठ या राजा या महात्मा का प्रवेश स्वागतपूर्वक कराया जाता है । बस इसी तरह अच्छी घटना की भविष्यवाणी करनेवाला स्वप्न आया तो उसके आगमन का स्वागत धर्मध्यान से करना चाहिए । तभी उसका मूल्यांकन किया माना जाए, उसका गौरव, आदर किया गया माना जाए । आदर किया हो उसके हिसाब से फल-प्रदान में वह निश्चित बनता है ।

**विशिष्ट धर्म साधना में भी ऐसी ही बात है ।**

देवता गण मेरुगिरि पर प्रभु का जन्माभिषेक मना कर फिर उसकी खुशी में, उसके सम्मान में नदीश्वरद्वीप जाकर उत्सव करते हैं । अरे यहीं क्या ? इन्द्र

प्रभु को माता के पास से मेरुपर्वत पर ले जाता है तब अकेला-अदूला नहीं बल्कि अपने पाँच रूप बना कर वज्र-छत्र-चमर उछालता हुआ ले कर चलता है। महान् वस्तु के साथ परिकर आवश्यक है जिससे उसकी महिमा हो।

इससे सूचित होता है कि धर्म साधने का हमारा हिसाब, और विवेकी बनने की परंपरा ऐसी होनी चाहिए कि हम इस महान धर्म और धर्म के अंग की महत्ता को माननेवाले बने रहे, और यह परिकर खडा करने से होता है। प्रभु की पूजा पढाई तो उसके साथ दान होना चाहिए। बड़े गुरु के पदार्पण का घर में लाभ मिला तो उसके पीछे सुकृत हो, सुन्दर तीर्थयात्रा कर के आये तो एक या दूसरे किसी सुकृत से उसका गौरव करना। पूर्व पुरुषों की ओर देखिये। महात्माओं के आगमन के शुभ समाचार मिलने पर दान करते थे न !

रानी सुन्दर स्वप्नदर्शन के बाद धर्मध्यान करके रात बिताती है। सुबह उठ कर, राजा के पास जा, प्रणाम कर के आनन्द के समाचार देती है - देव ! आज रात को आपकी कृपा से मैंने एक सुन्दर सपना देखा है।" ऐसा कह कर स्वप्न का विवरण करती है। बड़े के सामने अच्छी बात का निवेदन करना चाहिए। राजा अत्यंत हर्षित हो जाता है, क्योंकि (१) रानी की इच्छा पूर्ण होना (२) खुद का वरदान प्राप्त करने का भारी पराक्रम सफल होना और (३) अपने लिए योग्य उत्तराधिकारी (वारिस) मिलना उसमें उसे दिखाई देता है।

### अच्छा गुण या धर्म पाने का आनन्द कब होता है ?

आत्मा में कोई भी गुण या धर्म प्राप्त करने का ऐसा आनन्द होना चाहिए। यह तभी संभव है जब पाप का, पाप-सामग्री का आनंद घटे, अन्यथा जो वह खूब भरा हुआ हो तो गुण या धर्म पाने के आनन्द के लिए स्थान ही कहां रहे ?

बुरी वस्तु का आनन्द मन्द पड जाए तो उत्तम वस्तु का आनंद उछलने लगे। जीवनभर नौकरी करनेवाले को अगर नौकरी में आनन्द नहीं हो तो उसे धनिकता में दिलचस्पी होती है। मोक्ष और धर्म की भी ऐसी ही बात है। संसार का आनंद उड जाय तो मोक्ष का रस जगे। आरंभ-समारंभादि पाप अप्रिय लगे तो सामायिक का सच्चा रस पैदा हो।

रानी के स्वप्न-कथन पर खुश होकर राजा कहता है 'वाह ! तुमने सुन्दर सपना देखा है। यह सूचित करता है कि तुम एक महान पुत्र को जन्म दोगी।"

रानी राजा के बोल को बहुमूल्य मानकर झेल लेती है। वह कहती है - "स्वामिन् ! आपने कहा है वैसा ही हो। मुझे यह बहुत अच्छा लगा। मैंने उसे

स्वीकार कर लिया। मैं उसका सहर्ष स्वागत करती हूँ। आपने मुझपर बड़ी कृपा की।' ऐसा कहकर वह राजा के पैरों पड़ती है।

बड़ों के वचनों का आदर करना चाहिए। यह उनकी महिमा और स्वीकार प्रकट करने से होता है। मानव-जीवन में ही यह बन सकता है, बनाना ही चाहिए। पशु के अवतार में यह कहाँ संभव है ! प्रशंसा करें, स्वीकार करें, ओर मेहरबानी की' ऐसा कह कर पैरों पड़े। गुरुजन ने हित-शिक्षा दी हो उसका इस प्रकार आदर किया जाता है सही? या कुछ नहीं, यह (ordinery) साधारण है ऐसा कहकर चुप रह जाते हैं। या बस 'ठीक' इतना कहकर निपटा दिया जाता है।

धर्म जैसी श्रेष्ठ वस्तु गौरव किये बिना वह धर्म हमारा सगा किस तरह बनेगा ?

कौन आदर करने नहीं देता ? पापी दुनियादारी का रस धर्म का आदर नहीं करने देता -

अच्छा मेहमान आवे तो उसका बहुमान करना पड़ता है। तो अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई हो उसका सम्मान नहीं करना ? मेहरबानी नहीं मानना ? गुरुजन के इस उपकार के लिए चरण नहीं छूना? निरी पापी दुनियादारी का रस हृदय में लबालब भरा हो उस के ये लक्षण हैं कि हित-शिक्षा, अच्छी सलाह, तथा अच्छे मार्ग प्रदान का ऐसा आदर नहीं किया जाता, गौरव नहीं स्वागत नहीं, मेहरबानी नहीं मानना, और पैरों पड़ कर कृतज्ञता व्यक्त करने की बात नहीं। तो फिर पशु जीवन से इसमें विशेषता क्या है? व्याख्यान तो बढ़िया सुने, पर बाद उसका आदर, गौरव, मूल्यांकन और कृतज्ञता कौनसी की ? क्या गुरु के चरणों में गिरकर कहा सही कि 'आपने बहुत उपकार किया ? कितना अमूल्य बोध दिया?' क्यों नहीं होता यह सब ? तो कहो कि हिये में केवल पापी दुनियादारी का रस भरा पड़ा है। तब अकेली पापी दुनियादारी का ही रस हिये में भरा रख कर यहाँ से मरने के बाद परलोक में कैसे अवतार में जाना निश्चित किया है ? अपने पूर्वजोंकी कौनसी सुन्दर विरासत हमने ग्रहण की? जीवन में कौनसी उतारी ? यह सब सोचने योग्य है ! चरित्र-ग्रन्थ भी हमें ऐसा सब बहुत बहुत सिखाते हैं। इनमें से केवल हिसाब निकालना चाहिए - निकालने की गरज़ होनी चाहिए।

इतने सुन्दर स्वप्न आने से राजा अब देखो, उनका कैसा आदर करता है ? उसने देवों की पूजा की, पूज्यों की भक्ति की। स्नेही जनों का सम्मान किया।



दीन-अनाथों को दान दिये । .... क्या क्या किया ? सिर्फ अकेले बाजे बजवाना नहीं, यह सब उचित व्यवहार चाहिए । यह मूल वस्तु के फल के स्तर को बढ़ाता है, फल को उच्च बनाता है । एक कुल दीपक पुत्र, कुल में सूर्य के समान पुत्र कैसे मिले? पूर्व भूमिका में ऐसी कोई महिमा किये बिना ? यों देवाधिदेव के पास से तथा गुरु के पास से उच्च धर्म की प्राप्ति किस तरह हो ? भूमिका में कुछ भी किये बिना ? कुछ बलिदान दियें बिना ?

मुफ्तखोर की रीति रस्म अपनायी जाती है इसीलिए उच्च 'धर्म-प्राप्ति की सामग्री मिलने पर भी यह धर्म प्राप्त नहीं होता ।

स्नात्र तो सुन्दर पढ़ाया परन्तु बादमें पुजारी को-मंदिर के आदमी को दान दिया ? बाहर दीनदुःखियों को तृप्त किया ! देवाधिदेव के चरणों में पड़ कर यह उपकार माना भी सही कि 'प्रभु ! तूने मुझ पर बहुत बड़ी कृपा की कि महान् स्नात्र का लाभ दिया ? आज मैं इसकी कृतज्ञता के रूप में इतनी रकम का पुण्य करूँगा । आज इस विगई रस का त्याग करूँगा । इनमें से कुछ न करना, और हृदय में उछलनेवाला रस जमाना है ! जमेगा ?

शारीरिक रोग की तरह आत्मिक रोग के पीछे कितना कितना खर्चना - करना ?

एक शरीर के रोग में कोई सेवा कर जाय, दवाई दे, अरे, आश्वासन दे जाय तो उस का कितना सारा उपकार माना जाता है, बाद में उसका बदला चुकाने की आतुरता होती है, और यथासंभव सेवा कर ली जाती है, तो फिर आत्मा के रोग में कोई सेवा-दवा-आश्वासन दे उसका कुछ नहीं करना ?

आत्मा को विषयमूढ़ता, इन्द्रिय-दासता, कषायज्वर, मद-ईर्ष्यादि विकार आदि सब कितना कितना चिपका हुआ है ? कितनी कितनी पीड़ाएँ हैं । उनके निवारण हेतु देवदर्शन-पूजन-स्नात्र, अंगरचना, गुरुवंदन व्याख्यान-श्रावण, हितशिक्षा, उत्तम त्याग-तप व्रत नियम शास्त्र आदि का मिलना - यह सब सेवा दवा-सान्त्वना मिलने के समान है, यह जो मिलता है उसके पीछे कौनसी कृतज्ञता प्रकट करते हो ? क्या त्याग करते हो ? नहीं, कुछ नहीं । यह मुफ्त खोरी पच जाएगी । पचे ? हृदय में इस तरह भला धर्म के रंग उछलेंगे ?

राजा ने उचित पूजा-सत्कार दानादि कर के सभा एकत्र की। क्यों? स्वप्न का निश्चित अर्थ जानना है, इसी लिए सिर्फ मंत्रियों अथवा ज्योतिषियों को ही नहीं अपितु अनेक बुद्धिमानों को बुलवाया, वहाँ महान वीर पुरुष, बड़े वैद्य, विद्वान् ब्राह्मण, कवि पुरोहित, वारांगनाएँ, चित्रकार, लक्षण-शास्त्री, सेनापती, धातुवादी,

शकुन-स्वप्नवेत्ता, नैमित्तिक वगैरह आये - यों कहो कि कोई ऐसी कला, कोई ऐसा विज्ञान नहीं जिसके ज्ञाता उस सभा में न हों।

अब राजा कहता है,—

‘हे मंत्रियों! आज महारानी ने कमल की माला में लिपटे हुए चन्द्र को स्वप्न में देखा है। तो उसका फल क्या है?’

तब स्वप्नशास्त्री कहते हैं - ‘महापुरुष की जन्मदात्री स्वप्न में चन्द्र, सूर्य, वृषभ, सिंह हाथी वगैरह देखती है, अतः यह स्वप्न किसी महान् पुरुष के जन्म की पूर्व सूचना देता है।’

राजा ने कहा - ‘यह तो आपने चन्द्र का फल बताया. पर साथ की कमल-माला का फल क्या?’

उन्होंने कहा - ‘यह भी सूचित करता है कि ऐसी एक पुत्री भी आपके होगी।’

सब सुन रहे हैं परन्तु मुख्यमंत्री के दिमाग में यह बात नहीं बैठती। अतः वह कहता है, ‘महाराज ! पुत्री होने की सूचना तो तभी मानी जाती यदि चंद्र के साथ माला अलग से होती। परन्तु इस स्वप्न में तो कमल-माला चंद्र से लिपटी पड़ी है अतः यह सूचित होता है कि पुत्र के यह कोई पूर्व जन्म स्नेहवाली पत्नी होगी।’

दृष्टि की बारीकी और सावधानी यह है कि वस्तु या प्रसंग में से बराबर योग्य परिणाम निकाला जाय। राजा के मस्तिष्क में मंत्री की बात जँच जाती है। इसलिए मान लेता है कि, ‘बराबर, इसी तरह की संभावना प्रतीत होती हैं।’

महान के आगमन पर क्या क्या होता है ?

बस, सभा बरखास्त हुई। रानी गर्भ-वहन कर रही है और

(१) उससे वह अधिक शोभित होने लगती है - गर्भ के प्रभाव से।

(२) उसमें दया, दान और दाक्षिण्य, विनय, विद्या और विज्ञान वगैरह की वृद्धि होने लगती है।

(३) वह राजा की अधिक प्रिय बनती है।

(४) परिवार को अधिक प्रसन्न करनेवाली होती है।

(५) सौत-रानियों का उसके प्रति आदर बढ़ता है।

(६) वह सगे सम्बन्धियों को अच्छा देनेवाली बनती है।

(७) नगरनिवासियों को आनन्दरूप होती है।

(८) साधु-पुरुषों का विनय करनेवाली, सज्जनों के अनुकूल बर्ताव करनेवाली और जीवों पर अनुकंपायुक्त बनती है।

महान् आत्मा के आगमन के ये सब लक्षण हैं कि उससे ऐसा सब प्रवर्तित होता है। उसके विपरित अधम के आगमन में समझना । इस से यह भी सूचित होता है कि मानवता के विकास में क्या क्या समाविष्ट होता है ! ऐसा ही सब, कि दया, दान विनय, बहुमान लोकप्रियता आदि आदि जगमगा उठें । मानव बने हैं तो अब मानवता विकसित करने के लिए ऐसी सब विशेषताएँ प्रकाशित करनी होंगी, यह न भूलना । धन बढ़ाये गये, अच्छे खानपानादि भोगते गये, रोब-सत्ता जमाते गये, अहंता में बह गये, - तो ये सब मानवता के शोभाकारी तत्त्व नहीं हैं। शोभास्पद तत्त्व तो दया, दान, विनय, भक्ति-बहुमान, लोकप्रियता आदि ही माने जाएँगे ।

गर्भ वहन करने के साथ रानी को शुभ दोहद उत्पन्न होते हैं। जिन्हें राजा पूर्ण करता है ।

## ८. राजपुत्र का जन्म

गर्भ की अवधि पूर्ण होने पर रानी शुभ तिथि-करण नक्षत्र में, उच्च ग्रहों के योग में एक सुन्दर पुत्र को जन्म देती है । तुरन्त ही दासी राजाके पास जाकर शुभसमाचार बधाई - देती है 'महाराज ! एक बहुत मनभावन सुन्दर समाचार देती हूँ कि महारानी साहिबाने आपको आनन्दकारी ऐसे पुत्र रत्न का अभी ही सुखपूर्वक प्रसव किया है ।'

यह सुन कर राजा को इतना अधिक हर्ष उमर आता है कि वह अपने अंगोपर से हार कुंडल वगैरह आभूषण उतार कर दासी को दे देता है । महान वस्तु की प्राप्ति के आनन्द के कारण धन तुच्छ मालूम होता है अतः उसका त्याग करने में संकोच या हिचकिचाहट नहीं होती । राजा के मन 'कहाँ महान् पुत्र ? और कहाँ यह तुच्छ लक्ष्मी ?' अतः महान की प्राप्ति होने पर उसकी कद्र लक्ष्मी के दान से ही होती है- यह स्वाभाविक है ।

### अधिक प्रिय क्या ?

लक्ष्मी की कीमत घटा कर अगर महान आध्यात्मिक वस्तु की, आत्महितकारी तत्त्व की तथा उसके दाता की कीमत आंकी जाय तभी लक्ष्मी का व्यय आसान बनता है । 'यह सब प्यारा, पर मेरा पैसा मुझे ज्यादाह प्यारा' यह वृत्ति रखी जाय

तो उचित दान भक्ति आदि संभव नहीं। 'हाय पैसा ?' करने वाला अच्छी चीज की क्या कद्र कर सकता है ? परन्तु एक खूबी की बात है कि बेटी ब्याहनी होगी तो खूब धन खर्च करेगा, कर के आस-पास का सब शोभित करेगा, मुश्किल होती है केवल आत्महितकर प्रसंग के अथवा आत्माहितकर पदार्थ के सम्बन्ध में। यह प्रेम का प्रतिशत प्रकट करता है कि कितना प्रेम आत्महित की वस्तु का ? और कितना दुनियादारी एवं लक्ष्मी का ? जहाँ प्रेम कम वहाँ फिर दिल मिलने शामिल होने की क्या बात ?

### जन्मोत्सव

राजा ने पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में बड़ा उत्सव किया। कैदियों तथा पिंजड़ों में बन्द पक्षियों को मुक्त कर दिया। बाजे बजवाये। राजमहल में वारांगनाएँ - गणिकाएँ नृत्य कर रही हैं। नगर में तरह तरह के विनोद - मनोरंजन करनेवाली टोलियाँ काम में लगा दी गयी हैं जिस से नगर जन मजा लूट सकें। मांगनेवालों को अच्छे से दान दिये गये, स्नेहियों का वात्सल्य किया गया। सामन्त राजा लोग, नगर श्रेष्ठि गण आदि आकर राजाको बहुमूल्य उपहार देते हैं। तो राजा भी सामने से उन्हें ऐसी भेंट देता है।

तत्पश्चात् राजाने सिद्धार्थ नामक ज्योतिषी को बुलाया। वह आकर राजा का अभिनन्दन करता है और पर्षदा के उचित आसन पर बैठता है। राजा उससे पूछता है, कही, कुमार के जन्मके समय ग्रहों की दृष्टि कैसी है ?

### जन्मग्रह फलादेश

ज्योतिषी कहता है, "महाराज ! इस समय आनन्द संवत्सर, शरद ऋतु, कार्तिक मास, विजया तिथि, बुधवार, हस्त नक्षत्र, कन्या राशि, सुकर्म योग और सौम्य ग्रह से दृष्ट लग्न है। सभी ग्रह उच्च स्थान में हैं और पापग्रह ग्यारहें में हैं। फलतः यह पुत्र चक्रवर्ती अथवा चक्रवर्ती-समान राजा होगा।" बाद में राजा के पूछने पर ज्योतिषीने भिन्न भिन्न राशियों में जन्म होने के भिन्नभिन्न फलों का वर्णन किया। फिर राजाने उसके वचनों को स्वीकार कर उसे सात हजार रूपयों का दान दिलवाया।

### पुत्र का नामकरण

जन्मोत्सव बारह दिन चला। बारहवें दिन बड़े ऋषि समान महाब्राह्मणों को

निमंत्रित कर पूछा कि 'पुत्र का नाम क्या रखा जाय ?' उन्होंने कहा, "जो आपको अच्छा लगे ।" तब राजा ने कहा, (स्वप्न में चन्द्र पर कुवलय (कमल) की माला देखी है अतः नाम कुवलयचन्द्र हो; साथ ही यह पुत्र श्रीदेवी ने दिया है इसलिए दूसरा नाम श्रीदत्त हो ।' सब खुश होकर इसे स्वीकार करते हैं ।

धर्मी आत्मा को पुत्रजन्म के पीछे होनेवाली इस समस्त विधि पर से यह समझ लेना चाहिए कि पुत्रजन्म तो एक लौकिक संपत्ति है, और अगर उसका इस तरह से स्वागत होता है तो जीवन में जब उस उस प्रकार की विशिष्ट धर्म के लाभस्वरूप लोकोत्तर संपत्ति मिले उस वक्त उस का किस रीति से स्वागत होना चाहिए । सुनते हैं न कि श्रेणिक राजा प्रभु महावीर की सुखशाता के समाचार लानेवाले को सुवर्णमुद्रा या अलंकार देकर खुश करते थे।

### रामजी श्रावक की गुरुभक्ति :-

हीरसूरिजी महाराज के खंभात के निकट आगमन की बधाई देनेवाले आदमी को सूरिजी महाराज के भक्त रामजी गंधार श्रावक ने इनाम में चाबियों के जूडे में से कोई भी एक चाबी पसंद करने को कहा और 'उस चाबीवाली अलमारी, तिजोरी या गोदाम का माल तुम्हें मिलेगा' ऐसा कहा । उस बेचारे का भाग्य दुर्बल (सँकरा) कि खासी बड़ी चाबी चुनी; तोभी उसके गोदाम में रखे हुए रस्सों की कीमत रूप में उसे ग्यारह लाख रूपये मिले। तत्पश्चात् रामजी श्रावक ने लाखों रूपयों का व्यय करके गुरु का प्रवेश-महोत्सव किया । उसमें दान भी खूब दिया । सांसारिक जीवन में पुत्र के जन्म का भव्य स्वागत हो तो क्या धर्म -गुरु के आगमन का स्वागत भव्य रीति से न होना चाहिए ? जबरदस्त बलिदान न दिया जाय ?

ऐसे किसी भी विशिष्ट धर्म की प्राप्ति के अवसर पर यथा संभव योग्य स्वागत होना चाहिए, नहीं तो वह वैसा फल नहीं देगा ।

### बढ़िया व्याख्यान का असर क्यों नहीं टिकता ?

इस पर से समझ में आएगा कि अच्छे से अच्छे व्याख्यान सुनने पर भी शिकायत क्यों रहती हैं कि हम पर इसका असर बाद में बना नहीं रहता, उसका कारण क्या ? कारण यही कि उत्तम जिनवाणी मिलने के बाद उसकी खुशी का कोई सक्रिय त्याग कर के स्वागत नहीं किया जाता । उसी तरह कोई विशिष्ट गुरुशिक्षा मिले, कोई अपूर्व शास्त्र सीखने मिले, किसी विशिष्ट स्नात्रादि पूजा या

प्रभु की विशिष्ट आंगी (अंगरचना) के दर्शन का लाभ मिल जाय किसी व्रत-नियमादि धर्म का विशेष लाभ हो जाय - वगैरह वगैरह में उस पर बलिदान दिया जाय यह आवश्यक होते हुए भी नहीं किया जाता। फिर उसका शक्तिशाली शुभ प्रभाव किस तरह टिक सकता है ?

### वैभव देखते हुए दृष्टि धर्म पर केन्द्रित

यहाँ राजकुमार कुवलयचंद्र का जन्म राजाने भव्य रीति से मनाया । फिर पाँच धायमाताएँ (धात्रियों) नियुक्त कर के उसका पालन पोषण किया जाता है । वह दूज के चाँद की तरह बढ़ रहा है । रानियों एवं सामंत राजाओं के हाथों खेलाया जाता है । आठ वर्ष की उम्र में अष्टमी के चन्द्र के समान बन कर अब वह लेखाचार्य - कलाचार्य को सौंपा जाता है । पुण्य का महान प्रभाव है कि पुत्र ने यहाँ जन्म लेकर तुरन्त कोई पराक्रम नहीं किया था तो भी उसे उच्च सम्मान मिलते हैं । इसीलिए ऐसे वैभव सम्मान की बात सुनकर मन में उन्हे पाने के अरमान नहीं बल्कि पुण्य के अरमान जागने चाहिए । मन को ऐसा हो कि मैं ऐसे उच्च कोटि के पुण्योपार्जन कैसे करूँ? ।' इस तरह फल के बदले कारण पर दृष्टि जाने से पुण्य के कारण स्वरूप धर्म पर दृष्टि केन्द्रित होती है । अतः जगत में इस तरह के वैभव सम्मान मुफ्त के रागादि द्वारा पाप की गठरियाँ न बांधी जायँ, धर्म बुद्धि बढ़े, धर्म के मनोरथ और योजनाएँ बनाई जायँ और उससे पुण्यका और पापक्षय का लाभ प्राप्त हो ।

### कला-विद्या शीघ्र कैसे सीखी जाती है -

राजपुत्र आठ साल का होने पर राजा अब उसे कलाचार्य को सौंपता है परंतु किस प्रकार ? कलाएँ सीखने के लिए एक अलग जगह में स्वतंत्र मकान बनवा कर उसमें कुवलयचंद्र को कलाचार्य के साथ रखा जाता है। वहाँ किसी कुटुंबीजन का प्रवेश नहीं, उनसे मिलना मना जिससे कला-विद्या अच्छी तरह से शीघ्रता और एकाग्रता के साथ सीख सके; उसी तरह इस संस्करण की उम्र में कोई गलत संस्कार प्रवेश न कर जायँ । बारह साल इस तरह चला। उस अवधि में माता पिता ने मोह को कैसे एक ओर रख दिया होगा? मोहमूढ सगे-स्नेही और नटखट उधमी बच्चों आदि का संसर्ग से दूर रखा होगा? विद्या और संस्कार उत्तम कोटि के किस तरह प्राप्त किये जाते हैं ?

एक भी ग़लत वातावरण न रखा जाय तभी उत्तम विद्या और उत्तम संस्करण मिलता है अन्यथा जीव के साथ अनंतकाल की ग़लत रुचियाँ और बुरी वासनाएँ तो लगी हुई चलीही आ रही है । अब यहाँ उस उच्च भव में उसके पोषक संयोग मिले तो यह सब ग़लत घटेगा? या उल्टा अच्छी तरह दृढ़ होगा ? उदाहरण के तौर पर जीव को जगत का उल्टा-पुलटा, राख और धूल उपयोगी और निरुपयोगी देखने-सुनने की रुचि तो है ही, अब यहाँ यदि यह सब यथेच्छ करते रहे तो यह आदत दृढ़ होती जाएगी या और कुछ ? छुटपन से ही इस तरह व्यर्थ इधर उधर नजर करता रहे, फुटकर अनाप शनाप चीजों में आँख मजबूत ही बनेगी । बाद में बड़े होने पर वही सब बराबर अच्छी तरह चला करे उसमें क्या आश्चर्य ? इसीलिए तो यह शिकायत जारी है कि “हमारा चित्त स्थिर क्यों नहीं रहता ? क्यों आड़े टेढ़े विचार आते हैं ? आँखे क्यों चाहे जहाँ दौड़ जाती है। बेकार की बात बोली जाती हो क्यों कान से वह पकड़ी - सुनी जाती है ।” छुट पन से ऐसी आदत पड़ी हो पोषी गयी हो तो ऐसा नहीं होगा तो और क्या होगा ? और इससे अनादि से रसवाले जीव उस में मुँह डालेंगे ही । इसीलिए बचपन में ऐसे निमित्तों एवं वातावरण से दूर रहें तो ही जो कुछ भी अंत शंत उल्टा पुल्टा न देखा जाएगा न सुना जाएगा, और उससे ग़लत आदतों को पोषण नहीं मिलेगा, ग़लत संस्करण नहीं बढेगा ।

कहिये आप बालकों पर कहाँ यह ध्यान रखते है ? बालकों को चाहे जैसे विद्यार्थियों के स्कूल में छूटे छोड़ देते है न ? घर में भी पढ़ने बैठते है तो खुले चबुतरे जैसे हिस्से में। वहाँ वह अपने आँख-कान और चित्त को कितना इधर उधर भटकने देगा ? ऐसे निमित्त वातावरण में तो उसे बहुत बहुत बुरा मिलेगा फिर अच्छा निर्माण कहाँ से हो? पुराने बुरे रस और बुरे संस्कार घटेंगे किस तरह ?

और फिर आपको बडों को भी क्या है ? जितने अनावश्यक और बोधक निमित्तों एवं वातावरणमें आँख-कान डालेंगे उतना उसमें आत्मा बहेगा; उतनी मन की चंचलता चला करेगी, इसीलिए तो सामायिक घर में बैठ कर करने के बजाय उपाश्रय में करो, उसमें फर्क पडता है । घरमें तो आँख-कान के सामने कितना ही व्यर्थ का तथा बाधक वातावरण अर्थात् दृश्य और शब्द आया ही करते हैं ? वहाँ चित्त उस में गये बिना कैसे रह सकता है ? और ऐसे चंचल चित्त से सुन्दर एकता के जाप - क्रिया - अध्ययन की साधना हो ही कैसे सकती है ?

जीवन में यह बहुत आवश्यक है कि हमारे आँख - कान बेकार और बाधक निमित्त स्वरूप दृश्यों और शब्दों पर न जायँ ।

विशेषतः बचपन में यह अत्यन्त आवश्यक है; जिससे बुरी आदतें पुष्ट न हों, अच्छा विकास हो, जिससे बाद में बड़े होने पर जागृत रहकर ऐसे व्यर्थ के या बिगाड़नेवाले निमित्तों और वातावरण की ओर आँख और कान न ले जाए ।

राजा दृढवर्मा ने देवी से वरदान माँगकर पाये हुए अपने एकमात्र पुत्र को विद्या और संस्कार देने के लिए यह योजना की है कि एक अलहदा अल्पित मुकाम में उसे कलाचार्य के पास रखा है; जहाँ अपना या लडके की माता का या अन्य किसी सगे सम्बन्धी का सहवास ही न हो । मात्र होशियार कलाचार्य का ही संपर्क; जो उसे रसपूर्वक नई नई विद्याएँ तथा उत्तम संस्कार दिया ही करता है, दिया ही करता है । ऐसा कितने समय तक ? बारह वर्ष । ग्रंथकार कहते हैं— ‘बारस वरसाइं ठिओ अदीसमाणो गुरुयणेणं ।’ गुरुजन देख न सकें इस तरह कुवलयचंद्र आठ वर्ष का बीस वर्ष तक पहुँचा तब तक शिक्षण पाता रहा । इस रीति से उसका विकास कितना व्यवस्थित और कला-विद्याओं में उसकी निष्णातता कैसी (अच्छी) हुई होगी ?

### पुत्र का पिता के पास आगमन

बस, सब कलाओं और शास्त्रों में पारंगत होकर कुमार पिता के पास आया । बहुत स्नेह और उत्कंठापूर्ण हृदय से पिता के चरणों में प्रणाम करता है । राजा भी अनन्य स्नेह तथा चिरकाल के विरह से उद्भूत आँसुओं भरी आँखों के साथ उसके सिरपर हाथ फेर कर, साथ आये हुए उपाध्याय से पूछता है, “क्यों ? कुमार ने कला-समूह ग्रहण कर लिया ?”

उपाध्याय ने कहा, “देव ! नहीं ग्रहण किया ।”

यह सुनते ही राजा को वज्रका सा आघात लगा; उसने पूछा, ‘क्यों नहीं?’ उस संदेह हुआ कि, ‘क्या कुमार ने उद्धत बर्ताव किया ? अथवा ठोठ (मूर्ख) विद्यार्थी बना रहा ? बात क्या है ?’ ये ना क्यों कहते हैं ? और यदि सचमुच ऐसा ही हुआ हो तो बारह वर्ष इस तरह व्यतीत करने का मतलब क्या निकला ? साथ ही कलाविद्या ग्रहण करने के अवसरपर वह नहीं किया तो अनवसर पर तो ग्रहण करने की बात ही क्या ? तो इसके बिना भावी जीवन कैसा निकम्मा ?



## मानव-काल धर्म-अभ्यास का काल है

मानवभव में यह सब लागू होनेवाला है । मानव-भव अर्थात् धर्मकला-धर्मविद्या के शिक्षण-संस्कार का सुदृढ अभ्यास कर के उसमें निपुण बनने का अवसर। जैसे बाल्यकाल-कुमार काल बीतने के बाद कला - विद्या का अध्ययन नहीं होता, वैसे ही मानवकाल (भव) बीत जाने के बाद गुणों का एवं धर्म का अभ्यास नहीं हो सकता । तो गुणों के और धर्म के उत्तम अभ्यास के बिना परभव के समय में जीवन कैसा नकम्मा और दोष-दृष्टियों से पूर्ण बनेगा ? काल को पहचानना आवश्यक है । बालक को नादान मन से खाना-पीना-खेलना तो अच्छा लगता है परन्तु उसीमें समय बिताने के बाद बरबादी । उसी तरह हमें यहाँपर नादान बच्चे की तरह मकान-दुकान-कुटुम्ब, आरंभ-परिग्रह-विषय, खान-पान-मौज अच्छे तो लगते हैं, परन्तु उसीमें अमूल्य मानवकाल बिता देने पर, खो डालने पर कितनी बरबादी ? अतः नादान मन की ओर मत देखो कि उसे क्या पसंद है । बालक को नापसंद राह पर भी गुरुजन चलावें वैसे वह चलता है उसी तरह हमें कठिन लगनेवाले धर्म-मार्ग पर भी ज्ञानीजन जैसे चलावें वैसे बरतना चाहिए । अन्यथा, बाद में हम 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' धर्म-रहित मनुष्य पशुओं के समान हैं, इस तथ्य के उदाहरण (पात्र) बनेंगे ।

यहाँ राजा को संदेह हो गया कि 'क्या कुमार ने कोई विद्या-कला ग्रहण नहीं की ?' उसे आघात लगा, तब उपाध्यान ने तुरन्त स्पष्टीकरण किया -

### कलाग्रहण न करने का स्पष्टीकरण -

“महाराज ! आप जराभी अफसोस न करें । आप समझते हैं वैया नहीं है । किन्तु कुमार ने कला नहीं ग्रहण की उसका भेद आपके सामने खोलता हूँ । देखिये, इस जगत पर राज्य करने वाले प्रथम राजा-प्रजापति तो खुद ही धर्म-अधर्म की व्यवस्था विभाजन करने वाले हुए । बाद में उन्होंने अपने भरतादि सौ पुत्रों को कला सिखायी। पुत्रों ने ग्रहण की । उन्होंने भी अपने पुत्र-पौत्रों को वे कलाएँ दी । इस तरह करने से परंपरा से कलासमूह राजाओं में उतरता आया । अब काल ऐसे द्वास को प्राप्त हुआ है कि उस उत्तम कला-कलाप को ग्रहण करने और सम्हाल रखने में समर्थ कोई व्यक्ति इस भूमंडल पर नहीं रहा। फलतः बेचारी कला अशरण हो गयी । इतने में उसे यह कुमार मिल गया । अतः उसने स्वयं आकर कुमार का वरण किया । इसलिए मैंने कहा कि 'कुमार ने कला ग्रहण करने का प्रयत्न ही नहीं किया । इसका अर्थ यह कि कलाने स्वयं आकर कुमार का

ग्रहण किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुमार को कला विद्या सीखने में कोई परिश्रम ही नहीं करना पड़ा; मानो बतायी और आ गयी, अर्थात् कला विद्याने कुमार को स्वयं वर लिया ।’

यह सुनकर राजा को बड़ा उत्साह आया। मन को हुआ - ‘वाह ! कुमार की कितनी उच्च योग्यता है।’ वह बड़े हर्ष के साथ कुमार को गोद में लेकर आलिंगन करता है। फिर पूछता है उपाध्याय से - ‘कुमार ने कौन कौनसी कलाएँ ग्रहण की ?’

उपाध्याय ने कहा, ‘देव ! सुनिये ! लेखन, गणित, व्याकरण, तर्क, नाट्य, गीत-वाजिंत्र, ज्योतिष, वेद, गन्धर्व, काव्य, स्वप्न-शास्त्र, शकुनशास्त्र, अश्वविद्या, हस्तिविद्या, लक्षणशास्त्र, दंतकर्म, लेप्यकर्म, चित्रकर्म, धातु-रत्न-क्षारादि परीक्षा, व्यापार वगैरह - कितनी ही विद्याएँ कलाएँ गिनायी ।

कुमार ने बारह वर्ष में उतना सारा पढ़ लिया ? आपको ऐसा आश्चर्य होगा, परन्तु यह समझ में रखें कि पढ़ाने की निश्चित प्रकार की पद्धति हो तो थोड़े समय में बहुत बहुत पढ़ाया जा सकता है। और पढ़ना भी खूब दिल लगाकर तथा हर रोज के पक्के पुनरावर्तन के साथ हो तो अच्छे से अच्छा सीखा जा सकता है।

आज की शिक्षा-प्रणाली की तो बात ही करने योग्य नहीं है। बंगाल के एक पंडित आये थे, कहते थे - आज ज्यादाह ज्यादाह डिग्रीधरों को देख कर मालूम होता है कि

**पंडित बड़े हैं परन्तु पांडित्य घट गया है।**

काशी के पंडित कहते थे कि बड़ी बड़ी एम.ए. आदि की डिग्री धारण करनेवाले संस्कृत के प्रोफेसरों को वहाँ के प्राचीन पंडितों से पूछने आना पड़ता है, क्योंकि पंडितों का ज्ञान यानी ग्रन्थ के ग्रन्थ कंठस्थ ! मानो Living Library - जीवंत ज्ञान भंडार देख लीजिये। हमारी प्राचीन शिक्षण पद्धति ही ऐसी है कि विद्या मस्तिक में स्थिर हो जाय।

जब कि अंग्रेजों की चलायी हुई नयी शाला - पद्धति में तो विद्या किताब में ही पडी रह जाती है, विद्यार्थी को उसका परिचय प्राप्त होता है परन्तु बोध खंड खंड बुद्धिमत्ता जैसा। कहते हैं ना 'Jack of All , Master of None', सबका जानकार कहा जाय परन्तु एक का भी निष्णात नहीं। क्योंकि विद्या पुस्तकस्थ है पर, हृदयस्थ नहीं। आज के लड़के परीक्षा के बाद गर्मी की छुट्टियों के बाद

स्कूल में आर्ये और अगर तभी फिर से उनकी परीक्षा ली जाय तो कितने विद्यार्थी उत्तीर्ण होंगे ? और पहले दूसरे नंबरवाले विद्यार्थी को भी कितने मार्क मिलेंगे ?

आज की ग्रन्थ-लेखन की पद्धति भी अजीब हैं। ग्रंथ में सौ-पचास शास्त्रों के रेंफरेन्स मिलते हैं, अमुक अमुक पाठ-साक्ष्य देखने को मिलते हैं, परन्तु इसका क्या यह अर्थ है कि ऐसा सभी लेखको को इतने सारे शास्त्रों का ज्ञान है ? नहीं जी, यह तो केवल उन उन शास्त्रों की भूमिकाएँ पढ लेना, उनमें से अपने लेख के विषयों का ही जरा सा भी समर्थन कहीं मिले तो ऐसी एकाध बात ढूँढ कर ग्रंथमें से उसके पाठके साथ चुन लेना और अपने लेख में उद्धृत कर लेना। अथवा यों भी ग्रंथों में बीच के कोई भी दो चार पृष्ठ देख कर उनमें से एकाध बात जरा भी ऐसी मिल जाए जिसे अपने लेख में कहीं भी किसी तरह से जोड़ा जा सके तो बस; इसके पाठ तथा ग्रन्थ के नाम के साथ उद्धृत कर लिया, और ऐसे ५०-७५ साक्ष्य आ गये कि लेख का आकार महापांडित्य पूर्ण माना जाता हैं।

जी, यह तो केवल उन उन शास्त्रों की भूमिकाएँ पढ लेना, उनमें से अपने लेख के विषयों का ही जरा सा भी समर्थन कहीं मिले तो ऐसी एकाध बात ढूँढ कर ग्रंथमें से उसके पाठके साथ चुन लेना और अपने लेख में उद्धृत कर लेना। अथवा यों भी ग्रंथों में बीच के कोई भी दो चार पृष्ठ देख कर उनमें से एकाध बात जरा भी ऐसी मिल जाए जिसे अपने लेख में कहीं भी किसी तरह से जोड़ा जा सके तो बस; इसके पाठ तथा ग्रन्थ के नाम के साथ उद्धृत कर लिया, और ऐसे ५०-७५ साक्ष्य आ गये कि लेख का आकार महापांडित्य - पूर्ण माना जाता हैं।

### सच्ची (वास्तविक) अभ्यास पद्धति :-

देखना तो यह है कि जो व्यक्ति जिस शास्त्र का विद्या का, विद्वान माना जाता हो उसे अपने सामने पुस्तक का आधार लिए बिना जबानी पढाना आता है या नहीं ? खुद मुँहसे बोल कर ऐसा समझाता जाय कि जिससे विद्यार्थी अपने आप पुस्तक की एक एक लाइन बराबर समझ सकें। शिक्षक के पास चाहे जहाँ चाहे तब (कहीं भी-कभी भी) विद्या माँगो न ? तो वह तो मानो जीवंत - मूर्तिमान् शास्त्र की तरह बोलने ही लग जाए। कारण यही कि खुद पढा था निश्चित पद्धति से, और गुरु के महान् विनय-सेवा को सुरक्षित रखते हुए पढा

था। 'विनय के बिना विद्या नहीं? - आज वह बुनियादी वस्तु विनय है कहाँ? विद्यार्थी आराम से बैंच पर बैठे बैठे सुनते हैं। और मास्टर या प्रोफेसर खड़ा खड़ा पढ़ाता है। गुरु की सेवा कहाँ है? पढ़ाने की पद्धति में भी पूरे विषय का विभाजन कर के हर विभाग में निश्चित संख्या में मुद्दों की योजना कर के ऐसी सुसंकलित रीतिसे पढ़ाना कि विद्यार्थी अपनी अंगुलिया के पोरों पर सब गिन कर बता सकें। उसी तरह प्रत्येक मुद्दे का विवेचन भी ऐसा कि उसकी व्याख्या, उसके लक्षण, दृष्टांत, गुण-दोष वगैरह ऐसे मुद्देसर ढंग से करना कि वह वस्तु विद्यार्थी की नजर के सामने दर्पण - आइने की तरह खड़ी हो जाय। आसानी से कंठस्थ हो जाय। यह पद्धति भी कहाँ है? यह नहीं, फिर विद्यार्थी प्रतिदिन और जहाँ से वह ग्रन्थ शुरू किया वहाँ से सारा पारायण दिनोंदिन कर जाय, यह पद्धति भी कहाँ है? यहाँ तो आज का सीखा हुआ घर जाकर आज या कल देख ले कि बस हुआ। दूसरे दिन, तीसरे दिन ऐसे हर रोज उसे कौन देखता - याद करता है? केवल परीक्षा के समय कुछ इधर उधर की मेहनत कर लेना; ३०० पृष्ठों की पुस्तक में से करीब ६० पृष्ठों की बात पूछी जाय, तदुपरांत आठ में से किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखना; उस में भी १०० में से ३५ मार्क पा लेना अर्थात् उस विषय में उत्तीर्ण। यह है आज की शिक्षा-पद्धति। उसमें भला ज्ञान भी कैसा हो?

### कुमार की विशेष कुशलता किसमें ?

राजकुमार कुवलयचन्द्र पुरुषों की बहत्तर(७२)कलाओं में पारंगत हो गया है। बारह वर्षों में बहुत बहुत सीख कर आया है। उपाध्याय ने सबका ब्यौरा दिया, तब राजाने पूछा 'इन सबमें से कुमारने कौनसी कला विशेष रूपसे ग्रहण की और पचायी है?'

उपाध्याय ने उत्तर दिया - "महाराज ! कुमार को जो जो कला वैसे सामान्य रूप से सिखायी गयी, तो भी कुमार तो उस उस कला में अधिक निष्णात हो गया है, अतः ऐसी कोई कला नहीं जिसमें विशेष पारंगता प्राप्त न की हो, फिर भी मेरे कहना ही रहा कि कुमार ने (१) सकल सौभाग्य के कारण स्वरूप और सत्पुरुष की पहली योग्यता रूप दाक्षिण्य पहले सीखा है। दाक्षिण्य के कारण (i) वह दूसरों की प्रार्थना का भंग नहीं करेगा। और (ii) अकार्य करने से लज्जावश पीछे हटेगा। (२) दूसरे - अपने उत्तम कुल को शोभित करने वाला और मान -प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला विनय उसने सुष्ठुरूप से आत्मसात किया

है। (३) तदुपरान्त अवसर पर क्या बोलना, क्या देना, क्या करना, किस तरह अपने स्वभाव को मधुर एवं मृदुतामय बनाये रखना आदि में विशेष कुशलता प्राप्त की है। विरोधी को भी अप्रिय लगे ऐसा बोलना नहीं सीखा। सब कलाएँ इसने सीख लीं परन्तु (४) स्नेही या (५) शत्रु को पीठ दिखाना इसे नहीं आता।”

यह सुन कर राजा खुशी से फूला नहीं समाता। कहता है, “सुन्दर ! सुन्दर!” कहते हुए कुमार के अंग-प्रत्यंग की ओर देखता है। तो उन्हें भी सुगठित देख कर तृप्ति का अनुभव करता है।

यहाँ देखने की खूबी यह है कि उपाध्याय ने आखिरकार विशेष जानकारी किस विषय में बतायी ? अन्य किसी कला विद्या में नहीं, बल्कि दाक्षिण्य, विनय, अवसरोचित बोल-चाल, मधुर स्वभाव, स्नेह की वफादारी, कैसे ही दुश्मन या संकट-आफत के सामने निडरता, वगैरह में कुशलता प्राप्त होने की बात कही और वह कुशलता याने उसका सिर्फ भाषण देने की नहीं, किंतु उसे जीवन में सुन्दर ढंग से परिणत करने की, अमल करने की कुशलता।

### नयी प्रजा के राग का निदान

इस पर से ज्ञात होगा कि आज स्कूल - कॉलेज, विश्व-विद्यालय आदि का विस्तार और बड़ी बड़ी डिग्रियाँ-उपाधियाँ बढ़ जाने के बावजूद अपराधी मानस में क्यों वृद्धि हो रही है ? आज विद्यार्थी-जगत क्यों उच्छृंखल - उद्दण्ड बनता जा रहा है ? क्यों उसके विरुद्ध बड़ी शिकायतें उठती हैं ?

कारण यही है कि विद्यार्थियों को दाक्षिण्य, विनय, सेवा अवसरोचित वाणी व व्यवहार, मधुर-मृदुस्वभाव, स्नेह की वफादारी, संकट में निर्भयता, आदि में पारंगत बनाने का मुख्य लक्ष्य ही नहीं है। इस दिशा में शिक्षण-संस्करण का कोई प्रयत्न ही नहीं है। यही विशेषतः सिखाना चाहिए यह बात दृष्टि में है ही नहीं। इसके विपरीत शिक्षकगण सिनेमा-चित्रोंकी तथा बाहरी दुनिया की बीभत्स, विलासी उच्छृंखल बातें करके भोलेभाले विद्यार्थी के मन की अनुचित उत्तेजना को बढ़ाते हैं। दाक्षिण्यादि के स्थान पर अकार्य करने की रूचि, अनुचित बोलचाल और कठोर स्वभाव को गति देते हैं। फलतः ‘फर्स्ट क्लास पास’ ‘फोरेन रिटर्न्ड’ आदि के नाम पर स्वागत-सम्मान होता है - फिर चाहे वह दाक्षिण्यादि से बिलकुल हाथ धो बैठा हो; इसमें क्या आश्चर्य ?

**माँ-बापों को खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए** कि संतान को आधुनिक विद्यालयों एवं मित्र-मंडलियों में दाक्षिण्य-विनय-सेवा, मधुर स्वभाव आदि की शिक्षा नहीं मिल सकती; अतः उन्हें छुटपन से ही स्वयं इसकी शिक्षा देनी चाहिए। इस हेतु से उन्हें हर रोज अपने पास बिठा कर पाव या आधा घंटा सत्संग देना चाहिए। स्कूल में क्या पढ़ कर आया, उसकी खबर लेना, उसमें आये हुए अनर्थ का निराकरण - खंडन - हानि बताकर उसके असर को मिटा देना और उत्तम गुणवर्धक बातें कहना, दुनिया के अनुभव बताना - यह सब हर रोज ऐसे होना चाहिए जैसे प्रतिज्ञा या व्रत हो। अपने अन्य सत्रह काम हों उन्हें गौण बनाइये, परन्तु इस शिक्षण कार्य को प्रधानता दीजिए अन्यथा आप की ही संतान से धर्म-परंपरा को धक्का लगेगा, और इस के लिए मुख्यतः आपही को उत्तरदायी माना जाएगा।

कुवलयचंद्र कुमार की दाक्षिण्यादि में विशेष प्रवीणता जानकर राजा को बड़ा संतोष हुआ। अब वह उसे उसकी माता के पास भेजता है। माता भी उसके विनयादि गुण देख कर आशीर्वाद देती है कि, 'पुत्र ! तुमने सत्पुरुष - सज्जन के स्वभाव के अनुरूप अपना हृदय बनाया है, तू दीर्घायु हो, देवों, गुरुजनों आदि के प्रभाव से तेरा सदा-सर्वदा महान् उदय हो। - (तू सदा उन्नतिशील बनें।)

अब यहाँ यह देखने की बात है कि अभी तो कुमार बारह वर्ष बाद माता-पिता से मिला ही है कि इतने में वहाँ एक कैसी आकस्मिक - अनपेक्षित घटना घटित होती है कि जिससे वह माता पिता से दूर रख दिया जाता है। होता यह है कि प्रतिहारी आकर राजा को खबर देता है कि 'राजवाटिका जाने का समय हुआ है।' अतः राजा सवारी -जलूस- के साथ बाहर जाने की तैयारी करता है। वह कहता है, 'आओ, युद्ध के योग्य अश्वों की परीक्षा के लिए आज हम घुडसवारी ही करें। इसलिए घोड़े निकलवाओ, और कुमार से भी साथ आने को कहो।'

राजा की आज्ञानुसार शीघ्र तैयारी हो गई। कुमार को भी खबर दी गई। पढ़ा लिखा और जवानी को पहुँचा हुआ होते हुए भी कुमार माता के आशीर्वाद लेने जाता है, और माता को प्रणाम करके हकीकत कहता है। तब माता उसके सिर पर हाथ रख कर कहती है -

'वत्स ! जाओ, जैसे तुम्हारे बुद्धिमान् पिताजी फरमाएँ वैसे करो और सुखी बनो।'

इसमें पुत्र की लियाकत देखिये, और माता का विवेक देखिये। पुत्र ऐसी

कितनी ही विद्याओं - कलाओं में निपुण बना हुआ है जिन्हें माता जानती भी नहीं होगी; फिर माँ सो माँ, और स्वयं पुत्र सो पुत्र ।

शिक्षण के बडप्पन से उपकारिता का बडप्पन और गुणशीलता का बडप्पन कहीं बढ़ चढ़ कर है ।

अरिहंत प्रभु और सिद्ध भगवान् का ज्ञान समान है, इसके अतिरिक्त सिद्ध के चार गुण अधिक हैं। फिर भी अरिहंत की विशेषता यह है कि वे परम उपकारी हैं । क्योंकि जो सिद्ध बने हैं उन्हें सिद्ध बनानेवाले अरिहंत देव है । इसीलिए पंचपरमेष्ठि में प्रथम स्मरण अरिहंत का किया गया, पहला नमस्कार अरिहंत को किया गया। इस दृष्टि से पहला बडप्पन अरिहंत का स्थापित किया गया ।

बस, इस प्रकार पुत्र भले ही बहुत पढा हुआ हो, फिर भी माता उसकी उपकारिणी है, अतः माता का उससे बढ़ कर बडप्पन माना जाता है; उपकारी का बडप्पन भूलने में कृतज्ञता भुला दी जाती है ।

कृतज्ञता को भूलना - चूकना अर्थात् बुनियादी खराबी गिनी जाय ।

‘जय वीयराय’ सूत्र में ‘गुरुजन सेवा’ जो मांगी जाती है उसे लौकिक सौंदर्य कहा है, ‘यह हो तभी लोकोत्तर सौंदर्य आता है,’ ऐसा व्याख्याकार ने कहा है । अर्थात् गुरुजन सेवा नींव में होनी चाहिए। ‘गुरुजन सेवा’ में क्या समाविष्ट है ? उपकारी माता पिता, विद्यागुरु आदि के प्रति कृतज्ञता मन में लाना इसमें समाविष्ट है । उनके प्रति पूज्यभाव धारण करना और उनकी भक्ति करना इसमें आता है। वह न हो तो भला शुभगुरुयोग और उनके वचन की सेवा के रूप में लोकोत्तर सौंदर्य कहाँ सस्ता पड़ा है कि यों हि मिल जाय ? इसीलिए कुवलयचंद्र कुमार माता को प्रणाम कर आशीर्वाद लेता है ।

### विवेक का महत्त्व —

यहाँ माता का भी विवेक कैसा है कि वह पुत्र से कहती है, “बडे, अर्थात् तुम्हारे पिताजी बुद्धिमान हैं । ऐसे वे जो कहें सो तुम करो, और सुखी बनो।’ विवेकी माँ ही यह मानती है कि बेटे को अपने बाप का कहा मानना योग्य है, मानना ही चाहिए । ‘खुद को बारह वर्ष बाद पुत्र का मुँह देखने मिला है इस लिए बाप भले ही बेटे से कहे, — चलो, घुडसवारी करने, परन्तु बेटे को खुद अपने पास बिठाये रखना, जाने नहीं देना, ऐसी बात यहाँ नहीं है। साथ ही पुत्र को जो करना है सो अपने विचार से करना है, पर बाप कहे इतने मात्र से कहा हुआ सब करना नहीं है” ऐसी मान्यता भी यहाँ नहीं है । यह सब विवेक का प्रताप है ।

विवेक का अर्थ है - सार क्या है, असार क्या है, मुख्य क्या है, गौण क्या है, महान् क्या है, सामान्य क्या है, महत्त्व भी किसे दिया जाय, किसे न दिया जाय आदि की सच्ची समझ - यह विवेक कहलाता है ।

बडों का आदेश मुख्य है, अपनी इच्छा गौण है ।

संसार और अर्थ-काम असार है, धर्म सार है । परमात्मा और गुरु महान् है अपना आप सामान्य है ।

काया तथा जड वस्तुएँ और स्व-आत्मा - इन दो में से स्व-आत्मा को ही महत्त्व देना चाहिए ।

यह सब विवेक से होता है ।

अविवेकी क्या क्या करता है ? - जिसमें विवेक न हो उसकी गिनती इससे उलटी होती है । वह आत्मा की अपेक्षा काया को ही महत्त्व देगा। धर्म की तुलना में रुपयें-पैसे तथा विषय-सुखों को सारभूत गिनेगा। परमात्मा एवं गुरु की अपेक्षा अपने आप को महान् समझता होगा; अनित्य विनश्वर, कंचन-काया-कुटुम्ब वगैरह को मानों शाश्वत समझ कर व्यवहार करेगा । जो पर है ऐसी काया को स्व-आत्मा मान कर स्वात्मा को याद भी नहीं करेगा । अशुचि काया को पवित्र मानेगा और बार बार उसे पवित्र रखने का ही परिश्रम करेगा। इस इस तरह के अविवेकीपन से उलटेधंधे कर के जीव अनादि संसार में भटका करते हैं। पहले विवेक आए तो फिर उलटे धंधे छूट कर सत्पुरुषार्थ प्राप्त होता है ।

### विवेक के फायदे

शास्त्र पढ़ने तथा जिनवचन सुनने का उद्देश्य यह है कि आत्मा में विवेक बढ़ता चला जाय। वह पढ़ने सुनने के बावजूद यदि विवेक न बढ़े तो मेहनत व्यर्थ हुई । ज्यों ज्यों विवेक की वृद्धि हो त्यों त्यों नये सत्पुरुषार्थ का विकास होता रहे, उसमें बल बढ़ता जाय। उससे चित्तकी - हृदय की प्रसन्नता - प्रफुल्लता - पवित्रता का महान लाभ होता है; दुर्ध्यान और गलत विचार रूक जाते हैं, इससे कितने ही बड़े जल्ये में अशुभ कर्मों का बँधना रूक जाता है, शुभ कर्मों का उपार्जन बढ़ता जाता है, फलतः भवांतर (अन्यभव) तो और भी कितना सारा सुन्दर उत्पन्न हो। मूल आधार में विवेक का दीपक प्रकट होना चाहिए ।

कुमार कुवल्लयचंद्र को विवेकमयी माता का आदेश-आशीर्वाद मिला, तत्पश्चात् वह अपने पिता के पास पहुँचा । पिता उस की योग्यता नापने के लिए उससे घोडों की जातियाँ पूछते हैं । कुमार विद्याओं में सन्नद्ध है, अठारह जातियाँ



गिना देता है। उसका वक्तव्य लंबा होते देख राजा कहता है, “बस, अब विशेष बाद में सुनेंगे; चलो अभी सवारी - जलूस में।” कुमार एक घोड़ेपर आरूढ़ होता है, राजा एवं अन्य राजपुरुष भी एक एक घोड़े पर सवार होते हैं।

सवारी रवाना होती है। जब वह राजमार्ग पर आती है तब कुमार का अद्भुत रूप और अश्व चलाने का सुन्दर कौशल देख कर नगरजन बहुत आकर्षित होते हैं। उनमें भी स्त्रियाँ यह देखने दौडती हुई कैसे कैसे भान खो देती हैं। कैसी कामविवश हो जाती हैं, प्रशंसा करती हैं - आदि सबका चरित्रकारने अभ्यासपूर्ण वर्णन किया है। वहाँ कवि लिखता है कि कामविवश बनी हुई स्त्रियों में से कोई नाच उठती है, कोई अपनी सखी का हाथ दबाती है, तो कोई अपने अंग, नाभि-प्रदेश, छाती आदि को खुला दिखाती है, तो कोई दूसरी अपनी जाँघ को अपनी सखियों के शरीर के साथ दबाती है। ये सब काम-मद के लक्षण हैं। कामुक स्त्रियाँ ऐसे अपलक्षण दिखा कर भोलों को भुलाती हैं। कहते हैं न कि आज की कॉलेजकन्या इसी तरह सात-सात, दस-दस, पंद्रह-पंद्रह विद्यार्थियों को खेल कराती हैं। कुमारिकाओं एवं स्त्रियों के आजकल की वेश-भूषा, अंगप्रदर्शन और काम चेष्टाओं आदि में खिंचती हुई युवा पीढ़ी सदाचारी एवं सात्विक कैसे बनेगी ?

खून पर मन का प्रभाव - शरीर शास्त्र का कथन है कि लेशमात्रभी मानसिक विकार होने से खून उबलने लगता है।

विकाराधीन रक्त का उबाल वीर्य को गलाता है, विकृत करता है, और इस तरह क्रमशः वीर्यनाश होता रहता है।

तब सत्त्व कहाँ से बना रहे, या विकसित हो ? आजके सिनेमा, रेडिओगीत, विज्ञापन, समाचार पत्रों की कहानियाँ तथा किसीके दुराचार की खबरे, वगैरह वगैरह जनता के वीर्य का हनन कर-कर के उसे निःसत्त्व बना रहे हैं। पुराने जमाने में भी भवाई, नौटंकी आदि पतन के साधन थे, फिर भी लोग इतना समझते थे कि ये आत्मा के लिए अहितकर हैं। अतः मानव-भवं के मूल्यवान समय में इनमें फँसना मूर्खता है। आज की बात अलग है, पतन-स्थानों के बहुत बढ़ जाने पर भी उनमें कुछ भी बुराई लगती ही नहीं। फिर उससे किसीभी वक्त दूर हटने की बात ही क्या ?

### आज की प्रजा का पतन

इस तरह पतन की साधनभूत वेशभूषा, अंगोपांग-प्रदर्शन, स्त्रीरूप दर्शन, दिल

को गुदगुदानेवाली विलासी कथा का पठन, आदि में फँसने के कारण कैसा वीर्यनाश हुआ जा रहा है। उसके परिणाम कितने भयानक, निकलते हैं। इस का आज के भोले लोगों को भान नहीं है। 'इतना सा देखा, पढा, उसमें क्या बिगड़ गया, उल्टे इस में तो मज़ा आता है। कहानी में से जानने को मिलता है।' ऐसे ऐसे नादान साहस कर उनमें क्रूद पडते हैं।

प्रत्येक मोहमूढ रूपदर्शन या रूपश्रवण या रूपस्मरण शरीर के राजासमान वीर्य को हानि पहुँचाता है।

उपरांत, जानबूझ कर किये गये दर्शन - श्रवण - स्मरण जीव के सत्त्व - गुण का भी नाश करते हैं।

### वीर्य नाश से मन व इन्द्रियाँ दुर्बल

शरीर का वीर्य और आत्मा का सत्त्व तो जीव के अभ्युदय में बहुत बड़ा भाग अदा करते हैं। इनके द्वारा मन की स्फूर्ति एवं ओज विकस्वर रहते हैं।

वीर्य का नाश हो गया तो मन गंदे और निम्न विचारों में भटका करेगा, चंचल बना रहेगा। उत्तम, उदात्त भावनाओं के लिए असमर्थ-सा बन जाएगा। शरीर में भी जोश न रहने से वह निर्जीवसा होकर सत्पराक्रम, सक्रिया आदि में निष्क्रिय रहेगा। इन्द्रियाँ भी वीर्य के अभाव में कमजोर पड जाएँगी।

### सत्त्व का नाश होने से सुकृत की उभंग नहीं

मतलब, सत्त्व का हनन होता रहा तो आत्मा जरा जरा में मलिन वृत्तियों, मैली भावनाओं, और कामक्रोधादि आवेशों के वशमें हुआ करेगा। कोई अच्छे सुकृत या सदगुण की बात आने पर सत्त्व हीनता की वजह से उसे कोई उत्साह नहीं जगेगा। हम देखते ही हैं न कि कोई दान, फंड आदि की बात आते ही कितने ही लोगों के मन खिन्न हो जाते हैं, कि 'यह कहाँ आगया?' जरा से त्याग की बात आते ही मन अस्वस्थ हो जाता है कि 'इसमें अपना काम नहीं।' ऐसा क्यों? सत्त्व मर गया है, नहीं तो मिसाल के तोर पर समझिये - 'महिने में ५ या १० दिन मिठाई नहीं खाना' ऐसा नियम लेना हुआ तो उसमें कौन सी बड़ी बात हो गयी? यों भी कहाँ हर रोज मिठाई खाने में आती है? परन्तु नियम लेने की बात जो हुई, इसलिए सत्त्वहीनता के कारण रोगी मानस को लगता है कि 'सौगन्ध लूँ और कदाचित खाने को मौका मिल जाय तब क्या हो?' इस तरह आशा ही आशा में जीव मरता है। अपना ललाट नहीं नापता कि वर्तमान संयोगों

की दृष्टि से अपना पुण्य सबल है या दुर्बल ? पुण्य की कितनी पहुँच है ? और ऐसे पुण्य के धन के बिना आशा में ही बहता जाता है कि 'शायद मुझे मिलेगा।' क्या पुण्य के धन के बिना सुख-सुविधा की सामग्री मिलनेवाली है ?

**पुण्य नहीं बढ़ाना है—यह बदनसीबी है**

फिर खूबी तो यह कि पुण्य बढ़ाने को मन नहीं करता, नहीं तो फिर भी ऐसा हो कि पुण्य बढ़ाने से या तो उस पुण्य की उदीरणा होने पर वह जल्दी उदय में आकर लभ बताए, अथवा पुण्य-जनक सुकृत का निमित्त पाकर खजाने में पडा हुआ निष्क्रिय पुण्य ही उदय में आ जाय और माल प्राप्त हो, ऐसा हो जाय । लेकिन, नहीं, पुण्य को बढ़ानेवाले सुकृत करना ही नहीं है, सद्गुणों को विकसाना नहीं है, अच्छे अच्छे विचारों और अच्छी अच्छी भावनाओं में रत नहीं रहना है । मानव के अवतार में यह कितना बडा दुर्भाग्य है ? विडंबना है ? अब भी, ऐसा कर के भी यदि आशा रखता हो तो वाज़िब माना जाय, लेकिन जीवन में इसकी ज़रूरत ही महसूस नहीं होती, संकट के समय भी ज़रूरत नही महसूस होती तो फिर सुख-संपत्ति के समय की तो बात ही क्या ? वहाँ तो बस एक ही बात कि 'अपने को अच्छा मिल गया है न ? तो मौज करो, जिन्हें नहीं मिला वे बेचारे धर्म किया करें, तप करें, सामायिक प्रतिक्रमण - पौषधादि करें, व्याख्यान सुनें, पर हमें ऐसी फुरसत कहाँ से हो ? है न घमंड और लापरवाही ? वज़ह क्या ? 'धर्म पर श्रद्धा तो है', ऐसा तो मानता है, पर सत्त्व नहीं है अतः ऐसे धर्म-पुरुषार्थ कर नहीं सकता । तब नहीं करने का बचाव तो करना चाहिए न ? इसलिए फुरसत का बहाना आगे करता है । लक्ष्मी और उससे मिलनेवाले भरपूर विषयोंने उसे अकर्मण्य - निष्क्रिय बना दिया है, उसका सत्त्व नष्ट कर दिया है । इसीलिए तो यह बात है सत्त्व और वीर्य का नाश मत करो, बल्कि उसका विकास करो, उसमें वृद्धि करते चलो ।

## १. कुवलयचन्द्र का अपहरण

बात यह थी कि राजकुमार कुवलयचंद्र नगर में होकर घुडसवारी पर निकला है, तब कुछ स्त्रियाँ अपना मान खो बैठती हैं, कामवश बनकर मोह की चेष्टाएँ करती हैं, चक्षु - इंद्रिय का मनोहर विषय मिलने से सत्त्वहीन बनती हैं। सवारी आगे निकल गयी और सब नगर के बाहर आकर रुके। घोड़ों की परख करनी है कि कैसे पानीदार घोड़े हैं, अतः नगर के बाहर आकर घोड़ों को दौड़ते छोड़ देते हैं। इनमें राजा एवं कुमार ने भी अपने घोड़े दौड़ते छोड़ दिये।

### कुमार का घोड़ा आकाश में

बस, इतनी ही देर थी, ऐसी एक महान् आश्चर्य की बात हुई कि कुमार का घोड़ा आगे बढ़ा तो सही पर जमीन पर नहीं किन्तु तत्काल आकाश में ही उड़ा। आकाश मानों जमीन हो, वह उस पर चारों पैरों से चौकड़ी भरता इतने वेग से दौड़ा कि थोड़ी सी देर में दूर आकाश में अदृश्य हो गया। राजा तथा दुसरे लोग तो आँखे फाड़ फाड़ कर देखते ही रह गये कि 'यह क्या ? घोड़ा, और आकाश में दौड़े ? उसका पीछा भी कैसे किया जाय ? क्यों कि उस की गति, उसका वेग असाधारण था। अभी तो ये लोग जरा विचार करें कि क्या करना चाहिए ? उतने में तो उसका दिखाई देना बन्द हो गया।

मनुष्य का सोचा हुआ क्या होता है ? और बिना सोचा हुआ क्या रोका जा सकता है ? राजा के मन में ऐसे ही रहा था कि बारह वर्ष बाद पढ़ लिखकर तैयार होकर अभी ही देखने को मिले सुपुत्र की घुडसवारी की सुन्दर कला देखने को मिलेगी, और उसके बाद लौटने पर उसके साथ प्रेमगोष्ठि, प्रीतिभोजन आदि का आनन्द मिलेगा। परन्तु ऐसा कुछ सोचा हुआ कहाँ पार पडा ? उसके बदले यह अकल्प्य आपत्ति आ खड़ी हुई कि प्राणप्रिय कुमार को विचित्र घोड़ा आकाश में कहीं ऊँचे दूर ही दूर उड़ा ले गया।

### जीव की जबरदस्त मूढ़ता

मनुष्य का सोचा हुआ बहुत सा घटित नहीं होता और अनपेक्षित हो जाता है, उसे चला लेते हैं, परन्तु उसे इससे कभी कंटाला नहीं आता यह कैसा आश्चर्य है ? कैसी भारी मूढ़ता। विचार नहीं आता कि 'हाय ! यह कैसी दुर्दशा, कैसी

सांसारिक विटंबना है कि सोचा हुआ होता नहीं, नहीं सोचा हुआ हुआ करता है - ऐसी जिन्दगी की लाश को घसीटते रहना ? तो फिर पागल मन किसलिए ऐसी सब अपेक्षाएं और इच्छाएँ किया ही करता है ? उपरांत जब पुण्य की पुंजी ही इतनी पहुँचती नहीं, इसलिए तो ऐसी आफते आती हैं। तो फिर ऐसे प्रबल पुण्य के अभाव में बेचारा जीव क्यों ऐसा मान लेता है कि “मुझे तो सब कुछ अनुकूल ही रहे, मुझे कोई आपत्ति प्रतिकूलता आनी ही नहीं चाहिए ?”

### दोनों वस्तुएँ जीवको मूर्ख बनाती है

(१) एक तो दुर्बल पुण्य में भी इच्छाओं की भारी भीड़ रखी जाती है सो; और

(२) दूसरे - पुण्य कच्चा होते हुए भी केवल सुख का ही अधिकार माना जाता है सो।

दोनों गलत है। इच्छाओं का भार भी गलत और एक मात्र सुखसुविधा का ही अधिकार मानना भी गलत।

(१) सोचा हुआ न बनने पर इच्छाएँ कम कर दो।

### बहुत इच्छाओं से होनेवाली हानियाँ

बहुत इच्छाएँ - अपेक्षाएँ करते जाने से

(१) जीव की लोलुपता पहले बढ़ती है।

(२) आतुरता बढ़ती है।

(३) असन्तोष - अतृप्ति पनपती रहती है।

(४) चित्त उसमें विह्वल - व्यग्र - व्याकुल रहता है। जिस वस्तु की कामना की वह अब कैसे मिले किस तरह सिद्ध हो; अथवा नापसन्द - अच्छी न लगनेवाली वस्तु को दूर करने की बात हो तो वह कैसे दूर हो यही ध्यान, यह व्यग्रता - व्याकुलता रहा करेगी।

(५) जीव उसके उपाय में व्यर्थ हैरान होता रहेगा। फिर आत्महित की प्रवृत्ति भी हाथ में ली होगी तो भी इसमें स्थिरता नहीं होगी और जीव उसी में भटकता रहेगा। मानव अस्थिरता का शोर मचाया करता है कि मेरा चित्त धर्म साधना में क्यों स्थिर नहीं रहता? ऐसी शिकायत किया करता है, परन्तु यह नहीं देखता कि जीव को नयी नयी इच्छाएँ कितना सताया करती है ?

चित्त की अस्थिरता अर्थात् चंचलता का बड़ा कारण यह है कि दाग की तरह नयी नयी इच्छाएँ होती है या आ जाती हैं।

उदाहरणतया - काउस्सग ध्यान में खड़े हैं। परन्तु उसमें शरीर पर मक्खी या मच्छर बैठ गया, अब यदि उसे उड़ाने की इच्छा पैदा हुई तो वह ध्यान स्वलित होगा, उसमें चित्त सतत एक तार नहीं चलेगा। उस इच्छा को तो दबाना ही पड़ेगा - ऐसे कि, यह ध्यान पूर्ण होने तक तो मुझे उसको उड़ाना ही नहीं है ! मैं यह चाहता भी नहीं कि वह उड़े !' तो चित्त उस ओर नहीं जाएगा।

उसी तरह - मंदिर में प्रभुदर्शन को गये, भावभक्ति करते हो। इतने में घड़ी पर निगाह पड़ी, और इच्छा हुई कि 'अब शीघ्र ही घर पहुँच कर धंधे के काम पर निकल पड़ना है, नहीं तो देर हो जाएगी।' तो बस, दाल में बड़ी गिर पड़ी। चित्त चंचल हो गया। अब वह कुछ भावभक्ति में स्थिर नहीं रहेगा। हाँ, मन को वहाँ दृढ़ कर के ऐसे इच्छा को रोका जाय कि 'मुझे धंधे की कोई जल्दी नहीं है' तो मन विह्वल न बने।

### साधना शुद्ध कैसे बने ?

इसीलिए तो 'योगदृष्टि समुच्चय' नामक शास्त्र में विशुद्ध योग बीज की साधना के लिए संज्ञा को रोकना और निराशंस भाव को जरूरी गिना गया है। अर्थात् उसका कथन है कि कमसे कम जब तक साधना करते हो तब तक तो आहार संज्ञा, विषय संज्ञा आदि संज्ञाओं को रोको; उन्हें उठने ही न दो। साथ ही निराशंसभाव के लिए इस धर्म साधना के फलस्वरूप किसी माल - मान या वाह वाही आदि की इच्छा न करो ! क्यों भला ? इसीलिए कि अगर आहार संज्ञा से खाने की, या विषय संज्ञा से अच्छा-देखने सुनने आदि की इच्छा हुई तो उसमें खिचने वाला मन साधना से चलित हो जाएगा। साधना में स्थिर कहाँ से रह सकेगा ? इस तरह तुच्छ भौतिक फल की अभिलाषा कायम रहती हो तो भी चित्त उस में जाया करेगा, इस कारण भी वह साधना में स्थिर नहीं रह सकता। अतः ऐसे चंचल चित्त से साधना शुद्ध नहीं बन सकती, मैली कुचली साधना होगी; और उससे क्या दारिद्र्य दूर होगा ?

बस, चाहे शुद्ध साधना के लिए कहिये या चित्त की स्थिरता के लिए कहिये उपाय यह है कि इच्छाओं पर नियंत्रण रखो। यदि छोटी बड़ी इच्छाओं की खुजली उठा करेगी तो वह चित्त को शांत नहीं रहने देगी, अच्छी से अच्छी धर्म-साधना को भी बिगाड़ देगी। भले ही श्री सिद्धगिरि पर प्रभु आदीश्वर दादा की पूजा करने खड़े हो या उनकी चैत्यवंदन स्तुति आदि भाव-भक्ति शुरू की हो

लेकिन कुटिल इच्छाओं की बड़ी टोलियाँ या एकाध ग़लत इच्छा भी मन को उसमें से उठा लेगी, विह्वल करेगी ।

### प्रभुदर्शन में से उठा लेनेवाली इच्छा

आप जानते हैं कि आप प्रभु के दर्शन में खड़े रह कर दर्शन कर रहे हैं, और बीच में कोई आड़ा खड़ा हो गया; वहाँ यदि यह इच्छा हुई कि 'यह कब खिसके' तो दर्शन और प्रभु-स्मरण में से चित्त उठ कर उस मनुष्य के खिसकने के विचार में जाएगा। और वहाँ 'वह बीच में खड़ा आदमी कब खिसके ? केवल इतनी इच्छा से ही काम नहीं निपटेगा। यदि वह वहाँ से सरकने में देर करेगा तो गुस्सा, अरूचि, उद्वेग भी उठेगा। फलतः बड़े वीतराग प्रभु आदीश्वर दादा मिलने के बावजूद चित्त रागद्वेष में पड़ जाएगा। जिस वीतराग से तो रागद्वेष से बचना सीखना है पर रागद्वेष की आगा। किसने खड़ी की ? नयी जगी हुई इच्छा ने ।

तब तुम्हें स्वभावतः पूछने को मन होगा कि -

प्र० तो क्या प्रभुदर्शन के बीच कोई आड़ा खड़ा हो जाय उसके दूर होने की इच्छा नहीं करना ? और यदि इच्छा न करें तो करना क्या ?

उ० परन्तु यहाँ यह तो देखो कि ऐसी इच्छा करने के बाद चित्त की परिस्थिती कैसी हो जाती है? भले इच्छा अच्छी हो कि 'बीचमें खड़ा हुआ हट जाय तो प्रभु के दर्शन अच्छी तरह हों' परन्तु यह देखो कि -

(१) इस इच्छा के पीछे मन में शांति रहती है या उबाल आता है ?

(२) सामनेवाले का हट जाना क्या तुम्हारे हाथ में है ?

(३) तुम चाहते हो कि 'वह सरक जाय' परन्तु यदि वह नहीं सरकता तो तब तक मन दर्शन में रहता है या कषाय में ? और

(४) ऐसे केवल बाह्य से अर्थात् चर्मचक्षुओ से ही दर्शन करने के संतोष में कुछ अन्तर में उतारा जा सकेगा ?

क्यों व्यर्थ परेशान होते हो ? जीवने ऐसे कोरे बाह्य दर्शन तो इस जन्म में भी बहुत किये और अनन्त काल में अनन्त बार किये परन्तु अब भी वह स्थिति कहाँ उपस्थित हुई है कि प्रभु के बहुत दर्शनों से अब प्रभु को देखने में ऐसा आनन्द मिलता है जैसा रूप सुन्दरियों के मुख या बाल-बच्चों के मुख या स्नेहीजनों के मुख देखने में नहीं मिलता ?

ऐसा कहाँ है कि हृदय में से स्नेहीजनों के मुँह देखने का रस अदृश्य हो गया हो और वीतराग की मुद्रा देखने का ही अखूट रस उपस्थित हो गया हो ?

ऐसी स्थिति कहाँ है कि सगे-स्नेहियों के चेहरे बहुत अधिक नज़र में आते हों और उससे मन को ग्लानि होती है कि हाय ! बार बार राग उत्पन्न करने वाले इन रागभरे चेहरों के साथ टकराना कहाँ से मेरे साथ बँधा ? कब तक इस जंजाल में फँसा रहना पड़ेगा ? ऐसी ग्लानि कहाँ होती है ?

### दर्शन अग्रन्तर करो:-

क्यों नहीं है यह स्थिति ? कहो कि, बाह्य से प्रभु-दर्शन किये पर अन्तर से कहाँ किये है ? जरा कोई दर्शन के बीच में आ खड़ा हुआ कि दर्शन में से उछल पड़े। पैठ गये क्रोध में। सच पूछो तो ऐसे अवसर पर बाह्य दर्शन छोड़कर आभ्यन्तर दर्शन में प्रविष्ट होने का मौका मिला है। मन को यह लगे कि, 'चलो अच्छा हुआ भाई बीच में जो आ गये। अब मुझे मौका मिला कि अब आभ्यन्तर में (भीतरी) दर्शन करूँ। आडे आये हुए भाई के आरपार देखूँ कि क्या भगवान् हुबहू दिखाई देते हैं। अथवा आँखें आधी मूँद कर जाँचूँ कि भगवान् ज्यों के त्यों दिखाई देते हैं ? प्रभु की सुरत कैसी है ? कैसा चेहरा है ? कैसा है ललाट चक्षु, नासिका ? बन्द होठों की आकृति कैसी ? गाल ठोड़ी कैसे है ?

यदि यह कुछ नहीं दिखता तो कैसे दर्शन किये थे ? प्रभु को क्या देखा ? यदि प्रभु को किसी ध्यान में ही न लेना हो तो दो मिनट क्या बारह मिनट खड़े रह कर भी करना क्या ? बीच में कोई आड़ा खड़ा है या नहीं खड़ा इससे क्या फर्क पड़ता है ? यदि मुद्रा को अपने ध्यान में लेना नहीं हो।

### प्रभुदर्शन की क्या आवश्यकता है ?

प्र० परन्तु प्रभु के दर्शन में तो प्रभु का जीवन ही विचारना है न ? प्रभु की बाह्य आकृति ध्यान में न ली उससे क्या ?

उ० तब तो फिर कोई आड़ बन कर खड़ा हो गया और प्रभु की आकृति दिखाई न दी तो इसमें क्या हर्ज हो गया ? कि जिससे आडे उपस्थित हुए पर इतना गुस्सा आता है ? प्रभुकी मुद्रा को यदि ध्यान में नहीं लेना है तो दर्शन हों चाहें न हों, एकसी बात है। प्रभु के जीवन का विचार तो दर्शन के बिना प्रभु को स्मृतिपट पर लाकर हो सकता है।

प्र० तो क्या दर्शनों की जरूरत ही नहीं है ?

उ० जरूरत तो बहुत बड़ी है। हाँ, जिसे प्रभु की मुद्रा को ध्यान में लेना ही नहीं है उसे क्या आवश्यकता है। अन्यथा प्रभु के दर्शनों का बड़ा फायदा है;



और उसके लिए बाह्य प्रभु दर्शन की आवश्यकता है ।

प्रभुदर्शन में वीतरागमुद्रा दृष्टि गोचर होती है; उसमें वीतरागत्व के गुण और वीतराग का (i) पूर्व का साधक जीवन तथा (ii) बाद का अनासक्त ज्ञानमय जीवन स्मृति में लाया जा सकता है ।

इस जीव की ऐसी आदत हो गयी है कि बाह्य के दर्शन में उस उस तरह के आन्तरिक भाव जाग्रत होते हैं । बजाज (कपड़ेवाले) को देखकर कपड़े के विचार और जौहरी को देख कर जवाहिरात के विचार आते हैं । बूढ़ी माता को देखने पर मातृ-भक्ति का भाव जाग्रत होता है और जवान पत्नी को देख कर कामराग का भाव जाग्रत होता है, तब स्वाभाविक है कि वीतराग प्रभु को देखकर उनके जीवन सुकृतों और गुणों के विचार आएँ ।

**रत्नों को छोड़ कर कंकड चुनने की दुर्दशा:-**

बात यह थी कि प्रभु के दर्शन करते समय किसी को बीच में खड़ा देख कर 'यह कैसे हटे' ऐसे विचार में चित्त चला जाता है; परन्तु किये हुए दर्शनों के स्मरण का या वीतराग के गुणों का विचार वहाँ नहीं आता। यह कैसी बदकिस्मती है? इस समय तो यह स्मरण या विचार करने का अवसर है, दर्शन की क्रिया में से हटने के बाद तो दूसरे कार्यों में पडने पर इसका मौका ही कहाँ ? फिर भी मूढ जीव को वह कोई दर्शन के बीच खडा हुआ हो तब प्रभु के गुणों सुकृतों और उपकारों को याद करना सुझता ही नहीं । और 'वह कैसे हटे, कैसे हटे' इसका रटन सूझता है। काहे से ? (क्यों ?) रत्नों की खान मिली है तो भी रत्न इकट्ठे करने के बदले कंकड बीन कर इकट्ठे किये जाएँ यह कैसी बुरी हालत है ? किस लिए ?

**गलत इच्छाएँ:-**

कहो कि - बेचारे जीव को निरंकुश सीमा रहित रूप से इच्छाएँ करने को चाहिए। परिस्थितियों के अनुसार चला लेना और मन को धीरज रखना उससे नहीं निभता; सो मन अपार इच्छाएँ किये जाता है ।

व्यर्थ इच्छाएँ जहरीली नागिने हैं, वे चालू पवित्र विचारसरणी करनेवाले मन को मूर्च्छित कर देती है ।

आप चाहे कितने ही सुन्दर विचार में चढे हों, पर ज्यों ही कोई फुजूल इच्छा जगी कि तुरन्त वह अच्छी विचारधारा बन्द । क्योंकि मन उस इच्छा की पूर्ति के

प्रयत्न में उलझ जाता है। प्रभु के नाम का जाप जपता हो, मन प्रभु के विचार में लगा हो, लेकिन यदि ऐसी इच्छा जगे कि 'जरा देखूँ तो, वह कौन आया है!' तो बस खत्म! मन और आँख बाह्य में जाएँगी और तब प्रभु विषयक चालू विचारधारा बन्द हो जाएगी। बाह्य उच्चारण या आंतरिक उच्चारण खाली जप करेंगे पर मन उसमें से उठ गया, तब बेमन की प्रवृत्ति से लाभ कितना? लाख रूपयों के लाभ के बदले पाँच रूपयों का लाभ। ऐसा महालाभ खोने में कारण कौन? फुजूल इच्छा। फुजूल इच्छा इतनी भयानक है कि अच्छे से अच्छे तत्त्वचिंतन शास्त्र-स्वाध्याय-परमात्मस्मरण या अनित्य अशरण आदि शुभ भावनाओं की धारा को भंग कर देती है।

प्र० ऐसी खूँख्वार हत्यारी इच्छाएँ कैसे अटके ?

**चला लेना सीखो :-**

उ० व्यर्थ इच्छाओं को रोकने का एक उपाय यह है कि 'चला लेना सीखें।' जिस वस्तु की इच्छा हो उसके बगैर यदि चला लिया जाय तो इच्छा ऐसे ही अनायास शांत हो जाय। उदाहरण के तौर पर - जाप करते करते जिज्ञासा उठी कि 'देखूँ - वह कौन आ रहा है? क्या कह रहा है? तब मन तुरन्त यदि समझ ले कि 'यह जाने बिना मेरे चल जाएगा' तो वह इच्छा ऐसे ही शान्त हो जाएगी।

यों तो हम जीवन में बहुत कुछ चला लेते हैं, बहुत सी चीजों के बिना, सुविधाओं के बिना, चला लेते हैं, तो फिर व्यर्थ इच्छाओं को पूर्ण किये बिना क्यों नहीं चला सकते? गरीब आदमी का पुण्य नहीं पहुँचता, पैसों की पहुँच नहीं है तो मेवा-मिठाई, रेशमी कपड़े, और मोटर गाडी अच्छी लगती हों तो भी वह उनकी इच्छा कहाँ करता है कि 'मुझे यह चाहिए, वह चाहिए?' उसने समझ रखा है कि 'अपना पुण्य इतना नहीं है अतः इन कीमती चीजों के बगैर चला लेना रहा। और चला लें, इससे जीवन कोई अटक नहीं जाता, तो छोड़ दें इसकी तमन्ना रखना।'

इस तरह यदि जीवन में अनेक वस्तुएँ अच्छी लगती हों तो भी उनकी इच्छा नहीं की जाती-कि 'यह मुझे चाहिए' तो उसे पाने या जानने की इच्छा क्यों करे? फुजूल बातें-वस्तुएँ देखिये तो सही कैसी कैसी होती हैं ?

**फुजूल बातों-वस्तुओं के नमूने :**

उदाहरणतया - कपडा पहन कर चले, कपडे के सिरे पर जरा सी शिकन

दिखाई दी, अब उसे ठीक करना है। देखे तो यह मामूली सी चीज है, उसमें कोई माल नहीं है। परन्तु हमारे जी को यों ही बैठे बैठे या देवदर्शनादि क्रिया के समय उस शिकन पर ध्यान जाते ही तुरन्त उसे ठीक करने की इच्छा होती है (मन करता है) और यह इच्छा उस सुन्दर देवदर्शनादि की विचारधारा को भंग करती है। क्या यहाँ इच्छित वस्तु में कोई सार है? शिकन ठीक हो जाए इससे क्या कोई निर्मल यश प्राप्त होता है? क्या उससे धर्म क्रिया की शोभा होती है? कुछ भी नहीं, फिर भी ऐसी मामूली इच्छा, को भी रोकना जितना सामर्थ्य नहीं है, निःसत्वता है, अज्ञान है। ऐसी व्यर्थ इच्छाएँ कर कर के जीव महामूल्यवती साधना की अर्थात् अति अमूल्य शुभ भाव की धारा को तोड़ देता है। ऐसी इच्छा पर थोड़ा सा नियंत्रण रखे तो कितना बच जाय।

ऐसा ही आडे-टेढ़े ताकते रहने में या कौन आया कौन गया सो देखते रहने में होता है। इस में भी भीतर से देखने-जानने की इच्छा हुई होती है, परन्तु जो जानना है सो वृथा है, निःसार है। यहाँ भी ऐसी इच्छा को छोड़ दे, मन को मना ले कि ऐसा कूड़ा कट कट, अटं शंट जानकर क्या लाभ होगा? उल्टे ऐसा कूड़ा दिमाग में डालने से दिमाग कमजोर, सत्वहीन बनता है। फलतः तत्व की बातों एवं आराधना की उपयोगी बातों में दिमाग को रमाये रखने की कूवत नहीं रहती, मन उसमें स्थिर नहीं रह सकता।

### मन कैसे स्थिर बने ?

(१) वह तो व्यर्थ, सारहिन बात-वस्तु दिमाग में न डालने का निश्चय किया जाय, और दिमाग में नहीं ही डाली जाय तभी उत्तम उपयोगी बात में मन स्थिर रहे।

(२) इस लिए ऐसा व्यर्थ का जानने और पाने की इच्छाएँ ही बन्द कर देनी चाहिए।

जीव बेचारा इच्छाओं का बड़ा बोझ ढोता है। पर अब उसे कम कर डालना बहुत आवश्यक है। इस से सोचे मुताबिक न बनने की विटंबना से पीड़ित न होना पड़े। सोचा हुआ न बनने यह विटंबना ही है न? तो क्यों सोच ही रखना? मन से मान रखे कि 'होने दो जो कुछ काल, कर्म और भवितव्यतानुसार होता हो। हमें व्यर्थ धारणाएँ-इच्छाएँ करनी ही नहीं चाहिए ताकि तदनुसार न हो तो उसकी चिंता नहीं। खूबी तो यह है की चिंता करने से कुछ नहीं बनता, बने भी तो उपाय करने से फिरभी कुछ बने, परन्तु इच्छा-धारणाये चिंता उपस्थित

करती हैं ।

‘राजकुमार कुवल्यचंद्र घोड़े की खेल-अश्वक्रीडा बहुत सुंदर करेगा, और फिर महल में जाने पर वह मेरे आनंद-विनोद का कारण होगा ।’ राजा की ऐसी इच्छा कुमार का घोडा आकाश में उड जाने से घूल में मिल गयी और बडी भारी चिंता हुई । इच्छा-धारणा करो इस से कदाचित् उसके सिद्ध न होने का भय और इससे चिंता की आग सुलगने का भय खडा ही है ।

यह हुई इच्छानुसार न घटने की बात । इस में होनेवाली विटंबना को टालने के लिए मूल में धारणा-इच्छा का ही काट कर देना यह बात हुई....

**पुण्य की कमी पर सुख का हक गलत है -**

अनचाहा बनने पर :

अब, अनपेक्षित, अनचाहा हो जाने पर जो चिंता, शोक, उद्विग्नता होती है उससे बचने के लिए क्या करना इस का विचार करें । प्रतिकूल घटित हो जाय उसमें तो कुछ इच्छा करने की बात नहीं है, क्यों कि ऐसा कौन चाहेगा कि मेरे प्रतिकूल बन जाए ? बिना चाहे वह तो बन जाता है, और दिल का उद्वेग हो जाता है । उसे रोकने के लिए क्या करना ? (उसे कैसे रोकना)

उद्वेग क्यों ?

यहँ जाँच कीजिए कि उद्वेग क्यों होता है ? इस लिए होता है कि यह जो अनचाहा - प्रतिकूल घटित हुआ उसे अनुचित मानता है । किस लिए अनुचित है भाई ? जो कुछ प्रतिकूल हो जाता है वह अपने अशुभ कर्म बिना तो हो ही नहीं सकता । यदि अशुभ कर्म है तो प्रतिकूल का आगमन होगा ही । अनुकूल चल रहा था सो शुभ कर्म की धारा के प्रभाव से । उसमें कमी आई वह शुभ की धारा टूटी और अशुभ कर्म उदय में आये इसलिए अनचाहा, प्रतिकूल आ उपस्थित हुआ

### उद्वेग को टालने का विचार

अब यदि यह श्रद्धा दृढ हो कि ‘शुभ कर्म से अनुकूल की प्राप्ति होती है और शुभ के कच्चे पन से, अशुभ से प्रतिकूल की । तो प्रतिकूल घटित होने पर या अनुकूल अनपेक्षित रूप से रूक जाने पर मन को होगा कि ‘मेरे शुभ कर्मों की निर्बलता से ऐसा ही होता । कोई फिक्र नहीं। पुण्य की दौलत कम हो तो सुख-सुविधा की सामग्री कम मिले यह स्वाभाविक है । तो जब मेरे पुण्य में कमी है तो इतने सुख या सुविधा की आशा क्यों रखनी चाहिए ? उस का हक किसलिए

रखना ?

अनुकूलता में कमी आ जाए या प्रतिकूल घटित हो जाय तब जीव को अफसोस क्यों होती है। 'अरे ! यह अच्छी तरह चल रहा था सो कैसे बिगड़ा ? क्यों यह प्रतिकूल आया ? ऐसी शिकायत क्यों होती है? कहो कि मन से मानो मान रखा है कि 'मैं तो केवल सुख-सुविधा का ही अधिकारी हूँ, मुझे भला दुःख असुविधा प्रतिकूल काहे की हो ? क्यों आवे ? इस तरह मात्र सुख का ही अधिकार रखने से दुःख आने पर शिकायत होती है। अपनी जमीन पर अपना हक-दावा रखने के बाद अगर सगा भाई भी उस जमीन में से एक हाथ भी जमीन दबा ले तो लड़ाई होती है न ? 'अरे ! मेरी जमीन कैसे दबाता है ? मन में ऐसी बात उठती है न ? सुख-सुविधा में त्रुटि आने पर या दुःख असुविधा उत्पन्न होने पर मन को ऐसे होता है कि 'ऐसा क्यों ? रुदन शुरू होता है। हाय हाय सन्ताप, आकुलता - व्याकुलता मन को सताती हैं। वहाँ चलती हुई सुन्दर धर्म-साधना भी एक ओर धरी रह जाती है उससे मन उठ जाता है, और आक्रन्द करता है। यह सब किस आधार पर ? पुण्य की दुर्बलता के बावजूद सुख-सुविधा का अधिकार मानने के कारण।

**उचित विचार:-**

जो सुख-सुविधा मिले उसे मनुष्य भले भोग ले, परन्तु यदि उस पर हक न लगाये कि 'मेरे तो ऐसा ही होना चाहिए ऐसा ही मिलना चाहिए' परन्तु यह समझ रखे कि, 'अपना कोई ऐसा प्रबल पुण्य नहीं है कि सबकुछ टिपटोप अनुकूल ही मिले। पुण्य में हम अधूरे हैं, पुण्य पतला है। अधूरे या दुर्बल पुण्य में सारी अनुकूलता का अधिकार क्या चाहता ? कम अनुकूल भी मिले प्रतिकूल भी मिले यह स्वाभाविक है। तो चिंता नहीं, आने दो उसे। बार बार मन में ऐसा घोंट रखा हो तो फिर अनुकूलता में बाधा पड़ने पर अथवा एकाएक अनचाहा - प्रतिकूल आ पड़ने पर मन को अफसोस नहीं होगा। विलाप या शिकायत नहीं उठेगी कि 'ऐसा कैसे हुआ ?' गरीब आदमी बाजार में सब कुछ देखता है परंतु दुःख कहाँ रोता है कि 'यह माल मुझे क्यों नहीं मिलता ? क्यों यह व्यापारी दूसरे को यह माल देता है और मुझे नहीं देता। नहीं, ऐसी कोई शिकायत नहीं, कोई असंतोष नहीं, रुदन नहीं - क्यों नहीं ? क्योंकि समझ रखा है कि 'अपने पास पैसे नहीं हैं, अतः माल पाने का अपना कोई अधिकार नहीं है। हक के बिना अरमान क्या रखना कि यह क्यों नहीं मिलता ? और वह क्यों नहीं

मिलता? यह समझदारी हो तो फिर रोना कैसा? इस तरह पुण्य की कमी का ख्याल है और इसी कारण केवल सुख-सुविधा का ही यदि हक न चाहें तो अनुकूलता में रुकावट आने पर या अनचाहा - प्रतिकूल आ पड़ने पर कोई रोतलापन या शिकायत नहीं उठेगी।

### अपने पुण्य का नाप कर लो:-

मनुष्य को अपनी प्राप्ति (सिद्धि) पर अपने पुण्य का नाप ले रखना चाहिए। कोई बड़ा धनाढ्य है खूब धन कमाता है, एवं उसका स्वभाव - व्यवहार अच्छा है फिरभी अगर सगे-सम्बन्धी उसके बोल को स्वीकार नहीं करते, उन्हें अगर वह प्रिय नहीं लगता तो उसे समझ लेना चाहिए कि 'अच्छा कमाई की दृष्टि से लाभांतराय का क्षयोपशय अच्छा है परंतु आदेय नामकर्म और सौभाग्य नाम कर्म का पुण्य उतना नहीं मिला है, उसमें त्रुटि है, अतः स्वभावतः अपना बोल स्वीकार्य नहीं होता, स्वयं सामनेवाले को अच्छा नहीं लगता। पुण्य की ऐसी कमी हो तो ऐसा हक क्यों मानना कि 'मेरा वचन सब कैसे नहीं माने? क्यों सब प्रेम से मेरा स्वागत आदर नहीं करते।

### अधिकार छोड़ने से बचाव और लाभ -

प्राप्ति पर से पुण्य का नाप निकालने से ग़लत अधिकार नहीं रखा जाएगा। फलतः बिना हक की वस्तु न मिलने पर रगड़े -झगड़े नहीं किये जाएँगे। निःश्वास नहीं छोड़े जाएँगे, दुर्ध्यान, संकल्प-विकल्प नहीं होंगे। पुण्य का नाप निकाल कर, पुण्य की कमजोरी समझकर अच्छी अनुकूलता - सुविधाओं का अधिकार छोड़ देने से कितना सारा बचाव? कितने सारे फायदे? बस समझ लिया कि इन इन विषयों में हमारा पुण्य ही कच्चा है, तो दूसरों का आदर सम्मान पाने और प्रेम पाने के लिए व्यर्थ परेशान होना ही नहीं। मानव जीवन का अमूल्य समय तथा तन-मन-धन की अमूल्य शक्ति का क्यों ऐसे निष्फल मार्ग पर अपव्यय किया जाय?

इसके बनिस्वत में देव-गुरु धर्म-संघ शास्त्र का ही विचार क्यों न करूँ? यथाशक्ति इनकी ही सेवा - सारसम्हाल क्यों न करूँ? सेठ के यहाँ तीन फेरे दूँ? प्रिय प्रियातिप्रिय के पीछे धन खर्च करने के बदले अपने देवाधिदेव और उनके शासन की सेवा में धन क्यों न खर्च करूँ? इस तरह सोचकर उसके मुताबिक कार्य करे तो कितने सुकृतों और शुभ कार्योंका लाभ मिले। यह सब

किस आधार पर? अपने पुण्य की कमजोरी समझ कर सुख-सुविधा पर से अपना हक उठा लेने के द्वारा। फिर अनचाहा घटित हो उस पर खेद नहीं। इस तरह इच्छाएँ अपेक्षाएँ घटा दी जायँ तो इच्छानुसार न बनने पर जो उद्वेग होता है उसकी जगह ही न रहे।

**कुमार कहाँ है ?**

कुमार कुवलयचंद्र को उसका घोडा आकाश में उडकर दूर उठा ले जाता है। इस पर उसका पिता राजा यह क्या अकल्प्य घटित हो गया? सोचा हुआ कहाँ धरा रहा? ऐसे शोक में पड़ता है। उधर कुमार विचार में पड़ता है कि

‘अरे! यह क्यों उडा? मालूम होता है, कोई देव ही इस घोड़े के रूप में आया होगा। तो जरा छुरे या बाण के प्रहार से देखूँ यह कौन है। या तो यह गिरेगा या अपना रूप प्रकट करेगा।’

कुमार ने अभी दुनिया नहीं देखी है। दुनिया के प्रपंचो का अनुभव उसे नहीं है। परन्तु उसने बारह वर्ष तक कला-विद्या के साथ सत्व, दाक्षिण्य, निडरता आदि की जो शिक्षा पायी है वह उसे ऐसे समय में भयभीत न बना कर सावधान बनाती है। उसे ऐसा डर भी नहीं लगता कि ‘घोडा छुरी से घायल हो कर कहीं नीचे गिरा तो मेरे पछाडे जाने के कारण क्या हड्डियाँ नहीं टूट जाएँगी?’ क्यों डर नहीं है? साहसी है, अतः समझा हुआ है कि यदि घोडा गिरे तो मुझे कूदकर नीचे छलांग लगाने में क्या देर लगती है? पहले सब तालीम ली है।

## १०. क्या क्या पढ़ना चाहिए ?

आपकी संतान बहुत आगे आगे पढ़ रही है न? बरसों उसमें बिताती है न? एम ए. एम. कॉम. आदि डिग्रियाँ लेती है न? इस में कितने साल निकालती है? सत्रह वर्ष? सो भी हर वर्ष सीधे पास हो तो, नहीं तो १८, १९, २० वर्ष भी सही न? फिर भी उनमें यह निडरता आती है! उनमें यह सत्त्व, यह साहस और उँचे से नीचे सही सलामत कूद पड़ने की कुशलता क्या दिखाई देती है? क्या पढ़ाते है आप? केवल पैसे कमाने की विद्या। परन्तु सिर्फ पैसे कमाने से क्या दारिद्र्य (दलिद्वर) दूर होगा। कुशलतापूर्ण सुखमय शांत और सात्त्विक जीवन और दूसरों को विविध प्रकार से उपकारी सिद्ध होने वाला जीवन किस

तरह जी सकेंगे? क्या यह जरूरी नहीं है? केवल पैसा ही जरूरी है?

ऐं, जैसे पहले जरूरी है।

या यह कुशलता सत्त्व, परोपकार वगैरह पहले जरूरी?

इन गुणों से रहित मनुष्य केवल रूपयों के बल पर तो कबूतरों की तरह कायर, मूढ़ और स्वार्थांध जीवन जीते हैं। या पिशाची-राक्षसी लीला खेलने वाला जीवन जीते हैं। अतः रूपये, पैसों की विद्या को महत्त्व न देकर इस कुशलता और गुणों की विद्याको महत्त्व देकर उसकी तालीम देने की जरूरत है, ऐसा हम कह सकते हैं? कहते हैं इसलिए कि -

- (१) जिनेश्वर भगवान के शासन की सुन्दर आराधना करने के लिए गुण
- (२) साधना के लिए सत्त्व
- (३) आपत्ति में निर्भयता तथा
- (४) देव-गुरु की उपासना और धर्मानुष्ठान में कुशलता और साथ ही
- (५) परोपकार बुद्धि

आदि बहुत आवश्यक है। ये हो तभी सुन्दर कोटि की आराधना होती है। जाँच करना - शायद आपकी आराधना में भी ऐसा जोश न दिखता हो और दुनियावी जीवन में भी ऐसा सत्त्व न दिखाई दे तो उसके मुल में सत्त्व आदि गुणों की कमी ही काम करती होगी। यह कमी भी बचपन से गुणों की शिक्षा नहीं मिली इस के कारण है। तो अब इन्हें कहाँ और कब प्राप्त करना? लेकिन कम से कम संतान का तो ऐसा शिक्षण गठन करने की जिम्मेवारी सिरपर जरूर रखो।

प्र० परन्तु उनका शिक्षण-गठन करना कैसे? स्कूल में वह सिखाया नहीं जाता।

उ० यह तो आज का सत्य है - अतः घर पर उसका निर्माण करो।

(१) घरपर हर रोज का ऐसा कार्यक्रम रखो कि रात होनेपर सन्तान को छोटी उम्र से ही पास बैठा कर उसकी भाषा में ऐसी कहानियाँ कहना, ऐसे तत्त्व समझाना, ऐसे अनुभव देना।

(२) साथ ही कभी कभी जिससे सत्त्व निडरता - कुशलता परोपकार विकसित हों इस तरह के कार्य में उन्हें जोड़ना। इस में पुस्तकीय पढ़ाई का नुकसान होगा ऐसा भय न रखना, नहीं तो निर्माण नहीं होगा।

ऐसे गठन बिना के कोरे शिक्षण का कोई अर्थ नहीं है। लडके में विनय-सेवा कृतज्ञता दाक्षिण्य आवें इस हेतु पिताको उसे माता के कार्य में भी जोड़ना चाहिए। तो ही उसका सुन्दर गठन हो, अन्यथा कोरा कोरा पढ़ पढ़कर वह उदंड



बनेगा। माता की अवगणना करेगा, विषयांधता वश पत्नी का पुजारी बनेगा, अतः उसमें सत्त्व विकसित हो इस हेतु से त्याग तप सहिष्णुताका भी अभ्यास देते रहो।

(३) श्रेष्ठ मुनिमहाराज या उत्तमश्रावक जीवन जीनेवाले सुबुद्ध श्रावकों - विद्वानों के ऐसे धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षण संस्करण दिलाने के कार्यक्रमों की योजना कीजिये जिनमें विद्यार्थियों को दिलचस्पी पैदा हो, ताकि उन्हें विश्व क्या है ? विश्व में खुद कौन है ? विश्व के साथ अपने क्या सम्बन्ध है। विश्व का संचालन कैसे होता है। आत्मा की अवनति कैसी और काहे से (किस कारण) ? कौनसी उन्नति और उसके कौनसे उपाय है ? तत्त्व कौन से है ? आचार कौन से हैं ? मानव जीवन का महान् मूल्य क्यों है ? यह जीवन जीकर क्या क्या करना है ?..... आदि आदि का हृदयस्पर्शी ज्ञान हो। अन्तरात्मा जागृत हो, ज्ञान दृष्टि खुले, हमारे पराक्रमी पूर्वजों का गौरवमय इतिहास ज्ञात हो, उस में से प्रेरणाएँ ली जाएँ, हृदय परिवर्तन हो, और वे अपना जीवन सुव्यवस्थित बनाएँ। यह सब आज के युग में सिखाना संभव है।

(४) एक उपाय साहित्य का भी है। आज के लड़के लड़कियों का पढ़ना बहुत अधिक हो गया है। यदि उन्हें अच्छी अच्छी पठन सामग्री नहीं दोगे तो जो बहुतेरा कुडा करकट साहित्य प्रकाशित होता है उसे पढ़ पढ़ कर वे अपना मस्तिष्क एकदम तहस-नहस कर डालेंगे। आजकल के समाचार-पत्रों की रपटें, कहानियाँ, उपन्यास, मेगजीन आदि बहुत पढ़े जाते हैं। एक ओर साहित्यकार, प्रकाशक एवं समाचार पत्रवाले लोग रुपये कमाने का पेशा लेकर बैठे हैं, और दूसरी ओर मानव-मन विषयों के उन्माद से युक्त है। ऐसे विषयोन्मादमय मानव-मन को गुदगुदाने वाला साहित्य बड़ी तेजी से प्रकाशित हो रहा है, फिर क्या बाकी रहे ? जिससे बहुत से विषयों के भूखे जीव उसे खरीद लें ताकि इन लोगों को खूब आमदनी हो। पर इससे आज की भोली पीढ़ी की कैसी हालत ? वासना की कैसी खतरनाक उत्तेजना ? विकारों का कैसा आक्रमण ? इस तरह के पाप साहित्य के खिलाफ अगर equivalent बराबर आकर्षक भव्य आध्यात्मिक प्रेरणा से पूर्ण साहित्य नहीं रखा गया तो नयी पौध की रक्षा किस तरह कर सकोगे ?

उत्सव-महोत्सवों से सन्तुष्ट हो जाते हो। आज के अश्लील और कामोत्तेजक साहित्य, सिनेमा तथा उद्भट वेश-व्यवहार में बहती नयी आर्य सन्तान को और सुधरी हुई प्रौढ़ पीढ़ी को इस भयंकर विषयांधता, विलासिता तथा उद्भटता से

लौटा लाने के लिए क्या करना है ? उक्त जहरों को बाहर निकालने की कोई योजना की है ? कुछ खर्च करना चाहते हो ? नहीं, इसका कोई विचार ही नहीं करना है । कुछ करने की कोई आवश्यकता ही महसूस नहीं होती ! फिर चाहे ईसाई अपना प्रचार करें, आर्यसमाजी, बौद्ध, योगासनवाले और कानजी मतवाले तथा तेरापंथी सब अपना प्रचार करें 'हमें अपना कुछ करना कराना नहीं है यह मान्यता लेकर बैठ गये हो ! भविष्य का विचार है ? अपनी नाक रखने और दुनिया में नाम कमाने में हजारों रुपये व्यय करना जानते हो, पर सम्यग्ज्ञान फैलानेवाले साहित्य का प्रचार-प्रसार करने में कुछ खर्च नहीं करना है !

ठोस उपाय किये बिना नयी प्रजा का सुन्दर गठन-संस्करण नहीं होगा । कुमार कुवलयचंद्र सुगठित-संस्कारी है, इसलिए निर्भयता, सत्व, स्वस्थता आदि रखकर स्वयं को आकाश में उड़ा ले जाने वाला घोडा चोट खाकर गिरे तो गिरे, परन्तु स्वयं सही स्थिति मालूम करने का निश्चय करता है, कि, 'यह कोई गुप्त देव तो अश्वरूप लेकर नहीं आया है ?'

**अश्व को छुरी :**

कुमार ने नीचे की ओर मुड़ कर घोडे के पेट में छुरी भोंक दी । बस इतनी ही देर थी, छुरी भोंकते ही घोडे के पेट में से खून निकलने लगा, और घोडा सरसर करता नीचे गिर पडा । कुमार को आश्चर्य हुआ कि 'यह क्या ? यदि यह देव हो तो खून नहीं निकलता, और जानवर हो तो आकाश में नहीं उड़ता, क्या समझा जाय ?

कुवलयचंद्र वीरान वन में अकेला बिना संगी साथी के छूट गया है, पर उसे कोई डर नहीं आता, अथवा तुच्छ चिंता-संताप नहीं है कि हाय ! यहाँ मैं क्या खाऊँगा और क्या पिऊँगा ।

**जवाँमर्द का जिगर डरपोक नहीं होता और न तुच्छ संतापवाला ही होता है ।**

ऐसे भय-संताप तो कायरों को सोंप गये हैं । आपने कभी सोचा है कि कैसे जिगर का जीवन जीने में मजा, शाबाशी और अभ्युदय है ? कायर या शुरवीर ? कायर कलेजा रखने से क्या आपत्ति नहीं आती ? आ जाय तो सहनी नहीं पडती ? क्या रोग-जरा-मृत्यु कुछ नहीं आता ? सब आता है, और सहना भी पड़ता है तब फिर कायरता रखने से क्या लाभ ? वीरपुरुष का कलेजा रखते हुए जीवन जीने की बलिहारी है । मन उत्साह उमंग में रहता है ! आपत्ति में मन धीर बना रहता है , जब कि बाकी सब में तो दृढ़ श्रद्धा है कि ललाट का लिखा ही होनेवाला है ।”

## कुमार को आकाशवाणी :

कुमार कुवलयचन्द्र गाढ़ जंगल में किसी साथी के बिना अकेला आकाश में से नीचे छूट गया है। घोड़ा खत्म हो गया है। उसे कोई घबराहट नहीं है, पर ताज्जुब होता है कि 'यह अपूर्व अश्व कौन है ? और मुझे यहाँ क्यों ले आया ? उतने में आकाशवाणी होती हैं।

'हे कुवलयचन्द्र ! सुनो ! तुम्हें दक्षिण दिशा की ओर अभी एक कोस जाना है और पहले कभी न देखा हुआ देखना है।' इस तरह आकाश में बोली गयी यह वाणी सुनकर और अधिक आश्चर्य हुआ - 'अरे ! यह कोई मेरा नाम भी जानता है और यदि मुझे दक्षिण की ओर जाने को कहता है तो तो जरा देखूँ- दक्षिण दिशा में जाकर-कि क्या देखने मिलता है ?' इस तरह सोच कर वह तो आगे चल पड़ा।

### अटवी कैसी है ?

यहाँ विंध्य पर्वत की विशाल अटवी है। यहाँ कवि प्राकृत भाषा की खूबी से एक ही शब्द के दो अर्थ हों उस रीति से उपमा के द्वारा अटवी का वर्णन करता हुआ कहता है 'अटवी कैसी है ? - जैसे रणभूमि देख लो। क्यों कि जैसे रणभूमि में युद्ध चलता हो तब 'शर' अर्थात् बाण छूटते हैं और तलवारें चलती हों, फलतः वह भूमि उससे व्याप्त दिखाई दे वैसे ही यहाँ भी 'शर' (सरकंडे) नामक घास के सेंकड़ों पौधे उगे हुए हैं अतः यह भी उससे व्याप्त है। और यह अटवी मानो जिनेश्वर देवों की आज्ञा, शासन, ही देख लो ! क्यों कि जैसे यह शासन महान् व्रतों के कारण जिसतिस के द्वारा जल्दी प्रवेश न हो सके ऐसा है और 'सावयसय' सेंकड़ों श्रावकों द्वारा सेवित होता है, उस तरह से यह अटवी भी 'महव्वय' अर्थात् बड़े समूहों द्वारा आसानी से घूमा न जा सके ऐसी है और 'सावयसय' अर्थात् सेंकड़ों श्वापदों - जंगली - पशुओं द्वारा सेवित है। ऐसी अनेक उपमाओं से शोभित यह अटवी है। कुमार इस अटवी के भीतर भीतर चलता जाता है।

### विचित्र दृश्य :

ऐसे जंगल में आगे जाकर कुमार ने एक आश्चर्य-अचम्मा देखा। विकराल-क्रूर-घातक कहे जाने वाले सिंह, बाघ-भेड़िये (वृक) आदि प्राणी वहाँ शांति से

चल रहे थे ! तिस पर खुबी यह कि उनके बराबर बराबर खरगोश, हिरन आदि पशु भी निर्भयतापूर्वक चल रहे थे । शिकार और शिकारी (भक्ष्य और भक्षक) दोनों जाति के पशुओं के बीच मैत्री का व्यवहार दिखाई देता था ! यह देखकर कुमार चमत्कृत हुआ कि 'यह क्या ? ये परस्पर विरोधी प्राणी विरोध के बिना एक साथ शांति से फिर रहे हैं ।' मन में हुआ कि 'क्या यह जंगल या ये प्राणी ही दुनिया से विचित्र ढंग के होंगे ? नहीं, नहीं, यह तो इस भूलोक की ही वस्तु है । इसमें औरों से अलग ऐसी विलक्षणता कहाँ से (काहे की) होगी । सनातन काल से जो प्राणी एक दूसरे को दुश्मन के रूप में देखते हैं वे ऐसे परस्पर प्रेम का व्यवहार करनेवाले कैसे हो सकते हैं ?'

### हलके-निम्न भव में जन्म लेने मात्र का पुरस्कार :

संसार की लीला ही ऐसी हैं कि बिल्ली चूहे को, बाघ-सिंह बकरी को या हिरन को शिकार के रूप में ही देखते हैं । इसका अर्थ यह है कि वैसे वैसे प्राणी को यह जन्मसिद्ध पुरस्कार है । यहाँ मनुष्य-रूप के जन्म में भले ही इन प्राणियों को शिकार रूप में न माना हो परन्तु रात्रि-भोजन आदि किसी पापाचरण तथा गाढ आसक्ति राग-द्वेष-मिथ्यात्व आदि दुष्ट भाव के कारण जीव यदि बिल्ली, बाघ-भेड़िये आदि के अवतार में जा पडा तो जन्म से चूहे, हिरन वगैरह को शिकार के तौर पर ही देखेगा फिर यहाँ से भी कितने अधिक घोर-घातक पापाचरण शरु हो जाते हैं ? उसके फल स्वरुप बादमें हलके-तुच्छ भवों की कैसी परंपरा चलती है ?

इसीलिए ऐसे अधम अवतार को पैदा करने वाले पापाचरणों और दुष्ट भावों से बचना चाहिए । जीवन में कितने ही पाप-कृत्य पारिवारिक जनों की शर्म से या मूढ लोगों के अनुकरण से या लोगों में अच्छा दिखे इस उद्देश्य से होते हैं । परन्तु उसमें कर्म को शर्म नहीं होती कि पापकर्म न चिपके और पुण्य कर्म को अच्छा लगने जैसा कुछ नहीं है कि वह खुश हो कर आत्मा में आ जाय !

कर्म तो जीव के अपने आचरण एवं भाव को देखते हैं । परन्तु उनका सेवन करते समय जीव के लिए हुए निमित्त को नहीं देखते । किसी ने हमें बिना कसूर मारा और हमने गुस्सा किया तो कर्म यह नहीं देखता कि 'इस गुस्से में तो दूसरे का दोष था इसलिए माफ करूँ ।' नहीं,

कर्म सत्ता ने तो जीव के प्रति एकही सूत्र रखा है : 'दूसरो के कसूर से भी तूने अपना मन बिगाडा न ? तो ले सजा, और तेरा कसूर होते हुए भी बाद में समझदार बन कर तूने अपने मन को सुधार लिया ? पक्का पश्चाताप-तपस्या अपनायी ? तो लेता जा इनाम !'

खंडक मुनि का और झांझरिया मुनि का वध करने वाले राजा ने मुनि के कसूर के बिना महात्मा का वध किया, फिर भी बाद में मन को सुधार लिया तो वे दोनों राजा उसी भव में सब कर्मों का नाश कर के मोक्ष को प्राप्त हुए। नागदत्त सेठ का बाप बकरा बना था, उसके अपराध के बिना कसाई ने उसे काट डाला, इसमें बकरे ने मन बिगाड कर कृष्ण (काली) लेश्या की तो वह मरकर नरक में उत्पन्न हुआ।

**जोगी का दृष्टांत: ज्ञान के बावजूद कर्म नहीं छोडता :**

शास्त्र में ऐसा प्रसंग आता है कि एक मनुष्य दूसरे पर झूठा आरोप लगाता है, जिससे उस बेचारे को भयानक सजा मिलती है। यह आरोप लगाने वाला मनुष्य ऐसा भयंकर अनुबंधयुक्त पाप उपार्जन करता है कि उसपर १०८ भवों तक आरोप लगा करता है। उनमें से जब अंतिम एक सौ आठवा भव होता है तब चूँकि वह पाप अब बिल्कुल दुर्बल हो गया होता है इसलिए वह वैरागी-जोगी बनता है और उसे संयम-तपस्या के फल स्वरूप अवधिज्ञान जैसा विभंग ज्ञान होता है। वह उसमें देखता है कि बहुत पहले के भव के पापाचरण के कारण यहाँ भी आरोप लगानेवाला है, और खुद उसमें से नहीं बच सकेगा ? सो होता यह है कि 'वह स्वयं एक नगर के बाहर उद्यान में ध्यानरत है और एक चोर किसी की रत्नमंजूषा चुराकर दौडा आ रहा है। पीछे कोतवालों को आते देख चोर उस रत्नमंजूषा को इस जोगी के पास रख देता है और खुद भाग जाता है। कोतवाल लोग आकर जोगी के पास संदूक पड़ा देख जोगी को राजा के पास उठा ले जाते हैं। राजा कहता है, 'अरे दुष्ट ! तू योगी के बनावटी वेश में रह कर ऐसे धंदे करता है ?' सिपाहियों से कहता है 'जाओ, इसे शूली चढ़ा दो।'

अब यहाँ वह जोगी यदि सफाई दे तो भी कर्मसत्ता तले उसे कौन स्वीकार करेगा ? जोगी निर्दोष है तो भी कर्मसत्ता कहाँ बचने देती है ? फिर जोगी स्वयं जोगीपन के हिसाब से जंगल में भागे हुए चोर की बात भी नहीं बता सकता,

अतः कुलमिलाकर बात यह कि 'कर्म का लेखा पूरा करें।' जोगी को शूली पर चढ़ना पडा।

**कर्म केवलज्ञानी को भी नहीं छोडता :**

प्र० ज्ञान था तो पहले से ही अन्य स्थान पर जाकर बच नहीं सकता था ?  
उ० सवाल अधुरी समझवाला है । ज्ञान था तो कैसा ज्ञान था? ऐसा कि उस पर 'आरोप लगनेवाला है।' यह मालूम था । बस । अब अन्य स्थान पर जाय तो भी क्या ? वहाँ कोई ऐसी घटना घटे कि आरोप का निमित्त उपस्थित हो ही जाय । कर्मसत्ता कहाँ छोडती है ?

**निकाचित कर्म रक्षक की आँखें में धूल झोंकती है ।**

यह तो अवधिज्ञानी की बात है, पर प्रभु महावीर तो केवलज्ञानी थ । सर्वज्ञ थे, उन्हें बचने के उपाय नहीं मिल जाते ? परन्तु नहीं, निर्धारित कर्म का उपाय उन्हें भी नहीं छोडता । गोशालक आकर उन पर भी तेजोलेश्या छोड बैठा । निःसंदेह वह प्रभु के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकी, पर केवल प्रदक्षिणा देकर गयी, तो भी उससे भी प्रभु को छः महिनों तक गर्मी की पीडा रही ! प्रभु वीतराग थे अतः वे चाहें स्वयं पहले से किसी अन्य से न कहें कि 'गोशालक मुझ पर तेजोलेश्या डालने वाला है अतः तुम सावधान रहना, परन्तु भगवान के पास जघन्यतः (कम से कम) एक करोड़ देवता तो सदा साथ रहते हैं कि नहीं ? वे सब कहाँ गये कि किसी को यह नहीं सूझ पाया कि, 'चलो, मैं गोशालक को पहले से रोक लूँ ? कहो कि प्रभु का पहले बाँधा हुआ निकाचित कर्म उदय में आनेवाला था सो ऐसा कि किसी को सूझे ही नहीं । सबकी आँखों में धूल झोंक दे । सभी को गफलत में अनुपयोग-अनजान में डाल दे !'

**दो महान तत्त्व :**

बात यह है कि....

(9) कर्मसत्ता यदि केवलज्ञानी को भी न छोडे तो हमारी क्या बिसात जो हमें छोडे ? अतः जीवन में सीधी राह पर चलते हुए भी पीडाएँ-आपत्तियाँ आती हैं उन्हें अपने ही कर्मों के निर्धारित-अनिवार्य फल समझकर -

(i) उसमें आकुल व्याकुल न हों,

(ii) दूसरों को अपराधी नहीं माने, और

(iii) उन्हें सहर्ष सह लें

(२) हमारे सीधी राह चलते हुए भी देखने में भले ही हमें दूसरों के निमित्त से पीडा आई हो, पर वहाँ यदि हमने मन बिगाड़ा और दूसरे पर द्वेष काली लेश्या आदि की तो कर्म को शर्म नहीं है। वह शीघ्र ही अशुभ रूप में हमारी आत्मा पर चिपक ही जाएगा ! और उसके कुफल परलोक में आ उपस्थित होंगे।



## ११. कामान्ध श्रेष्ठिपुत्र का दृष्टांत

एक नगर में एक सेठ को अपनी कँवारी पुत्री का विवाह करना था। एक श्रेष्ठिपुत्र के साथ ब्याहना तो निश्चित हो चुका था। अब वह बारात के साथ घोड़े पर बैठ कर ब्याहने आ गया। परन्तु उस कन्या को पहले एक अन्य श्रेष्ठिपुत्र से प्रेम था, वह भी इस कन्या को बहुत चाहता था। सो वह भी बरात के साथ वहाँ ब्याह करने आ गया ! और रोब के साथ कन्या के पिता से बोला, 'आपकी कन्या की शादी मेरे ही साथ होनी चाहिए, नहीं तो मैं उसकी शादी हरगिज़ दूसरे के साथ नहीं होने दूँगा।' बस वहाँ हठ कर के उसने पडाव डाल दिया।

**मानव भव में कर्त्तव्य :-**

है न सीना जोरी मानव जाति में भी ऐसे उत्पातकारी तत्व होते हैं। इस कारण दूसरों को बहुत दुःखी होना पडता है, पर उस उत्पातकारी को कहाँ परवाह होती है ? उसे तो अशुद्ध पुण्य के योग से राक्षसी बल मिला है। राक्षसी धन और सत्ता मिली है, सो उनके बल पर उसे रोब गाठते हुए ही फिरना है, और दानवीय कार्य करने हैं। जंगली पशु के तथा म्लेच्छ जैसे मानव के अवतार में तो ऐसे कार्य किए परंतु उत्तम आर्य मानवावतार में भी वहीं ? दर असल तो उत्तम आर्य मनुष्य के भव में उनका मूल्यांकन कर उनसे उल्टी रीति नीति अपनानी चाहिए। अर्थात् धन-बल सत्ता विद्धता वगैरे मिला है पर उसके बल पर सीना जोरी - जबरदस्ती तानाशाही नहीं बल्कि अति नम्रता, मृदृता और सहनशीलता अपनानी चाहिए।

**सत्त्वा सत्त्व** यह है। सात्त्विकता नम्रता सहजवृत्ति में है। उस में तो निरा तामसभाव है। सामनेवाला गुस्सा करता हुआ आवे तो उसे धमका देने में सात्त्विकता नहीं है। पर तामस भाव है। सात्त्विक भावका विकास तो इस में है कि सामनेवाले की गुंडागिरी का कोई प्रतिकार नहीं, सामना नहीं, बचने की इच्छा नहीं बल्कि सहर्ष सहन कर लेना। महावीर प्रभुने दुष्टों के उपसर्गों में यही किया शांत - प्रशान्त चित्त से इस तरह सहन ही करना जारी रखा ! तो उसके फलस्वरूप सत्त्व ऐसा खिल उठा कि उसके कारण अन्त में अपूर्व करण! सामर्थ्ययोग ! और क्षपकश्रेणी लगा कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

### अज्ञानी लोगों की ओर मत देखो :

मानव में यह बहुत मजेका कार्य है कि जो सहने की बात आवे, भीतर दबाने की बात आवे तो आने दो। उसे शांति से सहन ही करना। जराभी उत्तेजित नहीं होना चाहिए। किसी तरह का अभिमान क्रोध रोष रोब नहीं दिखाना। ऐसा छोटे से बड़ा जो कुछ भी जितना जितना सहन - दमन किया जाय उतनी उतनी सत्त्व की मात्रा अन्तर में बढ़ती जाती है। भले ही लोग स्त्रैण कहे, इसमें पानी ही नहीं है ऐसा कहें, फिर भी ऐसे मूढ़, अज्ञानी लोगों की परवाह न करो। अपने वीर पूर्वजों की ओर देखो।

उक्त श्रेष्ठिपुत्र ने कन्या के बाप को धमकी दी, कन्या की शादी न करने देने की हठ ले कर बैठ गया। सेठ पिता उलझन में पड़ गया कि क्या करूँ ? आखिर उसने नगर के राजा की शरण ली। जाकर राजा से यह आपत्ति दूर करने की प्रार्थना की। राजा ने कहा, 'चलो ! मैं स्वयं आकर निपटा देता हूँ। ऐसा कह कर राजा स्वयं वहाँ आता है।

अब देखिये ! मनुष्य कर्म की एक आफत दूर करने की कोशिश करता है तो कर्म कोई और आफत कैसी लाकर खड़ी कर देता है। कर्म को जबरदस्ती के आगे मनुष्य का सोचा हुआ क्या होता है ? तब प्रश्न उठता है -

प्र० तो क्या मनुष्य कुछ सोचे ही नहीं ?

उ० इसमें विवेक का उपयोग करना चाहिए। ऐसा सोचा हुआ किस काम का जो पार ही न पड़ सकता हो ? ऐसा सोचकर क्या फल पाया ? अपेक्षा ऐसी रखें कि जो अपने हाथ की बात हो, जिसे स्वयं पैदा कर सके, जो सोचा हुआ सफल हो।

प्र० यों तो इस कर्माधीन जीवन में ऐसा तो क्या है कि जिससे सोचा हुआ पूरा



करने का दृढ़ विश्वास रखा जा सके ?

**सोचा हुआ क्या क्या सफल होता है ?**

उ० सोचा हुआ सफल हो ऐसी दो वस्तुएं हैं।

(१) जिसमें पुण्य का सहारा हो वह सोचा हुआ पार पड़ता है। वर्तमान योग्य परिस्थिति पर से एवं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुकूल संयोगो से अंदाजा लगा सकते हैं कि हमें पुण्य का सहारा है।

शारीरिक स्वास्थ्य ठीक चल रहा है, और भूख लगी है, ऐसे में सोचा कि 'खाऊँ ताकि शरीर काम करने में समर्थ रहेगा' तो यहाँ सोचे हुए में पुण्य का सहारा कहा जाएगा ओर उचित परिणाम में भोजन लिया जाय इसे द्रव्य-संयोग अनुकूल होना माना जाएगा - वहाँ सोचा हुआ सफल होगा।

अब अगर स्वास्थ्य ठीक नहीं हैं, उदाहरणतया शरीर सुस्त है, बार बार पिशाब होता है, तो यह अजीर्ण का लक्षण है, 'अजीर्ण बहुमूत्रता' वैद्यक शास्त्र का यह कथन है। इस स्थिति में पुण्य का सहारा नहीं कहा जाता। फलतः यदि खाऊँ और बलवान बनूँ ऐसी धारणा से खाए तो यह धारणा सफल नहीं होगी।

इसी तरह - स्वास्थ्य तो अच्छा है इसलिए पुण्य का सहारा है, परन्तु कूछ ही देर पहले भरपेट भोजन किया है और अब सोचे कि 'ये पेडे आये है सो खाऊँ ताकि अच्छी ताकत आएगी' तो यह अपेक्षा पेडे खाने से सफल नहीं होगी, ताकत के बदले बीमारी होगी ऐसा क्यों ? आरोग्य के पुण्य का सहारा तो था किन्तु अनुकूल द्रव्य - क्षेत्र -आदि में से अनुकूल भाव का संयोग नहीं था। अनुकूल भाव यह कि आहार लेने की सही रूचि अर्थात् भूख। उसके न होने के कारण पेडे खाने से भी अपेक्षित शक्ति कैसे आए ? सोचा सफल नहीं होता।

यही बात व्यापार में भी है। पुण्य का बल न हो और व्यापार करे तो सोचे हुए मुनाफे की जगह नुकसान हो, सोचा हुआ सफल न हो। इस तरह द्रव्य-क्षेत्र काल भाव का अनुकूल संयोग न रखे तो भी पछाड़ खाता है। प्रतिकूल द्रव्यादि से धंधा करे तो, लेने के देने पड़ जायँ, अपेक्षित सफल न हो यह एक बात हुई।

(२) सोचा हुआ सफल क्या होता है उसका दूसरा मुद्दा यह है कि जो आत्महित का सोचा जाय, उसके अनुकूल सामग्री तैयार की जाय, तो वह सोचा हुआ आत्महित साधा जाता है। यह बहुत महत्त्व की बात है।

एक बात समझ रखे कि जितना भी बाह्य - प्राप्ति है वह पुण्य-पाप के अधीन है औ जो आभ्यंतरिक वस्तु है वह पुरुषार्थ के कारण होती हैं। जैसे -धन बाह्य

वस्तु है उसकी प्राप्ति और स्थायित्व में मुख्यतः पुण्य काम करता है, पुरुषार्थ कितना ही हो परन्तु पुण्य के अनुपात में वह मिलता है, टिकता है; जब कि सम्यक्त्व - ज्ञान क्षमा आदि आन्तरिक वस्तुएँ हैं, इनकी प्राप्ति और स्थायित्व में मुख्यतः पुरुषार्थ काम करता है। पुरुषार्थ जितना ही शक्ति शाली होगा उस के अनुपात में इनकी प्राप्ति और स्थायित्व होगा।

### बाह्य प्राप्ति और आन्तरिक प्राप्ति में फर्क क्यों ?

इसलिए कि अन्दर की वस्तु आत्मा के स्वरूप में तो निहित ही है परन्तु उसपर कर्म आवरण लगे होने के कारण वह बाहर प्रकट नहीं दिखाई देती। अतः अब जितना पुरुषार्थ कर कर्म की उन दीवारों-कर्म के आवरणों को तोड़ो उतने परिमाण में वह वस्तु प्रकट होती है, जब कि आरोग्य, दौलत परिवार प्रतिष्ठा आदि बाहर की वस्तुएँ आत्मा के शुभाशुभ कर्मों के उदय से मिलती हैं। इसमें कर्म की प्रधानता रहती है, पुरुषार्थ की गौणता। दही में से मक्खन निकालने के लिए उसे बिलोते समय पानी डालने का जैसा उपयोग है, वैसा यहाँ कर्म उदय में आने के लिए पुरुषार्थ का उपयोग, बाकी तो जैसे दही जितना कसवाला होगा उतना मक्खन निकलेगा वैसे ही पुण्य जितना प्रबल होगा उतना धन-प्रतिष्ठा आदि का मिलना और टिकना समझे। यह बताता है कि पुण्य के आधार पर धन की प्राप्ति है।

### आत्महित पुरुषार्थ के अधीन क्यों ?

आत्महित आत्मा के भीतर की वस्तु है। उस पर कर्म के आवरण चढे हुए हैं। उन्हें तोड़ने की जरूरत है अतः इस में पुरुषार्थ की प्रधानता है, और पुरुषार्थ हमारी अपनी धारणा के अनुसार होता है। अतः यहाँ आन्तरिक गुण-धर्म की साधना की बाबत में अपेक्षा सफल होनेका आधार पुरुषार्थ पर रहेगा। जैसा और जितना पुरुषार्थ करे उसके अनुपात में हित प्रकट होगा। उदाहरण के तौरपर - मन से सोचे कि 'मुझे क्षमा - नम्रता ही रखनी है' फिर जैसा पुरुषार्थ आजमाएँ उतने परिमाण में उसे आजमाया जा सकेगा, और पुरुषार्थ तो हमारे हाथ की चीज है अतः उस के आधारपर अपेक्षा सफल होती है।

बस, बात यह चल रही थी कि उस कन्या के पिता ने सोचा कि 'मेरी बेटी से ब्याहने मुझे जो नापसंद है वह दूसरा प्रत्याशी भी आ गया है और हठ करके डर दिखाता हुआ बैठा है। अतः राजा को बीच में लाऊँ तो राजा उसे हटा देगा

और मुझे जो उम्मीदवार पसंद है उसके साथ पुत्री की शादी हो जाय ।’ परंतु उसकी यह अपेक्षा बाह्य वस्तु के लिए थी अतः उसके सफल होने में तो पुण्य का सहारा और संयोग अपनी भूमिका निभाते हैं, जब कि पुण्य कोई अपने हाथ की बात नहीं है अतः अनुकूल ही उदय में आवे और सोचा हुआ काम हो जाय ऐसा नियम नहीं है । यहाँ ऐसा ही होता है कि राजा स्वयं सेठ के यहाँ फैसला करने जाता है पर न जाने उसमें से क्या नतीजा निकलेगा ?

### राजा ने क्या किया ?

कहो कि राजा आवे फिर क्या बाकी रहे ? परंतु नहीं, कन्या के भाग्य में न तो अपने माने हुए उम्मीदवार से ब्याहने का लिखा है न पिता के पसंद किये हुए उम्मीदवार से । फलतः यहाँ होता यह है कि राजा घर आया उसके बाद सेठ अपनी सजी-सजाई पुत्री को लाकर राजा के चरणों में प्रणाम करवाता है, और उसे खड़ी करके राजा को परिचय देता है कि ‘यह है मेरी पुत्री, और इससे ब्याहने दूसरा गलत उम्मीदवार आकर जम गया है । तो आप उसे दूर हटाएँ यह आपसे मेरी प्रार्थना है,’ और कन्या से कहता है, ‘बापू से प्रार्थना करो कि बापू ! मेरा संकट दूर करने की कृपा कीजिये !’ यह विधि करता है उतने में राजा इस सुन्दर रुपवती कन्या को देखकर खुद उस पर मोहित हो जाता है और मन में विचार करता है कि ‘यह तो मेरी पटरानी बनाने योग्य है, अतः अभी तो यहाँ के इस प्रसंग को एक बार ढील में डाल दूँ, बाद में मैं अपनी इच्छा पूर्ण करने का उपाय ढूँढ लूँगा ।

### दुनिया में किसी का विश्वास नहीं :-

कर्म की विचित्रता देखिये ! रक्षण करने राजा को बुलाया वह भक्षण ही करने की सोचता है । इस दुनिया में किस का विश्वास किया जा सकता है ? किसी का नहीं ।

कवि आत्मारामजी महाराज कहते हैं -

‘जिन सेवो निज आतमरूपी  
अवर न काई सहायी, सखी री  
चाह लगी जिन चन्द्र प्रभु की ’

जगत में और कुछ भी सहायभूत नहीं है। अतः किसी के भरासे मत रहो। न किसी जड वस्तु के, न किसी चेतन के। जैसे या परिवार, सेठ या मित्र, किसी के भी भरोसे लगे रहने योग्य नहीं है। मात्र वीतराग जिनेश्वर देव को भजो, क्योंकि वीतराग को अनन्य भाव से भजने से वीतराग बना जाता है। यों कहो कि वीतराग हमारे अपने आत्मारूप हैं। हमारा आत्मा वीतराग है लेकिन कर्म की परतें जम जाने से वीतरागता ढँक गई है, और जीव राग करता है, द्वेष करता है। काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-माया में पड़ता है। किन्तु यदि वीतराग का आलंबन दृष्टि समक्ष रखा जाय, -‘यह वीतराग का स्वरूप सो मेरा असली स्वरूप है, राग-द्वेषादि तो मेरा विकृत रूप है, उसे अब नहीं रहने दूँ’ यह बात ध्यान में रखी जाय तो फिर हृदयकी वृत्तियाँ और विचार, वाणी-व्यवहार की प्रवृत्तियाँ उसे शोभने वाली उसके अनुकूल और उस ओर ले जानेवाली रखी जा सकें। जिससे क्रमशः वीतराग बनकर इस कुटिल संसाररूपी कैदखाने से मुक्त हुआ जा सके। इसलिए दूसरे की अपेक्षा, दूसरे का भरोसा छोड़कर देवाधिदेव अरिहंत वीतराग की ही शरण लो।

**कवि वीर विजयजी कहते हैं -**

‘साची एक माया रे जिन अगगारनी ’

(जिन-अनगार का प्रेम ही एक सच्चा प्रेम है )

एक मात्र जिनेश्वर देव और अनगार यानी संसार त्यागी मुनि की ही ममता सच्ची निकलती है। काया-माया परिवार की ममता तो आखिर खोखली ही निकलेगी। ममता करो, विश्वास रखो, तो देवाधिदेव और साधु पर।

**राजा की पैतरे बाजी :-**

बेचारा सेठ राजा के विश्वास पर राजा को घर ले आया, तो राजा खुद ही कन्या को हडपना चाहता है। अब कैसे झपट लेना, उसका मार्ग निकालता है। यह राजा मानो विचार में पड़ कर सेठ से कहता है ‘यह सब उपद्रव देखकर मेरा दिमाग फिर गया है, अतः फिलहाल शादी मुल्लवी रखो, दोनों प्रत्याशियों को रवाना कर दो, और मैं बाद में हल निकाल दूँगा।’ ऐसा कह कर राजा उठकर चलता बना।

अब सेठ भी क्या करे ? जैसे तो वह दूसरा युवक दूर नहीं किया जा सकता अतः सेठ ने दोनों से कह दिया कि अभी तो शादी मुल्लवी कर दी है अतः अपने अपने स्थान को पधारिये।

### मानव-भव से पुनः भवचक्र के घर को :-

हो चुका, दोनों आये थे रूप-सुन्दरी से ब्याहने, सो लाचार होकर खाली हाथ वापस घर सिधाये । मोहमूढ़ जीवन का भी ऐसा ही हाल है । पूर्वभव में सुकृत करने से यहाँ उत्तम कुल में आया सो शिवसुन्दरी को ब्याहने । ब्याह करानेवाले देव-गुरु-धर्म भी मिले परन्तु बीच में मोह राजा ने दखलंदाजी की, मोह का सहारा लिया तो शिवसुन्दरी से शादी स्थगित हुई और जीव को पुनः भवचक्र के घर में लौटना पड़ा ।

बताओं, यहाँ क्यों जनमे हो । मोक्ष-शिवसुन्दरी से ब्याहने ? या पुनः संसार की गतियों में भटकने के लिए ? अब अगर संसार के विषयों के प्रति मोह के सहारे रहोगे तो कैसा परिणाम होगा ?

### अमात्य के द्वारा मंत्रणा :-

राजा के मन में कन्या बैठ गयी है, इसलिए उसने राजमहल जाकर अमात्य को बुलाकर अपनी इच्छा प्रकट की । फिर कहा, 'देखो तुम मेरे साथ उसका विवाह करने की योजना गढ लो ।'

अमात्य ने सेठ को अपने मुकाम पर बुलाकर कहा 'देखो! तुम्हारे दो उम्मीदवारों का झमेला है, दोनों समर्थ हैं, उनमें से उस अनधिकारी को बलात हटाने से शादी तो हो जाए, परन्तु बाद में भय रहता है कि वह हटाया हुआ युवक कहीं तुम्हारे दामाद को नुकसान पहुँचाए तो ? इसलिए राजा साहब उलझन में पड़े है, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारी पुत्री रानी होने योग्य रूपवती है, अतः यदि तुम अपनी पुत्री का विवाह महाराजा के साथ ही कर दो तो वे दोनों आपसी ईर्ष्या में दबेंगे, दोनों में से एक की भी मजाल नहीं कि महाराजा को या तुम्हारी पुत्री को कुछ कर सके । हाँ, इसमें इतनी एक कठिनाई है कि राजा साहब को मंजूर होना चाहिए । परन्तु तुम्हारी इच्छा हो तो महाराजा साहब को मैं समझाऊँ और तुम भी प्रार्थना करो कि मेरी कन्या से विवाह करने की आप ही स्वीकृति देने की कृपा कीजिये ।'

सेठ सोच में पड़ गये कि 'यह और एक नया गुल खिला ! लेकिन अमात्य की बात गलत नहीं है, और यह राजा से ब्याह करवाने को कहता है तो इस भाव में कुछ बुरा नहीं । मेरी पुत्री यदि राजरानी बनती हो तो इससे अच्छा क्या ? (सोने में सुगन्ध) बस, अमात्य से कहा, "ऐसा हो सकता हो तो सहर्ष कीजिये । परन्तु देखिये भाई साहब रानी बना कर फिर किसी कोने में न डाल दी जाय ।

महाराजा को जीवनभर उसे प्रेम-पूर्वक रखना चाहिये ।”

अमात्य ने कहा, “मैं प्रयत्न करता हूँ, फिर तो जैसी आपकी और कन्या की तकदीर ।

बुद्धिमान है अमात्य। बनिये को जरा भी झनक नहीं पड़ने देता कि ‘राजा तो स्वयं ब्याह करने को आतुर है ।’ वह तो अभी तक ऐसा ही दिखाता है कि, “मुझे यत्न करना रहा, होना न होना भाग्य के अधीन है ।”

**कुशल सेवक अपने स्वामी की प्रतिष्ठा को अच्छी तरह सन्हालते है :-**

पुत्र पिता का सेवक, पत्नी पति की सेविका, शिष्य गुरु का सेवक, नौकर मालिक का सेवक इन सबको यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्वामी की इज्जत सेवक की इज्जत है । सेवक को ऐसा लगना चाहिए कि मैं हो सकूँ उतना यश अपने स्वामी को दिलाऊँ । उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा करूँ, उसे बढ़ाऊँ ।’ तो यह सेवकत्व कहलाए, स्वामी की सेवा की हुई मानी जाय । उसके स्थान पर एक ओर स्वामी की बदनामी हो और यश अपने खाते में जमा करे तो ऐसी सेवा करनेवाला सेवक कैसा ?

अमात्य ने सेठ से कहा, ‘बाद में मिलना, मैं मौका देखकर महाराजा से बात करूँगा । यह भी होशियारी ! तुरन्त नहीं निपटना है कि, ठहरो, मैं राजा से बात कर आता हूँ ।’ इससे शायद वणिक् को गंध आ जाय तो -कि यह तो पहले से योजित (पूर्वयोजित) लगता है । नहीं, वह तो ऐसे मनवाता है कि यह बड़ी बात है अतः अवसर खोजना पड़े । योग्य अवसर दिखाई दे तभी महाराज के कान में बात डाली जाय ।’

बस, सेठ अपने घर गया । मन में तरंगित होता हुआ कि वाह ! मेरी वणिक् कन्या राजरानी बने तो कितना अच्छा , भगवान से प्रार्थना करता है कि हे भगवान ! ऐसा करो कि अमात्य से राजा समझ जाय ।

**भगवान को कब याद करना ?**

**और भगवान से कैसे काम करवाना ?**

हमारी बलिहारी है । जब तक सब सीधा चले, अनुकूल चले तब तक दिमाग में हमारी काया-कुटुंब तथा तत्सम्बन्धी वस्तु ही रमा करती है । केवल भगवान नहीं! सब अच्छा मिला भगवान के शुभ प्रभाव से, परन्तु ‘रोग मिटा कि बैद बैरी’ कहावत की तरह भगवान् से अभीप्सित प्राप्त हो जाने के बाद भगवान् को याद

करने की क्या जरूरत है ।

कवि गाते हैं 'प्रभु! मुझे तुमसे काम है ? (प्रभु! मारे तुमशुं काम!)

जब कि आप को ऐसे गाना है - "प्रभु ! मुझे धन से काम है ।"

भगवान की आवश्यकता कितनी ? कब ?

**मोहराजा धर्मराजा का उपहास करता है :-**

दुःख आने पर ' हे भगवान !' पर वह जरा सा कम होते ही 'कैसा?' तो यह कि धन-माल-परिवार की ही माला जपना। भगवान् को याद ही कौन करता है ? फिर तो मिली हुई सुविधा में फँस जाना । धर्मराजा के साथ मोहराजा का यह मजाक है । वह धर्म से कहता है, ले जा, ले जा, तू मेरे सेवक जीव को भगवान् के पास, लेकिन मनचाहा मिलने की ही देर है, उसके बाद यह यदि भगवान् को याद करे तो मेरा नाम मिटा देना ।' महाउपकारी भगवान को ही भूल जाना यह कृतघ्नता-बेशर्मी हरामीपन कहा जाय या और कुछ ?

आज के लडके क्या करते हैं ? माँ-बाप के पास से सबकुछ सारा जन्म,संपूर्ण पालन-पोषण-शिक्षण, धंधा और घरवाली मिल गयी बस, इतनी ही देर । फिर क्या तो 'अलगौड़ा' । माँ-बाप को पहचानता ही कौन है ? याद ही कौन करता है ? भगवान के प्रति हमारी ऐसी स्थिति हो तो यह हरामीपन है कि और कुछ ?

**सेठ की पुत्री रानी**

वह बनिया इसलिए भगवान् से प्रार्थना करता है कि इसकी पुत्री को राजा स्वीकार कर ले । 'हे भगवान् ! राजा मेरी कन्या को स्वीकार कर ले ऐसा करो ।' इधर मंत्री (अमात्य) ने राजा को 'बात जम गयी है,' यह समझा दिया । बाद में जब सेठ मंत्री के यहाँ फेरे लगाता है तो पहले तो कहता है 'अभी तक मौका नहीं मिला' बाद में कहता है 'राजा के गले बात उतरी नहीं । इसकी मुझे यह वजह मालूम होती है कि राजा साहब को कन्या चाहिए हो तो बड़े राजाकी कन्या आ सकती है, इतना ही नहीं बड़ा दहेज भी लाए । तुम्हारी कन्या ले तो तुम दहेज क्या दो कि तुम्हारी कन्या ग्रहण करे ।' सेठ ने कहा -दहेज मैं काफी दूँगा । 'कितना दहेज दोगे ? ' 'एक लाख रुपये ' मंत्री ने कहा, 'मेरे सेठ ! किसे देने की बात करते हो ?' सेठ ने कहा , तो आप कहिए । मंत्री कहता है 'दस लाख रुपये । उसके बिना तो राजा साहब को मनाना मुश्किल है ।' सेठ ने हा भी भरी । मंत्री ने मानो राजाने कठिनाई से स्वीकार किया हो ऐसे समझाकर सेठ पर

अहसान चढ़ाया । शादी निश्चित हुई और रु.१० लाख के दहेज के साथ कुमारी को राजा के साथ ब्याहा गया ।

**युवक घुरता है :-**

यहाँ तो बात निपट गई । परन्तु वह बखेड़ा करनेवाला उम्मीदवार युवक, वह कैसे चुप रहे ? उसे इस कन्या से और कन्या को उससे बहुत प्रेम था । अतः वह युवक तो तरस रहा है कि, हाय ! यह कन्या हाथ से गयी, अब मैं उसका संपर्क कैसे साधूँ ?

**विषय की वासना और त्वचा का प्रेम बहुत बुरे हैं ।**

ये जीव को अंध बना देते हैं । इनकी लत के कारण जो कर्म किये जाते हैं उनके पीछे कैसी भयंकर बरबादी है यह देखने नहीं देते । ये तो शराब के नशे की तरह जीव को उन्मत्त-मूर्छित सा कर देते हैं । उसके बाद यथेच्छ पापाचरण, हिंसा दि पाप, माया-प्रपंच, मद आदि कई दोषों-दुष्कृत्यों का सेवन करवाते हैं ।

**ऐसी वासना और स्नेह सदबुद्धि को जहर देते हैं ।**

सदबुद्धि को नष्ट कर देते हैं । मानव अवतार में भी उसकी सदबुद्धि को इस की ओर से चुनौती (चेलेंज) है कि तेरी क्या मजाल कि तू यहाँ उठ सके अथवा रह सके ? रावण सीता के प्रति वासनावश सदबुद्धि खो बैठा । आर्द्रकुमार को पूर्व भव की स्त्री जो यहाँ (इस भव में) कन्या बनी थी, उसके प्रति प्रेम उभर आया तो उसने इस प्रेम की खातिर चारित्र्य भी छोड़ दिया जो महावैराग्य से लिया था । वासना और प्रेम जीव को अशक्त-मुर्दार और निःसत्व-सारहीन बना देते हैं ।

वासना और प्रेम आगे जाकर तामसी-अतितामसी बनाते हैं । राजा भर्तृहरि पिंगला में मूढ बना था , तो उसने सच्ची सलाह देनेवाले छोटे भाई को देश निकाला दिया । राजा प्रदेशी सूर्यकान्ता रानी के प्रेम में अन्धा और नास्तिक बना, स्वयं वासना और प्रेमके आवेश के कारण उसने धर्म की बात करनेवाले किसी भी योगी-साधु-सन्यासी को नगर में प्रवेश करने की मनाई कर दी । यह क्या है ? अति तामस-भाव । वासना और विषय-प्रेम दूसरा क्या देंगे ?

**स्त्री के वेश में :-**

बस, यह युवक भी ऐसा विषयान्ध, वासना मूढ है और उस रानी बनी युवती पर अब भी अंध-प्रेम के आवेश में ऐसा खिंचता है, कि उससे मिलने-मुलाकात



करने की अति आतुरता में मार्ग ढूँढ निकालता है। स्त्री का वेश धारण कर रानी के एकान्त के समय वह उसकी सखी के रूप में उसके महल में पहुँचा। रानी क्या उसे स्वीकार करेगी ? यह कुछ सोचना नहीं है। कैसा अधम तथा संकटमय मार्ग ?

**प्रेम और वासना का आवेश सज्जनता तथा खतरे के प्रति लापरवाह बनाता है।**

मानव-देह मिलने से क्या ? यदि ये अंध आवेश कायम रखते हों ? देखना हो तो इसमें नीचता और खतरा देखा जा सके ऐसी बुद्धि मिली हैं। परन्तु ऐसी बुद्धि होते हुए भी उपयोग किसे करना है ? पशु को तो बेचारे को यह नीचता और जोखिम समझने की बुद्धि ही नहीं मिली, अतः स्वभावतः उसमें खिंच जाता है ; परन्तु यहाँ तो भान भूला हुआ मनुष्य बुद्धि होते हुए भी बुद्धि का दिवाला निकालता है। ऐसा बुद्धि का दिवाला निकलवानेवाले प्रेम और वासना के आवेशों का त्याग नहीं करना है, तो फिर सज्जनता भी कहाँ से रहेगी ? और आगामी संकट का विचार भी कैसे आएगा ?

**रानी क्या कहती है ?**

वह युवक स्त्री वेश में रानी के महल के नीचे दरवान से यह कहकर कि “मैं रानी की सखी हूँ” ऊपर गया, रानी के पास जा खड़ा हुआ, तो रानी ने कहा, “यह तुमने क्या किया ? यहाँ क्यों आये ?”

युवक ने कहा, “मैं तेरे बिना नहीं जी सकता। तू यदि आने का इन्कार करेगी तो मैं आत्महत्या करूँगा। मुझ पर तू अपना प्रेम भूल गयी ?”

रानी कहती है - “प्रेम तो नहीं भूली परन्तु अब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, तब क्या हो सकता है ? अब तो वर्तमान परिस्थिति में सन्तोष मानना ही रहा।” रानी एक नारी होते हुए भी उचित बात कहती है जब कि यह पुरुष पर वासना का गुलाम सो कहता है -

‘परिस्थितियाँ बदल गयीं परन्तु मैं इस तरह से तो यहाँ आ सकता हूँ न ? और तू मुझे सुख दे सकती है न ? इन्कार करेगी तो मेरे लिए मृत्यु के सिवा और कोई रास्ता नहीं है।’ ऐसा कहकर रोने बैठा।

**शर्म में भयंकर अकार्य : कर्म की माफी नहीं मिलती :-**

उसका आत्महत्या का निर्णय सुनकर रानी घबरा गयी, विह्वल हो गयी। पूर्व का प्रेम तो था ही, प्रेम की शर्म में खिंच गयी, ना नहीं कह सकी; और युवक

का वहाँ आना-जाना और अकार्य-सेवन शुरू हो गया ।

कैसी विटंबना है मोह की ? रानी सचमुच उन्मार्ग पर जाना नहीं चाहती लेकिन युवक के प्रति मोह तथा शर्म के कारण वह कुमार्ग की ओर मुड़ जाती है । झूठी शर्म कैसा भुला देती है ? कर्म-सत्ता से माफी मिलती है क्या ?

प्र० परन्तु हर्षोल्लास के साथ पाप न किया जाय उस का फर्क तो पड़ता होगा न ?

उ० अर्थात् क्या कहना चाहते हे ? पर स्त्री गमन और परपुरुष गमन के भयंकर अपराध का दंड नहीं मिलेगा ? यह अपराध ऐसा है कि अपने में अधमाधम राग जगे बिना होता ही नहीं । भले न शर्म से खिंचना पड़ा तो भी वहाँ लज्जा-दाक्षिण्य के कारण असत् कामराग भभक उठा और वह सदाचार की सीमा लांघ गया इसलिए भयंकर अपराध है । माफी नहीं मिल सकती । फलतः भवांतर में दुर्गतियों एवं कुअवतारों की परम्परा ! नपुंसकत्व ! खसीकरण ! मरे हुए बच्चे पैदा होना ! नीच गोत्र ! दौर्भाग्य ! अशाता ! वगैरह वगैरह कितनी ही भयंकर सजाए है और इस भव में भी भयंकर राज्य दंड, लोक निंदा, शत्रु का प्रहार आदि की संभावना है। इसके ही यहाँ भी ऐसा होता है वह कितना भयंकर है सो देखिये ।

एक बार राजा ऐसे असमय में अनपेक्षित रूप से महल में आ गया जब वह युवक वहाँ आया हुआ था । दरवाजे बन्द हैं, राजा छिद्रमें से झाँकता है तो वह युवक स्त्री के वेश में क्रीडा करता दिखाई देता है । राजा स्तब्ध हो जाता है कि 'यह क्या ?' उसे भयानक क्रोध आया । परन्तु वहाँ कुछ न कर के वह नीचे उतर कर बाहर आकर पहरेदार से पूछता है कि, "ऊपर कौन आया है ? और कितने समय से आता है ?"

सिपाही ने कहा, "वह तो रानी साहिबा की सहेली है और कितने ही समय से हर रोज आती है ।"

राजा ने कहा, " अब वह जब बाहर निकले तब उसे पकड़कर राजदरबार में ले आना। देख, भूलना मत ! गफलत न हो, वरना तू अपनी बुरी हालत समझ लेना ।

सिपाही ने कहा, "जी हाँ हजूर। बराबर पकड़ कर ले आता हूँ।

राजा गया राजसभा में । इधर वह युवक नीचे उतर, बाहर निकलता है कि दरवान कहता है, "चलिये, आपको महाराज साहब बुलाते है ।"

वह घबराया कि 'न जाने राजा क्यों बुलाता है और क्या कुछ करेगा ?' अतः

कहता है 'अभी मुझे काम है इसलिए बाद में मिलूँगा ।

सिपाही ने कहा "नहीं, इसी वक्त चलना पड़ेगा ।"

युवक बोला 'हमारा - स्त्रियों का वहाँ क्या काम है? इस वक्त नहीं आया जा सकता ।'

सिपाही बोला - "गड़बड़ नहीं । इसी वक्त चलना पड़ेगा । वर्ना पकड़ कर ले चलूँगा ।

अब क्या किया जाय ? फिर भी डूबते को तिनके का सहारा - इस तरह युवक कहता है, "ठहरे ! रानी साहिबा से पूछ लो ।"

सिपाही कहता है - अरे, उनसे क्या पूछना है ? चलना है या नहीं ?

वह न न कहता रहता है, और सिपाही लोग उसे पकड़ कर राज सभा में ले गये, सभा के बीच ला खड़ा किया।

राजा ने पूछा - 'कौन है तू ?'

इसने कहा - 'मैं रानी साहिबा की सखी हूँ ।

राजाने कहा - 'सखी है या सखा ?'

ज्योंही युवक ने कहा कि 'नहीं नहीं, मैं सखी हूँ ।' त्यों ही राजाने सिपाहीयों को हुक्म दिया कि "इसके सारे कपड़े उतार दो, नंगा करो, जिससे मालूम हो कि यह सखी है या सखा है ।"

**युवक के कपड़े उतरते हैं:-**

बस, खतम! युवक की हिम्मत काफूर हो गयी। कँपकँपी छुटने लगी, पर क्या करे ? यमदूतों जैसे सिपाहीयों ने उसे घेर लिया । उसे पकड़े रखकर उसके कपड़े उतारे । युवक की जराभी टस से मस होने की ताकत नहीं तो भागने की तो बात ही कहाँ ?

**किस अक्ल के बल पर उत्पात ?:-**

राज-सत्ता जैसी एक मानवीय सत्ता की गिरफ्त से सरकना और भागना यदि असंभव है तो भला कर्म सत्ता की गिरफ्त से छूट सकना ? भाग सकना ? कैसे संभव होगा ? किस बुद्धि के सहारे आरंभ-समारंभ, इंद्रियों के रूप-रसादि विषयों के भोग, रूपये पैसे का परिग्रह, और खा-खा करने की निरंकुशता, और इन सब के पीछे राग-द्वेष-क्रोध-लोभ, ईर्ष्या-मद-प्रपंच आदि के पापाचरण आँख मूँद के कर रहे हो? क्या कर्म सत्ता छोड़नेवाली है ? यह बेशुमार पाप-सेवन सब किया-कराया क्या यों ही चला जाएगा ? या कर्म-सत्ता की क्रूर पकड़ में से इस एक-एक पाप के दारूण परिणाम को भोगे बिना नहीं छूटा जायगा ? 'बाप रे बाप'

कह कर चीखते रहने पर भी लेशभी छुटकारा या लेश भी सजा कम नहीं होगी ?  
कवि कहते है :

‘हांजी बलमदधी दुःख पामिया  
श्रेणिक वसुभूति जीवो रे;  
जई भोगव्यां दुःख नरकतणां  
मुखे पाडतां नित्य रीवो (चीसो) रे....’

श्रेणिक और कृष्ण महाराजा जैसे तीर्थंकर के जीव होते हुए भी आज नरक में पीड़ा से खूब चिल्ला रह हैं क्योंकि कर्म सत्ता की यातना से छुटकारा नहीं मिलता ।

आज कल्लखाने में क्या अनार्य म्लेच्छों के घर में क्या और क्या अन्यत्र साइन्स के प्रयोगादि में, जीव दारुण दुःख भोग रहे हैं - सो क्या है ?

पूर्व काल में मानव के अवतार में अगणित पापाचारण किये थे उनसे उत्पन्न कर्म सत्ताके ये चाबुक बरस रहे हैं ।

**विश्व के जीव क्या कहते है ?**

सुनने को कान हों तो विश्व के ये अत्यन्त दुःखी जीव मानों कह रहे हैं कि “भाई मनुष्यो । राह न भूलो ! हम भी एक दिन तुम जैसे मनुष्य थे । हमे साधु संत ना-ना कहते थे तो भी हम आँखे मूँद कर पापाचारण में डूबे रहे, खूब तीव्र अनुराग के साथ उछल उछल कर निरंकुश होकर विषयों का संग, आरंभसमारंभ, खान-पान और हिंसा परिग्रह आदि के पापों का सेवन किया, फलतः इस हालत में फँसना पड़ा है । अतः तुम चेतते रहना, हमारी तरह अविचारी साहस मत करना ।’

वह युवक यदि एक राजसत्ता की गिरफ्त से नहीं छूट सकता तो कर्म-सत्ता की पकड़ में से कैसे छूट सकेगा ? उस युवक के सारे कपड़े खेंच कर निकाल लिये गये और उसे नग्न किया गया । सभा स्तब्ध हो गयी कि ‘यह क्या ? स्त्री के कपड़ों में पुरुष ?

**युवक को दारुण दंड :-**

राजा युवक पर ताना कसता है कि, “क्यों ? तू सखी या सखा? हरामखोर!

ऐसी करतूते करता हैं। सिपाहियों ! जाओ इसके आँख कान-नाक जीभ खत्म कर दो, और बीच बाजार में इसे बाँध-जकड़ कर इसके शरीर की चमड़ी उतार लो। इस पर नमक-मिर्च का पानी छिड़के और चाबुक लगाओ।” राजा ने उसे नरक जैसी भयानक सजा फरमा दी।

यह सुनते ही युवक एकदम घबरा गया। अब कैसा सहन करना पड़ेगा - इस की कल्पना मात्र से काँप ने लगा। राजा के पैरों पड़ कर रोते गिडगिडाते माफी माँगता है, परन्तु राजा काहे का सुने ? वह तो कहता है ‘हरामी! तेरी यह सजा तो लोग भी देखें और उन्हें भी पता लग जाय कि यदि हम कोई ऐसा दुराचार का काम करेंगे तो उसकी ऐसी भयानक - कठोर सजा भुगतनी पड़ेगी। पाप करते समय क्षणभर भी जरा सोच नहीं और अब माफी चाहिए ? सिपाहियो ! ले जाओ इसे और मेरी आज्ञानुसार इसे बराबर मारो-पीटो।”

राजा का हुक्म - फिर देर कैसी ? राजा के आदमी उसे बीच-बाजार ले गये। लोगों की भीड़ जमा हो गयी। उनकी उपस्थिति में युवक की आँखे फोड़ दी, जीभ-कान-नाक काट डाले और शरीर पर से चमड़ी उधेड़ दी। वह खूब चीखता - चिल्लाता है पर यहाँ किसे दया आती है जो रुके ? शरीर पर नमक मिर्च का पानी छिड़कते हैं, और कोडे मारते हैं। शहर में आतंक छर गया। ‘परस्त्री के साथ क्रीडा करनेवाले की यह हालत बनायी जायेगी। राजा की ओर से लोगों को यह घोषणा सुना दी गयी।

सोचिये, कैसी और कितनी यातना सहनी पड़ी ? अभी यह तो यहाँ की, एक मनुष्य की दी हुई यातना है। लेकिन यह तो परिमित है। बाद में तो वह जीव गिरा नरक में। नरक में परमाधामी जो यातना देते हैं वह तो मनुष्य की दी हुई यातना से कई गुनी भयानक यातना है। रोम रोम में तीक्ष्ण सुइयाँ चुभाते हैं, पकौडियों की तरह तेल में तलते हैं, भुट्टे की तरह भट्टी में सेंकते हैं, गन्ने की तरह कोल्हू में पेरते हैं - वगैरह वगैरह कई यातनाएँ और किस सीमा तक ? सुनते भी कँपकँपी छूट जाय, तो भोगते हुए क्या क्या और कैसा लगता होगा ? यह सब किस चीज़ का फल ? दुराचरण का।

दुराचार की लत लगे हुए मनुष्य को उसका परिणाम नहीं सोचना है कि कैसा परिणाम आएगा, परन्तु परिणाम उसे थोड़ा ही छोड़नेवाला है। यह दुनिया एक बृहत् प्रदर्शन है जिसमें ऐसे विविध दुःखद परिणाम भोगनेवालों के दृश्य जगह जगह नजर आते हैं। ये सूचित करते हैं कि इन जीवों ने मानव भव में कई-दुराचरण के खेल खेले थे। यह देखकर अपने आप के बारे में विचार आना

चहिए कि 'मैं भी ऐसे खेल खेलूँगा तो मेरी भी यह दशा होगी। अतः मैं दुराचरण से दूर भागूँ।' युवक को इतनी सारी घोर यातना के बाद भी नरकगति क्यों ?

### युवक को दुःख में भी दुर्दशा:-

कारण कि वह युवक बेचारा भयानक पीड़ा तो भोग रहा है फिर भी उसका दुर्भाग्य यह है कि उसमें भी उसे पाप का पश्चात्ताप और आत्मनिंदा नहीं सूझती ! उसे तो राजा और उसके कर्मचारियों पर अत्यंत प्रबल रोष होता है, मन ही मन ऐसे सोचता है कि 'ये पापी लोग ! हाय हाय ! मुझे ये आग लगाते हैं ? मेरे हाथ में आ जायें तो इनकी चमड़ी उधेड दूँ। ऐसा सोचता है, परन्तु होता कुछ नहीं, उल्टे उसने ही इस तरह नरक का पाथेय (सामान) इकट्ठा किया; नरक का आयुष्य कर्म उपर्जित किया। भयंकर दुःख पर भी कैसी दुर्दशा ?

### महामूढ़ता कैसी ?

यह तो अपनी ही भूल से आफ़त आयी है ! तो भी व्याकुलता - विह्वलता तथा दूसरे पर द्वेष का पार नहीं। आफ़त को शांति से नहीं सहना है ! यह महामूढ़ता है या और कुछ ? तो फिर यदि अपनी भूल के बिनाही सामनेवाले के अनाड़ीपन या गलती-गलतफहमी से आफ़त आवे तो शांति रखने की बात कितनी अधिक मुश्किल ? फिर भी इतना समझ रखिये कि यह दुर्लभ शांति भी सदा सुलभ किये बिना आत्मा का उद्धार नहीं है। गुणस्थानक की उँची सीढ़ियों पर चढ़ना हो तो कषाय-दुर्ध्यान कुविकल्प आदि को, शांत करना ही रहा। अन्यथा, कुविकल्प करते रहने से तो कुछ बनेगा नहीं और भवांतर की महादुर्दशा उपस्थित हो जायगी।

हमारी भूल हो चाहे न हो, फिरभी अपने पर आयी हई विपत्ति में, यदि हमारा मन बिगड़ गया तो तिर्यंच नरकगति के भयंकर दुःख और दुर्दशा की तैयारी हो जाती है।

बिल्ली आदि के भव ही ऐसे हैं कि उनमें दुःख के अलावा बुद्धि भी भयंकर पापपूर्ण होती है। उसमें जन्म लेने मात्र से ही चूहे आदि प्राणियों के प्रति जबरदस्त द्वेष और घातबुद्धि ! कैसा दुःखद है इस भव का पुरस्कार !

### कुमार कुवलयचंद्र ने क्या कल्पना की ?

ऐसा होते हुए भी यहाँ कुमार कुवलयचन्द्र देख रहा है कि 'ऐसे जंगल में यह

क्या कि सिंह और हिरन, बाघ और खरगोश, आदि प्राणी नितान्त मित्रभाव से चल रहे हैं ? सभी शांत हैं, स्वस्थ हैं, उनमें कोई उत्पात नहीं है । क्या वज्रह है ? इसका विचार करते हुए उसे यह कल्पना आयी कि अवश्य यहाँ नजदीक ही कोई ऐसे महात्मा बिचरते होंगे जिनके भरपूर करुणामय हृदय से निकली हुई करुणा की ज्योति इस प्रदेश में फैल कर ऐसे शिकारी पशुओं को भी बिल्कुल शान्त बना रही हो ! अस्तु, चलूँ, देखूँ आगे क्या है ?

कुमार कुवल्यचन्द्र ने आगे चलते चलते दूर एक पेड़ के नीचे महात्मा महर्षि को बैठे हुए देखा । उनके दाहिनी ओर एक दिव्य पुरुष और बायीं ओर एक सिंह शान्त ढंग से बैठा हुआ देखा ।

कैसे थे महर्षि ? तप तथा नियमों द्वारा सुखाये हुए गात्रों वाले, तो भी तेज - आत्मतेज - ओज से ज्वलन्त दीप्तिमान थे। मानों मूर्तिमान् धर्म ही न हो ? अथवा मूर्तिमान् उपशम ही न हो ? ऐसे वे महामुनि थे, शोभा और सौंदर्य के मानो भंडार हों । मानों कान्ति के घर हों। गुणों के निधि, क्षमा की खान, बुद्धि के मंदिर और सौम्यता के निवास ।

महामुनि-महर्षि की विशेषताओं में क्या बताया ? विद्वत्ता नहीं, व्याख्यान-शक्ति नहीं, विपुल परिवार नहीं, किन्तु तप, नियम, आत्मतेज, अहिंसादि धर्म, उपशम, आत्म-सौंदर्य-गुणनिधान, क्षमा-भंडार सदबुद्धि वैभव और सौम्यता ।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि दुनिया के मनुष्य में विद्वत्ता तो चाहे अन्य प्रकार से भी हो, और शास्त्र-विद्वत्ता किसी सामान्य साधु में भी संभव है, वैसे परिवार तो अभव्य आचार्य के पास भी बड़ा हो सकता है, उससे वे कोई महामुनि थोड़े ही होते हैं ?

आत्मा उच्च स्तर पर तब आती है जब उसमें तप, नियम-अहिंसादि, उपशम-सौम्यता और औदार्य आदि गुण आते हैं । मानव जीवन जीकर पहले यही करने योग्य है कि जिससे यह सब प्राप्त हो । फिर चाहे शुरु शुरु में ये तप-नियमादि आत्मवैभव उत्कृष्ट कोटि न सही, तो भी उल्लेखनीय नीचे के स्तर का भी स्वात्मा में जगाया जाय । जीवन मिला है तो जी लिया जाएगा परन्तु लुहार की धमन की तरह श्वासोच्छ्वास लेते और छोड़ते हुए या पशु की तरह आहार-विषय-परिग्रह-निद्रा के चक्कर में ही भटकते रह कर, पसन्द है ऐसा जीवन आपको ? बढ़िया-बढ़िया खाया-पिया, इकट्ठा किया भोगा मान-सम्मान पाया और ऐशो आराम किया, बस जीवन सफल ! ऐसा ? इतना तो जानवर को भी पुण्य के अनुपात में मिलता है, और उसे भोगना भी आता है । बुद्धिमान मनुष्य के तौर पर इसमें

कौनसी विशेषता, कौनसी महत्ता हुई ? महत्ता-विशेषता-उच्चता लाना चाहते हो तो यह लाओ— विविध तप, छोटे-बड़े संयम-नियम, आंशिक रूप में ही सही उपशम-उदासीन भाव, अहिंसा-सत्य-नीति-ब्रह्मचर्य आदि।

**मुनि सूर्य के दृष्टांत रूप :-**

ऐसे महामुनि को देखकर कुमार को अपूर्व आनंद हुआ। मन को लगा वाह ! उपशम की मूर्ति के समान इन महर्षि के प्रभाव से चारों ओर का वातावरण शांत-उपशांत बन जाय ऐसा नहीं है ?

‘एक सूर्य स्वयं तेजस्वी तेजोमूर्ति है, तो वह जगत के वातावरण को प्रकाशमय बना देता है न ? धन्य जीवन ! धन्य अवतार ! प्रशांत बना हुआ सागर कितना भव्य लगता है !’ कुमार देखता है कि ऐसे महर्षि के पास दिव्य पुरुष और सिंह बैठा हुआ है। मानो ऐसा प्रतित होता है कि धर्म, अर्थ और काम ही इस स्वरूप में यहाँ विराजमान हुए हैं। मुनि जैसे साक्षात् धर्म है, और दिव्य पुरुष तथा सिंह अर्थ और काम हैं। अथवा मानों तीनों लोकों के सार का उद्धार कर उसे मानों महर्षि, देव और सिंह के रूप में यहाँ बैठा दिया है, ऐसा मालूम होता है। अतः मैंने पहले जो सुना था कि ‘और आगे बढ़ो, तुम्हें अदृष्टपूर्व (पहले न देखा हो ऐसा) देखना है, सो सचमुच पहले कभी नहीं देखा था ऐसा यह अपूर्व देखने मिला।

कुमार आगे विचार करता है कि शास्त्रों में और लोक में सुना जाता है कि ‘महर्षिगण और देव दिव्य ज्ञानधारी होते हैं’, तो मैं घोड़े द्वारा हुए मेरे अपहरण के विषय में महर्षि से पूछ लूं ऐसे महात्मा मिल गये हैं तो क्यों बाकी रखा जाय ?

**स्वागत-उपचार**

परन्तु निकट जाकर पूछे उससे पहले ही महर्षि स्वयं ही उससे कहते हैं - ‘अरे कुमार कृवलयचंद्र ! तुम्हारा स्वागत है, आओ !’

महर्षि के मुखारविंद से झरती हुई ऐसी कोमल वाणी सुनकर कुमार को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह रोमांच के साथ विनय एवं प्रेम पूर्वक महर्षि के चरणकमलों में प्रणाम करता है। मुनि उसे समस्त भव-भय को दूर हटानेवाली और मोक्षसुख देनेवाली ‘धर्मलाभ’ की आशीष देते हैं। दिव्य पुरुष कुमार के स्वागतार्थ अपनी हथेली आगे करता है, तो कुमार भी उसे अपनी हथेली से ग्रहण कर के प्रणाम करता है।



**‘धर्मलाभ’ की आशीष कैसी कही है ?**

भव-भय को मिटानेवाली और शिवसुख दिलवाने वाली । ‘क्या इतनी आशीष मात्र से भव-भय मिट जाता है ?’ हाँ, जिसे संसार की विषय कषाय की होली का ताप सचमुच लगा हो उसे यह आशीर्वाद मिलते ही ऐसा प्रतीत होता है मानों खुद उपशम के शीतल कुंड में नहाया हो। वह इस शब्द में से भव्य प्रेरणा पाता है । शब्द बोला किसके मुँह से जाता है ? जिन्होंने जीवन में अकेला धर्म ही उतारा है। और सारे पापों को तिलांजलि दे दी है, समस्त जीवराशि को अपनी ओर से अभयदान देकर जो उनके बंधु बने हैं, ऐसे महात्मा के मुख से करुणारस से भरा ‘धर्मलाभ’ शब्द निकलता है ! तो वह क्यों महान धर्मप्रेरणा न दे ? फिर तो सामनेवाले को धर्म का ऐसा प्रारंभ होता है कि वह उसे आगे बढ़ा कर सम्पूर्ण कर्म-क्षय तक ले जाकर भवचक्र के भ्रमण का अन्त दिलवाता है । और उसे शाश्वत मोक्षसुख में स्नान करवाने लगता है । ‘तुम्हें धर्मलाभ हो’ इस आशीर्वाद में ऐसी शक्ति है, न कि ‘पुत्रवान् भव’ धनवान् भव आदि में । ऐसी आशीष मिलने से तो अज्ञान मोहमूढ जीव में विषय लालसा की आग और अधिक सुलगती है । इस लालसा में बेचारा पिस तो रहा ही है, ऊपर से उसके आशीर्वाद मिलने से आग में घी डालने से आग की लपटें एकदम भमक उठे वैसी स्थिति हो जाती है। जो स्वयं संसार त्यागीं और विषय-विरागीं हों वे क्या अपने संपर्क में आनेवाले को ऐसी लपटें बढ़ा देंगे ?

**मुनि आमंत्रित करते हैं :-**

कुमार कुवलयचंद्र को मुनिने ‘धर्मलाभ’ के आशीर्वाद दिये। फिर कहते हैं -  
“कुमार ! तुम्हें विचार आया कि ‘मैं पूछूँ कि मेरा अपहरण किसने किया और किस कारण से।’ चिंता न करो, मैं यह सब तुम्हें बताता हूँ ।”

मुनि अपने आप कुमार के पूछे बिना उसके दिल की बात कहते हैं, और उसके मन की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने का आमंत्रण देते हैं । अतः कुमार के आनन्द का पार न रहा ! वह पुनः प्रणाम कर के मुनि से कहता है, “भगवंत ! आपने तो सेवक पर बहुत ही अधिक कृपा की है कि सेवक के हृदय का अभिलषित आप कहेंगे।” ऐसा कह कर कुमार वहाँ मुनि के सम्मुख दोनों हाथों से अंजलिबद्ध बैठ गया ।

**बड़ों से सुनने की यह रीति है कि हाथ जोड़कर बड़ों के मुख पर दृष्टि रखकर बैठना । हाथ न छूटें, नजर इधर उधर न हो, तो बड़ों को भी सुनाने में रस बना**

रहता है। अन्यथा रस भी टूट जाता है, और कुछ अभाव पैदा होता है, तो यह भी यथार्थ है कि वस्तु एक की एक हो परन्तु अन्तर के सुन्दर भाव भी साथ में मिलें तो वह वस्तु अत्यंत मूल्यवान बन जाती है। देखते हैं न कि प्राचीन काल के महापुरुषोंने हृदय के उत्कट भावों से खुब बलिदान देने के साथ सुन्दर भावों से जिन प्रतिमाएँ बनवाई थी, साथ ही कारीगरों ने भी ऐसे सुन्दर भाव सहित जिन प्रतिमा को गढ़ा था, अतः वे प्रतिमाएँ आज भी दर्शन-पूजन करनेवालों को उच्च-शुभ भावों में निमस कर देती हैं न। यहाँ भी ऐसा ही है। शिष्यों-श्रोताओं का उचित बर्ताव देखकर गुरु बड़े सद्भाव एवं रुचि के साथ शास्त्र की बातें सुनाते हैं, वे बातें सुननेवाले में उच्च-शुभ भाव जागृत करती हैं। अतः पहली आवश्यकता है योग्य गुरु के प्रति श्रोता-शिष्य के योग्य व्यवहार की।

हाथ जोड़े हुए रखने से महान् ग्राहकता उत्पन्न होती है।

गुरुमुख पर दृष्टि केन्द्रित करने से एकाग्रता तथा गुरुवचन की ओर झुकाव पैदा होता है।

ये आधारभूत आवश्यकताएँ है। इन्हें लाने से सहजतया ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम (आंशिक नाश) उपस्थित होगा। और उत्तम वस्तु की प्राप्ति-परिणमन के लिए योग्य भूमिका उपस्थित होगी। तब जो थोडा प्राप्त हुआ होगा वह भी पानी पर तेल की बूँद जैसे फैलती है वैसे हृदय-पट पर फैल जाएगा। इस तरह से श्रवण की विधि को सम्हाले रखने से आत्मा का अभ्युदय करना कठिन कहाँ है? अनादि काल के मद-मोह आदि चोरों को दबाना क्या मुशिकल है? हाथ जोड़कर, दृष्टि केन्द्रित कर, सुनने का अभिग्रह ले कर बैठो और सुनो। घंटे का न सही, आधे घंटे का, पाँच घंटे का क्यों न हो पर अमिग्रह-प्रतिज्ञा कर के सुनना चाहिए जिससे मन शिथिल न हो, सुस्त, अजाग्रत न हो जाय।

अब कुमार को महर्षि भव्य बातें सुनाते हैं।



## १२. महर्षि की भव्य वाणी

महर्षि कहते हैं, 'हे कुमार ! जीव जब तक सिद्धिधाम मोक्षपद नहीं पा लेता तब तक इस संसार में नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव के भवों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे अनन्त जीव न पाते हों ।

इसका अर्थ यह कि संसार की वस्तु मिलने में कुछ नवीनता या आश्चर्य नहीं है, फिर भी जीव नाहक इसमें मोह करता है ।

प्र० तो क्या मिलने पर उससे मोहममता होने में कोई हर्ज है ?

उ० हाँ, हर्ज है ही न। यह घोर अज्ञान है जीव का कि वह जिससे मोह-ममता रखता है उसकी विलक्षण खासियत को नहीं जानता । महर्षि यह समझाने के लिए कहते हैं -

### जिस पर ममता उस पर द्वेष :-

'हे महानुभाव ! जिसके वियोग में जीव यहाँ ऐसे मोहमूढ मनवाले बनते हैं- यहाँ तक कि जीवित भी नहीं रहते और प्राणों का त्याग कर देते हैं उस (व्यक्ति) को बाद में अन्य भव में जरा भी देखने में समर्थ नहीं होते । भला हो तो वह दुश्मन बनकर मिले, वहाँ उसके प्रति इतनी नफरत और द्वेष होता है कि उसकी और देखने को भी तैयार न हो । भव बदलने पर तो यह स्थिति होती है, परन्तु कभी कभी तो एकही भव में ऐसा होता है । चुलनी ने ब्रह्मदत्त को जन्म दिया, और उसपर उसे अगाध प्रेम था, परन्तु चुलनी विधवा होने के बाद दूसरे के प्रेम में पड़ी तो अपनी युवावस्था को पहुँचाते हुए पुत्र ब्रह्मदत्त को देखने को भी तैयार नहीं थी । अतः उसका कांटा निकाल देने का षड्यन्त्र किया ! महर्षि कहते हैं-

### जिसकी रक्षा उसकी हत्या :-

'भाग्यवान् ! जिसे अपने प्राणों से भी अधिक मानकर अपनी अगाध शक्तिका व्यय कर के जिसका रक्षण-पालन-पोषण किया, अन्य किसी भव में उसी व्यक्ति को खुद तलवार वगैरह शस्त्रों के प्रहार कर चीर डाले !' कैसी दुर्दशा ? इस संसार में क्या नहीं होता ?

महेश्वर दत्त ब्राह्मण ने अपने पिता की अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की, परन्तु वह पिता देवी को भैंस की बलि चढ़ाने की अपने पुत्र को सलाह दे कर मरा, अतः वह पिता अपने ही घर में भैंस के पेट से पडरा बन कर जन्मा ! और

महेश्वर दत्त ने ही पिता के श्राद्ध के दिन उसे पडरे को बलि के लिए काट डाला। टुकड़े कर के उसके मांस से ब्रह्म-भोज दिया। जिसका ऐसा भविष्य होनेवाला हो उस पर यहाँ मोह-ममता करना किस काम आया ? इस में क्या बुद्धिमानी की ? जरा भी अनुचित ममता न की होती तो संभवतः पिता को सलाह देने का मन होता कि 'अब तो आप मृत्यु के निकट हैं, भगवान को छोड़ अन्य किसी में क्यों मन रखते हैं ? परलोक में न भैंसा सहारा देगा न देवी ही । और मैं भी नहीं दूँगा। सहारा देगा तो वह परमात्मा ही देगा। उसमें ही मन पिरोइए। परन्तु पिता के प्रति अनुचित ममता न हो तब कहे न ?

तब जीव की कैसी दुर्दशा ? जीव माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि पर अथाह ममता रखता है, परन्तु यह नहीं देखता कि पूर्व के किसी भव में इस एक एक ने मेरी हत्याएँ की है, फिर चाहे यह कसाई हो और मैं बकरा ! अथवा कौन जानता है, भविष्य में भी ये मेरी हत्या करनेवाले बनें। तो ऐसा ही नहीं है कि सामनेवाले ही ऐसा करते हैं और जीव स्वयं तो बिल्कुल बुद्धिमान् (भोला-भाला) हो । वह भी ऐसा करता है। वे महर्षि कहते हैं:

#### जिसकी चंपी उसका विदारण :-

हे कुमार ! जिन कोमल हाथों से जिसने दूसरे शरीर की चंपी की, वही मूर्ख अपने ही हाथों उसे आरी या यंत्र से फाड़ता है । ममता कहाँ की जाय ?

यह सब कौन करवाता है ? अज्ञान ! परभव में यह पता नहीं होता कि ' जिसे आरी आदि से चीरता हूँ वह मेरा पूर्व का कोई अतिप्रिय स्नेही है ।' उक्त महेश्वरदत्त के ऐसा ही हुआ । उसने ब्राह्मणों को भैंस के माँस का भोजन दिया तब, मांस की बास से, महेश्वरदत्त की माता जो गली में कुतिया बनी थी, खिंच कर आयी, घर में घुसी। बेटे को पहचान नहीं है । अतः यों तो माता के शरीर की चंपी की थी, परन्तु कुतिया ने घर को अपवित्र किया है, ऐसा मान कर लकड़े के सोटे से वार किया, जिससे कुतिया की कमर टूट गयी । वह बेचारी चीखें मारती हुई बलखती हुई बाहर निकली। माता-पिता के प्रति स्नेह कहाँ रह गया ?

संसार के रंगमंच पर एक बार स्नेह का नाटक करना और दूसरी बार कल्लेआम का नाटक खेलना यह नाटकीपन और मूर्खता ही है या और कुछ ?

तो क्या व्यवहार नहीं निभाना ? ऐसा प्रश्न अस्थाने (अयोग्य) है । व्यवहार अर्थात् सिर पर ली हुई जिम्मेदारी पूरी करना एक बात है और निरर्थक प्रेम के चोंचले करना और बात है ।

क्या स्नेह के बिना व्यवहार निभाता है ? क्यों नहीं निभ सकता ? अरे ! बहुतेरा निभाते हो। स्नेही मिलनेपर कहते हो, “कुछ काम हो तो कहना ” परन्तु अन्तस्तल में ऐसा कोई प्रेम नहीं उभरता कि वह कुछ भी काम कहे और आप कुछ भी करने को राजी हो । कइयों के साथ विवाहादि में स्नेह के बिना व्यवहार निभाते ही हो न ? यह तो समकित्ती जीव की बात है । क्या कहते हो ?

‘सम्यग्दृष्टि जीवडो करे, कुटुम्ब-प्रतिपाल ।  
अन्तर से न्यारो रहे, ज्युं धाव खेलावत बाल ॥

समकित्ती आत्मा अन्तर से स्नेह-रहित रहकर कुटुंब का पालन करता है । धाय माँ राजकुमार का पालन करती है न ? क्या उसे उस पर उतना स्नेह होता है जितना अपने पुत्र पर ? नहीं, यह तो केवल वेतन के लिए सेवा है। देखने में तो राजकुमार का पालन अपने पुत्र से कहीं अधिक परिश्रम और सामग्री से करती है, फिर भी स्नेह यथार्थ में तो अपने पुत्र के प्रति है, यह बात यदि कोई साँप आता हो या मकान में आग लग जाय तब मालूम हो जाती है। दोनों बालकों में से पहले अपने बच्चे को सम्हालेगी, बाद में राजपुत्र को । क्यों कि राजपुत्र सम्हालने-पलने का कार्य आन्तरिक स्नेह से रहित है। समकित्ती को संसार व्यवहार इस तरह पूरे करने होते हैं ।

**जिसका दूध पिया उसीका खून पिया जाता है :-**

महर्षि कहते हैं, ‘ हे नरोत्तम ! तुम यह देखो जीवने एक भव में जिस माता का स्तन-पान किया उससे जीकर बड़ा हुआ, अन्य किसी भव में उसी माँ के जीव का खून पीता है।’ यह किस तरह से हो ? पुत्र स्वयं मर कर भव-भ्रमण करते करते शिकारी पशु के रूप में जन्मा, और माता वहाँ वन का निर्दोष प्राणी बनी, तो वह इसका खून पीएगा। तब माता-पुत्र वाले भव में परस्पर जो ममता रखी थी उसके अरमान क्या रहे ? अनन्त काल से इस संसार-चक्र में भटकते भटकते जीव का दूसरे जीव के साथ विविध द्वेषी प्रेमी के सम्बन्ध में आना सुलभ एवं सुसंभव है। उसमें वह प्रेम और द्वेष दोनों करके मरता है, भव में भटकता रहता है ।

**जिसको प्रणाम उसीकी लात से चूरा :-**

महर्षि कहते हैं , “जिन्हें पूज्य गुरुजन-रूप मानकर उनके चरणों में प्रतिदिन

प्रणाम किया, इस विचित्र संसार में किसी भव में उन्हीं को लातों से मार कर चूर कर दिया ” यह भी संभव है । कल्पना करो कि उक्त गुरुजन का जीव प्रमाद में पड़ कर एकेन्द्रिय मिट्टी में उत्पन्न हुआ । और वह प्रणाम करनेवाला जीव कुम्हार बना, तो वह मिट्टी लाकर क्या करेगा । पैरों तले रौंद कर चूरा ही न ? अथवा यह सेठ (मालिक) बना और वह गुरुजन गुलाम बना तो रुआब में आकर उस की गलती पर उसे लातों से मार मार कर कुचलेगा। जीव को दंड तो उसके अपने दुष्कृत-पाप-कषायादि प्रमाद ही देते हैं, परन्तु उसमें निमित्तरूप एक समय के पूजक-सेवक जीव को बनाकर ऐसी मार मरवाते हैं ।

### जिसके पीछे रोना उसी को होमना :-

महर्षि और आगे बताते हैं- ‘हे सुबुद्ध ! इस विलक्षण जगत में जिसकी मृत्यु पर जीव एक बार अविरल अश्रु-धारा बहाता है विलाप करता है सिर पीटता है, छाती कूटता है, दूसरी बार किसी दूसरे भव में उसी मरनेवाले जीव के शरीर के मांस से वह रोनेवाला जीव वहाँ किसी का मृत-कार्य (क्रिया करम) करता है, मृत्यु-भोज के लिए उसका होम करता है ।’

कैसी करुणता ? यहाँ ‘हाय मेरा प्यारा मर गया । हे मेरे प्रभु ! मुझे मौत क्यों नहीं आयी ?’ ऐसे बोल बोल कर जो रोता-पीटता है वही रोनेवाला जीव समय आनेपर भवान्तर में मिथ्याधर्म में फँस कर अपने किसी रिश्तेदार के श्राद्ध आदि के लिए बलि देने को वह दूसरा जीव जो बेचारा जानवर बना है-सो-उसे पकड़ कर, टुकड़े कर के बलिदान में उसका माँस चढ़ाता है । माँस से ब्राह्मणों को जिमाता है। ऐसे घोर कृत्य करनेवाले और दूसरे जीवों को काट डालनेवाले को यह पता भी है की यही जीव एक बार कभी तेरे प्राण-प्रिय प्रेमी थे ? और जब वे मरे तब तू सिर पीटकर-छाती कूट कर रोया था ? अब क्या देख कर उन्ही को काट कूट रहा है ? अरे वह पंचेन्द्रि जीव न बना हो और कदाचित् फल का जीव बना हो तो भी उस पर उसी के एक वक्त के स्नेही के हाथों यह काटकूट और मसला जा संभव है। अज्ञानवश मालूम नहीं है कि, ‘किस जीव पर हम आज यह उत्सव मना रहे हैं ? यह पहले का हमारा पुत्र होगा, माँ होगी क्या पता क्या हो ?’

प्र० तो क्या खाएँ-पीएँ नहीं ?

उ० खाये-पीये बिना कहाँ रहनेवाले हो ? लेकिन सिर्फ इतना ही यदि समझ लें कि ‘जिसकी यह हिंसा आरम्भ समारम्भ कर रहे हैं, सो पूर्व हमारे प्राणाधिक

प्रिय स्वजन थे जान से ज्यादा प्यारे सगे थे ।’ तो कम से कम यहा (इस भव में) उन्ही जीवों के कलेवर को कुचलते-खाते हुए राचें माचें तो नहीं । जगत के पदार्थों के प्रति मोह दूर करने का यह एक अमोघ चिंतन है कि ‘ये पदार्थ उन जीवों के कलेवर हैं जो किसी समय हमें जान से ज्यादा प्यारे थे । अतः आज उनके साथ साबका पड़ा है। तो ऐसे ही काम चलाओ, उन पर राग-आसक्ति-ममता करने की आवश्यकता नहीं है।’ मन में ऐसी विचारणा दृढ़ बनाकर राग के उभार को दबाने का अभ्यास करने लगे। फिर देखो, मन कितना हल्का और प्रफुल्लित रहता है। राग कम करने लगे तो फिर उस वस्तु या व्यक्ति के साथ कुछ हर्ज-ऐतराज हो जाने पर भी मन को उतना उद्वेग नहीं होगा, क्यों कि

स्नेही जीवों के विषय में राग का दमन कर यह विचारणा कर रखी थी कि ‘किसी जन्म में मैंने इन्हें या इन्होंने मुझे भयानक रीती से कुचला है और किसे पता है कि अभी भावी भवों में ऐसा क्या क्या नहीं होगा ? अतः ठीक है, इस समय सम्बन्ध है तो निबाहना है, वरना राग में हृदय से ओंधा नहीं हो जाना है।’ ऐसा सोच रखने के बाद यदि कुछ हर्ज उपस्थित हो तो भी क्या उसमें मन को इतना क्लेश होगा ?

इस तरह जड़ वस्तु के विषय में भी राग का दमन करने के लिए यही विचार करे कि, ‘ये भी ऐसे जीवों के कलेवर (शरीर) हैं जिन्हें किसी भव में मैंने खूब प्रेम से आनन्द दिया था प्राणों से प्रिय बनाया था, आज ऐसी स्थिति आ खड़ी हुई है कि उन्हीं जीवों को कूट पीस कर उनके कलेवरों का भोग करने का प्रसंग आया है तो उसपर क्या राग करना ? इस तरह राग कम करने के बाद उस वस्तु में कुछ विघ्न-बाधा पड़े तो भी उससे मन नहीं बिगडेगा ।

### माता पत्नी बने :-

महर्षि कुवलयचंद्र से कहते हैं — ‘हे कुमार ! यह भी देखो, कि जीव ने एक बार जिसके प्रति अत्यन्त भक्ति और आदर के साथ माता की तरह पूजा की, दूसरे भव में कामराग के मोह से ‘यह तो मेरी पत्नी है’ इस तरह कर के उसी के साथ जीव काम क्रीड़ा करता है न ?

महर्षिने पहले प्रेम पात्र पर होनेवाले हिंसा के तांडव बताये, अब यहाँ पूज्य माता के साथ विषय रंग के खेल दिखाये । जगत में भटकते हुए जीव की यह कैसी बीभत्स, घृणित स्थिति है । यहाँ माता के रूप में मानता हो अतः लेश भी काम का विचार नहीं आता, भव बदलने पर वही जीव पूजा-पात्र के बदले काम

पात्र बन जाता है ।

क्या ऐसा विचार भी आता है कि जिसके साथ काम-सम्बन्ध बाँधा है उसे किसी भव में पूज्य माता के रूप में सम्मान दिया होगा ? तब फिर जीव वह का वही, फिर भी भव बदला अतः पूर्व की माता में आज भोग्या पत्नी की मोहमूढ कल्पना ? जीव की बुद्धि का कोई ठिकाना है ? कुतिया के पिल्ले को उसी कुतिया माता पर बड़ा हो कर भोगलुब्ध हुआ देखकर तो घृणा पैदा होती है, और यहाँ भव पलट गया है इसलिए कोई घृणा नहीं ? संसार के इस बेढंगे नाटक को पहचान लेनेवाले भव्यात्मा लोग तो इसीलिए इस संसार को असार, गुणहीन और बेहुदा और इसीलिए न रखने योग्य समझते हैं, वैराग्य ले लेते हैं और उसका त्याग कर देते हैं ।

### बेहुदा परिवर्तन :-

संसार में बेहुदा इतना ज्यादा है कि महर्षि कहते हैं कि 'हे महानुभाव ! एक बार माता का पुत्र, दूसरी बार वही माता पत्नी बनी और वह उसका पति बनता है ! तो एक बार का पति ही दूसरी बार उसका शत्रु बनता है ! तो एक बार की पत्नी ही दूसरी बार माता बनती है ! और वह माता फिर पत्नी बन बैठी ! वैसे ही एक बार सेठ का नौकर बाद में उस सेठ का ही सेठ (मालिक) बनता है, और जो सेठ था सो नौकर बन जाता है। इस असार, तुच्छ संसार में जीवों की यह हालत होती है ।'

### अनेक भवों का चित्र :-

कैसी विचित्रता है ? दृष्टि on the whole अर्थात् समग्र रूप से अनेक भवों पर पड़नी चाहिए, तभी यह विचित्रता दिखाई देती है । उसे इस तरह देखा जाय मानो सामने हमारे अलग अलग भवों का चित्रपट है, उसके एक एक ब्लॉक में एक एक भव चित्रित है । उसमें जो भिन्न भिन्न रिश्तेदार हैं वे बाद में आनेवाले भवों में विचित्र, बेहुदे, विपरित-सम्बन्धों में आये दिखाई देते हैं । देखने का मजा देखो ! एक चित्र में जिस व्यक्ति को माता के वेश में देखकर हम उस के पैरों पड कर नमस्कार करते हैं, दूसरे चित्र में पत्नी वेश में उसी व्यक्ति से सेवा-नमस्कार ग्रहण करते हैं, उसे सख्त हुक्म या सजा देते हैं । कैसा कुरूप दृश्य है ! बेढंगी हालत है ! इसमें हमारी विवेक-बुद्धि कहाँ रही ? स्थितप्रज्ञता क्या रही ?

स्थित-प्रज्ञा अर्थात् 'स्थिर-प्रज्ञा' वह है जिसमें एक शुभ भाव जो मन में धारण



किया उससे चलित विचलित नहीं हुआ जाय । जिसके प्रति माता के रूप में पूज्यता का भाव धारण किया फिर उसे ही पत्नी बना कर उसके प्रति वासना का भाव अपनाया जाय ? स्थिर बुद्धि कहाँ रही ?

### व्यवहार कैसा हो ?

प्र० लेकिन व्यवहार तो निभाना रहा न ?

उ० ऐसे बदलते हुए व्यवहार आपको कैसे लगते हैं ? बेदंग या श्लोभास्पद ? इसीलिए ज्ञानियों ने संसार को असार कहा है, उसे फँकने-दूर करने योग्य बताया है । बेदंगा व्यवहार यदि शोभामय और अपनाने-स्वागत करने योग्य हो तो तीसरी संसार भावना किसलिये भायी जाय ? किस तरह भायी जाय वह ? संसार के प्रति घृणा लाकर कि अरे रे ! यह कैसा बेदंगा संसार है कि इस में पिता पुत्र बनता है और माता पत्नी बनती है ? कब तक चलाना ऐसा बेदंगा संसार ?

महर्षि कहते हैं, “हे सुबुद्ध कुमार ! इस वास्ते हमेशा यह भावना करने योग्य है कि निश्चित तौर पर कोई भी जीव किसी का भी बाप नहीं, माँ नहीं, पुत्र-पुत्री नहीं, या पत्नी नहीं हैं । वैसे ही मित्र भी नहीं है और शत्रु भी नहीं है, अथवा न तो सगा है न स्वामी या नोकर । दर असल स्वयं पूर्व भव में अपने मोह भाव के अनुसार जैसे जैसे शुभ या अशुभ कर्म संगृहीत किए हो उनके हरएक के विपाक के अनुसार वैसे मोह से भाग्यहीन जीव उस भाव को वेदते (भोगते) हैं ।

‘यहाँ मेरे पिता अच्छे, मनचाहे, बेटा मनभावन, माता ऐसी पत्नी भी बहुत अच्छी मनपसंद मिली’ आदि आदि मोह के भावों से उस उस प्रकार के मोहनीय कर्मों का उपार्जन करता है, साथ में अन्य सुकृत द्वारा शुभ कर्म भी उपार्जन करता है, फलतः भवान्तर में इस पुण्य के योग से मनपसंद रिश्तेदार मिल जाते हैं, और वे मोहनीय कर्म भी उदय में आते हैं अतः उस उस प्रकार का मोह कराते हैं । और माता पत्नी बनती है ? कब तक चलाना ऐसा बेदंगा संसार ?

महर्षि कहते हैं, “हे सुबुद्ध कुमार ! इस वास्ते हमेशा यह भावना करने योग्य है कि निश्चित तौर पर कोई भी जीव किसी का भी बाप नहीं, माँ नहीं, पुत्र-पुत्री नहीं, या पत्नी नहीं हैं । वैसे ही मित्र भी नहीं है और शत्रु भी नहीं है, अथवा न तो सगा है न स्वामी या नोकर । दर असल स्वयं पूर्व भव में अपने मोह भाव

के अनुसार जैसे जैसे शुभ या अशुभ कर्म संगृहीत किए हो उनके हरएक के विपाक के अनुसार वैसे मोह से भाग्यहीन जीव उस भाव को वेदते (भोगते) हैं।

‘यहाँ मेरे पिता अच्छे, मनचाहे, बेटा मनभावन, माता ऐसी पत्नी भी बहुत अच्छी मनपसंद मिली’ आदि आदि मोह के भावों से उस उस प्रकार के मोहनीय कर्मों का उपार्जन करता है, साथ में अन्य सुकृत द्वारा शुभ कर्म भी उपार्जन करता है, फलतः भवान्तर में इस पुण्य के योग से मनपसंद रिश्तेदार मिल जाते हैं, और वे मोहनीय कर्म भी उदय में आते हैं अतः उस उस प्रकार का मोह कराते हैं।

महर्षि कहते हैं - वहाँ पर भी उसी कारण से वे मूढ मतवाले जीव ऐसे पाप कर्म बाँधते हैं जो लाखों भवों तक पापी बृद्धि से भोगने योग्य होते हैं।’ कैसी करुण स्थिति है ? उच्च मानव-भव में निम्न, तुच्छ मोह बुद्धियाँ खूब रचे पचे रह कर कीं, उनके कडुए फलों को बाद में लाखों भवों तक वेदना भोगना पडे ? और सो भी जब वेदे - भोगे जायँ तब बुद्धि पापमयी। दुगुनी मौत। संसार के सगाई के फंदे में जन्मो-जन्म भटकता और उसमें भी बुद्धि अच्छी न मिले, पाप-बुद्धि में ही कुचले जाना ! बचना तो तभी संभव है यदि इस उच्च भव में ऐसी भयानकता को समझ कर, ‘ये मेरे प्यारे पिताजी मेरी प्यारी माँ मेरी प्यारी पत्नी, मेरा लाडला बेटा’ आदि पापबुद्धियों को वोसिरा दे, यह समझ ले कि इसमें मेरापन या प्रियत्व करने जैसा क्या है ? यह तो ऐसी बालिश चेष्टा है कि महर्षि कहते हैं -

### खेलते हुए बालकों के समान संसारी लोग -

‘जिस तरह बच्चे रेत में खेलते हुए भीगी रेत में कल्पित नकली घर बनाते हैं और नातानी से एक दूसरे को कल्पित माता, पिता पुत्र बनाते हैं, वे ही फिर झगड़ते हैं, बाद में फिर शामिल हो जाते हैं और अन्त में कल्पित बनाये हुए सम्बन्धों को भूल कर अपने अपने अलग अलग घरों को चले जाते हैं। ऐसा ही इस संसार रूपी बालू के पट में बच्चों जैसे नादान बालिश जीवों का भी है। ये भी क्या करते हैं ? यही कि घर बनाना, अपना मानना, बाप-बेटे, पति-पत्नी आदि के कल्पित सम्बन्ध खडे करना उसमें भी फिर आपस में लड़ना - झगड़ना फिर साथ में खाने बैठना और आखिर यह सब घरा रखकर हरएक को अपने अपने कर्मों के अनुसार इस विराट विश्वमें कहीं अन्यत्र अपना स्थान पा लेना। वहाँ चले जाना। इसके सिवा और है क्या संसार में ? संसारी जीव अर्थात्

क्रीड़ा रत बालकों जैसे। और सांसारिक रिश्ते अर्थात् बाल चेष्टा, इसी में मूढ बन कर जीव केवल यह सारा जीवन ही नहीं अपितु भव के भव (कई कई भव) बिता देता है। कहीं, कभी विचार तक नहीं करना? कहीं रूकना भी नहीं ?

महर्षि कहते हैं— 'हे कुमार ! ऐसे असार संसार में क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह से मूढ मनवालोने और हम्नने भी जो अनुभव किया है सो सुनो !'

**महर्षि क्या कहते हैं:—**

वत्स नामक एक देश है। वहाँ देवताओं के से प्रासाद और मंडप सूचित करते हैं कि यहाँ के लोग पुण्य शाली हैं। उस देश में कोशाम्बी नाम की एक रम्य नगरी है; उसके आसपास किला है और किले के बाहर पानी की गहरी नहर बहती है। जैसे कि यह जम्बूद्वीप न हो जिसके चारों ओर जगत से घिरा हुआ और बाहर स्वच्छ जल है। वहाँ पानी के सरोवर ऐसे हैं कि जिनमें कमल न हो ऐसा है ही नहीं, और कमल ऐसे हैं जिन्हें सेवन करनेवाले हंस न हो ऐसा है ही नहीं।

नगर का पुरन्दर नामक राजा है। वह ऐसा परोपकारी है कि अनेकानेक दीन-दुःखी जनों एवं अनेक पंडित पुरुषों के लिए विश्रामभूत है। राजा में और भी अनेक गुण हैं परन्तु एक ही बड़ी त्रुटि है कि उसे जिन-वचन पर श्रद्धा नहीं है। इस बातका उसके वासव नामक मंत्री को बड़ा दुःख है। क्यों कि वह औत्पातिकी, वैनयिकी कार्मिकी और पारिणामिकी - इन चार प्रकार की बुद्धि के उपरांत निर्मल सम्यक्त्व का धारक है।

## १३. चार प्रकार की बुद्धि

**औत्पातिकी बुद्धि** अर्थात् ऐसी बुद्धि कि जिससे मनुष्य हाजिर जवाब बनता है। (प्रत्युत्पन्न मतिव्य) कोई भी प्रश्न, कोई भी समस्या, कोई गुत्थी, उसके सामने प्रस्तुत होते ही तुरन्त उसका समीचीन उत्तर, - स्पष्टीकरण, हल उसे स्फुरित होता है। उदाहरण के तौर पर, शास्त्र में आता है कि 'रोहा से राजा ने कहा, 'तू मेरे पास इस रह से आना कि, रात को नहीं, दिन को नहीं चल कर नहीं, वाहन में नहीं, छत्र के साथ नहीं, त्यों छत्र बगैर खुला भी नहीं। रोहा ने औत्पातिकी बुद्धि से बकरी पर सवार होकर सिर पर चलनी रख कर संध्या-समय आगमन किया। अकबर - बीरबल या भोज-कालिदास के जो चुटकुले - लतीफे आते हैं वे औत्पातिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

**वैनयिकी बुद्धि** से तात्पर्य है - गुरु का विनय करते करते जिस अवसर पर जो उचित बुद्धि सूझे सो, जैसे कि शास्त्र में दृष्टांत आता है कि दो ब्राह्मण विद्यार्थी नदी को जा रहे थे। गाँव के बाहर जंगल से होकर जाना था। दोनों में से वैनयिकी बुद्धिवाले विद्यार्थीने जंगल के बीच में कहा, देखो, यहाँ से एक आँख से काने हाथी पर बैठ कर एक गर्भवती रानी गयी है और संभव है कि नदी किनारे उसके पुत्र जन्मा होगा, अतः जल्दी चलो, दक्षिणा मिलेगी।" जल्दी जल्दी गये और ठीक ऐसा ही हुआ था। दक्षिणा मिली। उसके बाद नदी किनारे एक स्त्री नदी में से घड़ा भर कर ज्योंही बाहर निकली कि तुरन्त ही किनारे पर पैर लड़खड़ाने से घड़ा गिर कर फूट गया। और पानी की धारा नदी में पहुँची। स्त्री रोने लगी। विद्यार्थियों के पूछने पर कहने लगी, "एक तो मेरा बेटा परदेश गया था उसका बरसों से पता नहीं है, मुश्किल से घर चलाती हूँ और अब यह घड़ा फूट गया। बिना बुद्धि का विद्यार्थी बोला, "तो अब इस घड़े के फूटने पर से समझ ले कि तेरा बेटा भी मर गया। दूसरा जो वैनयिकी बुद्धिवाला है, कहता है ऐसी अपशकुनवाली बात मत कर।" फिर उस स्त्री से बोला 'माँ! घर जाओ, तुम्हें अपना पुत्र अभी परदेश से आया हुआ मिलेगा।' स्त्री अपने घर गयी, बाद में विद्यार्थी भी गुरु के पास पहुँच गये।

उस रानी विषयक हकीकत बिल्कुल ठीक घटित हुई मालूम होने पर वह बुद्धि-हीन विद्यार्थी गुरु के साथ झगड़ा करता है कि आपने इस दूसरे विद्यार्थी को अकेले-अकेले में बहुत बहुत सीखा दिया है इसी लिए इसने जंगल में बिना देखे ऐसे ही

सब कह दिया कि 'रानी हाथी पर जा रही थी, गर्भवती और शीघ्र ही पुत्र को जन्म देनेवाली हैं। आप पक्षपात करते हैं।

इतने में वह स्त्री उपहार लेकर आयी और बुद्धिमान विद्यार्थी को तिलक कर श्रीफल देती है।

गुरु ने पुछा, 'यह उपहार किस बात का ?'

स्त्री ने कहा, 'आप का यह शिष्य बहुत आयुष्मान हो कि इसके कहे अनुसार मुझे घर पहुंचने पर मेरा पुत्र परदेश से आया हुआ मिला।'

सुनते ही वह बुद्धिहीन विद्यार्थी चिल्लाया 'देखिये, यह भी एक उदाहरण है जो बताता है कि आपने इसे ऐसी विद्या अकेले में सिखायी है कि जिससे इसको ऐसा सब आता है।'

गुरु कहते हैं-'ऐसा कुछ नहीं है जो कुछ सिखाया है सौ मैंने तुम दोनों को साथ रखकर ही सिखाया है। तू भ्रम में मत पड़। देख ! इस विद्यार्थी से ही स्पष्टीकरण माँगे कि इसे यह सब कैसे स्फुरित हुआ ?'

### विद्यार्थी ने किस आधार पर जाना ?

विद्यार्थी से पूछने पर उत्तर मिला-'गुरुजी ! हम जंगल में होकर गुजर रहे थे, तब रास्ते में हाथी के पदचिह्न दिखाई दिये। इस से हाथी के जाने की बात जानी। फिर देखा तो रास्ते के एक ओर पेड़ों पर ही मुँह मारा हुआ दिखाई दिया, इस से कल्पना की कि हाथी एक आँख से काना होगा। आगे चल कर एक विशाल वृक्ष के नीचे विश्राम लेने बैठे तो वहाँ पास के छोटे पौधे पर रेशमी लाल तन्तु उलझे हुए देखे तब सोचा कि हाथी पर कौन जाता है ? नगर में राजा के यहाँ पर ही हाथी है, और रेशमी-लाल तन्तु कहीं राजा के पोषाख के नहीं हो सकते, अतः रानी की लाल साड़ी के ही होने चाहिए। और वह स्त्री वहाँ लघुशंका करने बैठी होगी, उस पर से भी स्त्री होने का जाना, तदुपरान्त वह स्त्री वहाँ से उठी होगी तब दाहिनी ओर हाथ का भार देकर उठी होगी सो उसका पंजा धूल में उठा हुआ दिखाई दिया। इस पर से सोचा कि यदि शरीर ही भारी - वजनदार हो तो दोनों हाथ आगे टेक कर उठे, पर यह तो दाहिनी ओर ही पंजा दिखाई दिया इससे मालूम हुआ कि वह गर्भवती होगी सो भी गर्भ में पुत्र लिए हुए। फिर पंजा भी अच्छी तरह दबा हुआ था इससे कल्पना की कि रानी का प्रसव काल बहुत निकट का है। इस हिसाब से मैंने कहा कि, चल ! रानी हाथी पर बैठ कर गयी होगी और संभव है, उसने नदी किनारे पुत्र को जन्म दिया हो तो हमें दक्षिणा

मिलेगी।”

‘उसके बाद इस महिला से जो कहा सो यह समझ कर कि मिट्टी का घडा था, तो फूट ने से मिट्टी मिट्टी में मिल गयी। और पानी नदी का था सो बहकर नदी में मिल गया। जो जिससे अलग हुआ था वह उससे मिल गया। इस पर से लगा कि इस, माता का पुत्र इसे आ मिलना चाहिए। जो जिसमें से पैदा हुआ वह उसे पुनः मिलता है इस पर से दूसरी क्या कल्पना हो सकती है ?”

यह सुनकर गुरु उस बुद्धिहीन विद्यार्थी से कहते हैं, “देखो ! इस में कुछ भी मेरा सिखाया हुआ नहीं है; इसकी बुद्धि को ही यह सूझा और ऐसा सूझने का कारण है इसका विनय। इसने पढ़ने की अपेक्षा गुरु विनय का निर्वाह करने का पहले लक्ष्य रखा है। यह कभी विनय नहीं चुका है। फलतः इसकी बुद्धि ऐसी विकस्वर हुई है कि सामने उपस्थित मुद्दे पर उचित अनुमान कर सके।”

### आज के विद्यार्थी-विद्यार्थिनी :-

आज इस का मूल्य भुला दिया गया है। अतः शिक्षा के नाम पर, आर्ट्स साइन्स कॉमर्स एंजीनीयरिंग आदि आदि सिखाया जाता है, परन्तु बुनियादी गुण-विनय के विषय में विचार नहीं किया जाता। न उसकी कोई शिक्षा दी जाती है न इसका अभ्यास होता है। परिणाम देखते हो ? लड़के माँ बाप से गुस्ताखी का बर्ताव करते हैं और शिक्षक प्रोफेसर किसी गिनती में नहीं। जरूरत आ पड़ने पर स्कूल - कॉलेज के खिलाफ भी विद्रोह उपद्रव तोड़ फोड़ भी करते हैं। एक कॉलेजियन विद्यार्थी हम से कह रहा था कि क्लास में एक लड़की अमेरिकन गन स्त्री पुरुषों की तसवीरोंवाली किताब खोल कर देख रही थी; प्रोफेसर की नजर पड़ गयी। प्रोफेसर ने उससे कहा, “तुम्हें ऐसी किताब नहीं पढ़नी चाहिए।”

विद्यार्थिनी ने कहा “आपको पढाई के विषय में ही कुछ कहने का अधिकार है, अन्य बाबतों में मैं स्वतन्त्र हूँ। आप मुझे कुछ नहीं कह सकते।”

कहो - है न अविनय और अनाचार की हद ? यह तो प्रोफेसर ने देखा तो प्रकट हुआ अन्यथा आप को तो पता ही नहीं है कि, आपके लड़के - लड़कियाँ गुप्त ढंग से कैसे बीभत्स चित्र फोटोग्राफ और किताबे मैगजीन आदि रखते हैं, देखते हैं पढ़ते हैं। तब उनसे जाग्रत कामवासना का उन्माद उनके द्वारा क्या क्या नहीं कराएगा ? वही कॉलेजियन लड़का कहता था कि आजकी कॉलेजियन विद्यार्थिनियाँ घर में कहती हैं कि ‘घर सँकरा है, पढ़ने में सुविधा नहीं लगती इस लिए लायब्ररी में पढ़ने जाती हूँ। वहाँ पुस्तके भी मिल सकती हैं।’ अब

क्या माता-पिता को पक्का पता है कि 'वह लायब्रेरी में गयी या बाग में या कहाँ गयी ? या क्या यह मालूम है कि लायब्रेरी में भी किसी विद्यार्थी के साथ बैठी छेड़-छाड़ कर रही है ? या पढ रही है ?' कैसे भी मार्ग पर चढ़ जाय तो आज उसे इसका डर है ? नहीं ! साधनों का आविष्कार हो गया है फिर डर काहे का ? बरसों पहले की बात है एक दवा का व्यापारी कहता था मेरी दुकान से कुछ साधन ८० प्रतिशत कॉलेजियन युवक युवतियाँ ले जाते हैं ! इसमें सदाचार की शिक्षा ही कहाँ रही । 'लड़की कमाकर लाती है' इतनी ही माँ बाप को देखना है । फिर वह कहाँ धूमती फिरती है ? क्या करती है ? यह सब वे क्यों देखें ? तब विनय की शिक्षा भी कहाँ है ?

बिना विनय के विद्या नहीं, मनुष्य को हृदय से मनुष्य बनाने वाली विद्या अविनीत में परिणमन नहीं पाती । **कवि ने कहा है -**

'विनय बड़ी संसारमां, गुणमां अधिकारी  
माने गुण जाये गळी, प्राणी जो जो विचारी,  
रे जीव ! मान न कीजिए ।

संसार में विनय बड़ी चीज है । (१) यह गुणों के लिए अधिकारी बनाता है । (२) विनय से बुद्धि स्वच्छ बनती है । (३) कुशाग्र और वस्तु स्थिति की ग्राहक बनती है । उक्त विद्यार्थी ने गुरु का विनय पहले सम्हाला था फलतः उसकी बुद्धि ऐसी बनी थी । इसलिए उसने आश्चर्यकारक चमत्कारपूर्ण अनुमान लगाये । यह है वैनयिकी बुद्धि ।'

**'कार्मिकी बुद्धि'** अर्थात् किसी भी प्रकार के पेशे, व्यवसाय का काम करते करते उसमें निपुणता मिल जाय, और उसमें बुद्धि कुशाग्र तेज चले। आज सुनने में आता है कि बड़े कारखानों में कोई मशीन बन्द हो जाय तो बड़े बड़े दो हजार का वेतन पानेवाले इंजीनियर भी सोच में पड़ जाते हैं, परन्तु बरसों से वहाँ काम करने वाला मशीनमेन झट उलझन हल कर लेता है। क्योंकि उसके 'कार्मिकी बुद्धि' बन गयी है । बढई के बेटे को औजार चलाना और चीज बनाना जैसे बाएँ हाथ का खेल है । बिना सीख हुआ यों ही हैरान होता है । अच्छी (धार्मिक) पाठशाला में या माता पिता के अथवा किसी साधर्मिक के हाथ तले तैयार हुआ लड़का प्रतिक्रमण - पौषध आदि करने में जो प्रवीणता पा लेता है वह कितने ही बड़ी उम्र के लोगों में नहीं दिखाई देती। यह कार्मिकी बुद्धि है ।

**‘पारिणामिकी बुद्धि’ - अर्थात् जिससे**

वस्तु पर से शीघ्र ही परिणाम तक दृष्टि पहुँच जाय सो। शास्त्र में बात आती है कि,

**लड़के का दृष्टान्त :-**

एक लड़का अपनी माँ के साथ कहीं खाना खाने गया। खाने में उसे रूचि नहीं थी, परन्तु माँ के आग्रह के कारण जाना पड़ा। माता ने आग्रह क्यों किया ? कहो न कि मुफ्त में बढिया मिलता हो तो क्यों छोड़ना ? जीव की यह अनादि की कुमति है। पुख्त बने हुए माँ बाप भी उसके अपवाद कहाँ है ? बस !

हराम का लेने - खाने की वृत्ति में भला अच्छे विचार - अच्छी भावना कहाँ से आए ?

क्या आप अच्छे विचार चाहते हैं ? तो मुफ्त का और हराम का लेने - खाने की आदत छोड़ देना। इस के लिए पहले नंबर में देव, गुरु और मातापिता के प्रति पहले कृतज्ञता पालनी होगी, कृतज्ञता पालने के लिए तन-मन-धन का बलिदान पहले देना होगा, देवाधिदेव के प्रभाव से यह शुभ-मानव गति और दूसरा भी कितना ही पुण्य मिला है, अब देवाधिदेव की भक्ति में कुछ नहीं ले जाना है, तो उनका दिया हुआ माल हराम का भोगने की बात हुई। इससे बुद्धि हरामी बनती है। प्रभु-भक्ति में रोज अपनी वस्तु ले जाकर भक्ति करनी चाहिए, उसी तरह गुरु की सेवा में और माँ-बाप की भक्ति में अपने द्रव्य का व्यय करना चाहिए, नहीं तो हड्डियाँ हरामी बनेंगी और बुद्धि भी हरामी। फिर उस से जीवन में कोई प्रगति नहीं होगी।

माता के आग्रह से लड़का भोजन करने गया और माता की शर्म के कारण डट कर खाया। परन्तु घर लौटने पर उसे कै हुई और उसमें सब कफ-पित्त से भरा हुआ बाहर निकला। यह देख कर लड़के ने सोचा

**“अरे ! यह शरीर कैसा है ? यदि इसमें ऐसा ही सब भरा है तो खाये हुए खुराक का नतीजा कैसा होगा ? इसी तरह इस संसार में भाँति भाँति के राग द्वेष और मोहमाया से भरी प्रवृत्ति करने का कैसा फल होगा ?”**

बस यह विचार आने से उसे वैराग्य जगा। और संसार का त्याग कर उसने चारित्र-जीवन अंगीकार किया। यह किस बुद्धि के आधार पर ? पारिणामिकी बुद्धि के।



### अभयकुमार का दृष्टान्त:-

परिणाम तक विचारणा को ले जाया जाय सो पारिणामिकी बुद्धि । अभयकुमारने प्रभु महावीर से पूछा 'प्रभु ! आपके शासन में अन्तिम राजर्षि कौन ?'

भगवान ने उत्तर दिया - 'देखो । वे जो उदायन मुनि बैठे हैं वे ही अन्तिम राजर्षि है ।'

बस, इस पर से अभयकुमार ने विचार किया कि तब तो मैं यदि राजा बनू तो मुझे दीक्षा नहीं मिल सकती। और तब तो फिर 'राज्यश्री सो नरकश्री' क्यों कि उसमें इतने सारे आरंभ - समारंभ परिग्रह और प्रपंच करने होते हैं । तुरन्त आकर पिता श्रेणिक को - जो उसे राज्य सुपुर्द करने को तैयार थे - समझाया कि 'यदि मैं राजा बनूँगा तो संसार में भटकने वाला हो जाऊँगा। क्या आप यह चाहते हैं कि महावीर प्रभु का भक्त मैं, महावीर प्रभु के आप जैसे भक्त का पुत्र होकर नरकादि में भटकनेवाला बनूँ? प्रभुने कहा है कि अन्तिम राजा होकर दीक्षा लेने वाले तो उदायन हो गये । अतः अब यदि मैं राजगद्दी स्वीकार करूँ तो मुझे दीक्षा नहीं मिलनेवाली, और मेरी दुर्गति होगी । अतः कृपा कर के मुझे चारित्र की अनुमति दे दीजिए ।''

क्षाधिक समकित के स्वामी श्रेणिक भला इनकार करें ? अभयकुमार ने दीक्षा ग्रहण की । पिता के द्वारा राज्य सौंपे जाने की बात आने पर प्रभु के पास से यह मालूम कर के कि राज्य स्वीकार करने का क्या परिणाम होता है - यहाँ तक अभयकुमार ने यह बुद्धि जो दौडायी सो पारिणामिकी बुद्धि ।

### राजा-मंत्री का सम्बन्ध:-

बात यह चल रही है कि कुमार कुवलयचन्द्र से महर्षि कह रह है कि कोशाम्बी नगरी के राजा पुरंदरदत्त का महामात्य वासव औत्पातिकी आदि चार बुद्धियों का स्वामी है । (धनी है ।) तथा निर्मल सम्यक्त्व का धारक है । राजा इस महामात्य के प्रति इतनी आस्था और आदर रखता है कि उसे देव की तरह, गुरु की तरह, पिता की तरह और मित्र की तरह मानता है। राजा के मन मंत्री यानी अपना कोई एक नौकर नहीं बल्कि (१) महागुणवान, महाबुद्धि निधान सच्चरित्र और तत्त्वदृष्टिवाला होने के कारण देव गुरु की तरह उपासना करने योग्य है । (२) बड़ी उम्र का साथ ही राजा का एकान्ततः निःस्वार्थ हितैषी होने से पिता की तरह मार्ग दर्शन स्वीकार करने योग्य है । और (३) स्नेहमय एवं गंभीर होने से एक सहृदय मित्र की तरह प्रेम और विश्वास करने योग्य है ।

## देव और गुरु क्यों मान्य हैं ?

इसीलिए कि वें गुणों के भंडार हैं। ज्ञान के निधान हैं और सच्चरित्र तथा निर्मल तत्त्वदृष्टि से युक्त हैं। दोनों में अन्तर यह कि देव पराकाष्ठा (चरम सीमा) पर पहुँचे हुए हैं और गुरु पहुँचने की राह पर हैं। अतः दोनों की उपासना हमें गुण, ज्ञान, तत्त्वदृष्टि तथा सच्चरित्रता में आगे बढ़ाते हैं, अतः ये तत्त्व, ये विशेषताएँ देखकर जो व्यक्ति अपने इष्ट देव तथा उपास्य गुरु का चुनाव करता है (निर्णय लेता है) वह रास्ता नहीं भूलेगा। इन गुणों को छोड़ कर चमत्कार तथा बाह्याडम्बर पर लुब्ध हो जाय तो सच्चे के स्थान पर अयोग्य बनावटी देव गुरु से लगा लग जाय। अतः जानते हो न ? कि

जिसकी दाल बिगड़ी उसका दिन बिगडा;

जिसने वस्त्र खरीदनेमें भूल की उसके दो चार महीने बिगडें;

जिससे धान्य (अनाज) भरने में भूल हुई उसका साल बिगडी ।

पत्नी करने में गलती हुई उसका एक जीवन (भव) बिगडा, परन्तु इष्ट देव-गुरु खोजने में गफलत हुई और किसी अयोग्य को शिरोधार्य कर उसकी सेवा जारी रखी उसके भवोभव बिगड गये।

क्योंकि अयोग्य देव से तात्पर्य रागादि दोषो वाले कामादि लीलावाले, असर्वज्ञ, बहुत वस्तुओं के अज्ञानवाले और हिंसादि असत् चारित्रवाले। उन्हें यदि आदर्श के रूप में सम्मुख रखा जाय और उनके अज्ञानतामूलक आदेशों को माना जाय तो क्या प्राप्त होगा ? उसी तरह यदि गुरु भी कोई ऐसे वैसे अर्थात् किसी ऐसे ही देव के पीछे लगे हुए, परिणामतः मिथ्यातत्त्व को माननेवाले, सूक्ष्म अहिंसादि से रहित और उपदेश भी इसी तरह का देनेवाले ऐसे देवगुरु को पकड़ने से जीवन में क्या मिलेगा ? क्या आएगा ? धर्म के नाम पर दोष, और चारित्र्य के नाम पर अचारित्र असंयम! आज दुनिया में ऐसा ही चलता दिखाई देता है न ?

तो यह बहुत भयंकर बात है कि 'दोष, पाप, असंयम, अतत्त्व आदि को गुण, धर्म, चारित्र और तत्त्व के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाय !' इससे हृदय बहुत निष्ठुर बन जाय। पाप को पाप-रूप समझते हुए भी उसका आचरण करता हो तब तो हृदय कोमल रहता है, किसी दिन वीर्योद्घास बढ़ने पर पाप से बच सकता है; पाप मात्र को त्याज्य तो समझता ही है। परन्तु यदि पाप को धर्म रूप ही माने तब तो उससे बचने की और उसे छोड़ने की बात ही कहीं रही ? इसी तरह यदि दोष को ही गुण मान बैठे और असंयम को ही यदि चारित्र मान कर उसका आचरण करे तो उससे दूर होने की बात भी क्या ? उलटे, इस एक जीवन में मिथ्या देव-

गुरु गुण का सम्यक् प्रकार से जीवन भर अस्खलित-अखंड आदर ऐसे कुसंस्कार को पुष्ट कर देता है जो जीव को जन्म-जन्म के लिए अधोगति में ही डूबा हुआ रखे ! अतः देव-गुरु को स्वीकार करने में बहुत सावधान रहना चाहिए, भोले बन कर नहीं चल सकता ?

### सुगुरुओं के वेश में कुगुरु क्या करते हैं ?

वे आरंभ-समारंभ परिग्रह तथा इन्द्रियोंके विषयों को धर्म के रूप में चलता कर देते हैं। “मकान बनाओ तो, कारखाना बनाओ तो, व्यापारिक कोठी खोलो तो, लो यह वासक्षेप डालना, समृद्धि बढेगी और समृद्धि बढेगी तो धर्म बढेगा।” कुगुरु ऐसी भ्रान्ति और ढोंग फैलाते हैं। “ब्याह कर आये हो? तो लो हमारे आशीर्वाद दोनों का सौभाग्य अखंड बना रहे! इस से परस्पर (एक दूसरे के लिए) धर्म के प्रेरक बनोगे। ‘यह महा अज्ञान चल रहा है। धन के लिए तप रहे हो? तो लो यह जंतर मंतर यह पारसनाथ की साधना ये भावताव, सट्टे के अंक, इससे धन के ढेर लग जाँँगे ! फिर खूब धर्म करना ।’ ऐसे नाटक चलते हैं। कुगुरु है तो और क्या करे ? भोले, मुर्ख और लालची जीवों को कुमार्ग पर चढा कर पाप को ही धर्म कह कर पकडा देते हैं। इसके बाद यह कुशिक्षा उसे सुगुरु को पकड़ने ही नहीं देती (इस कुशिक्षा के कारण वह सुगुरु को पकड़ ही नहीं पाता) भयानकता तो यहाँ तक कि ऐसी एकदम पाप-प्रवृत्तियों को भी वह धर्म ही मान-मान कर आचरण करता रहेगा। ऐसी स्थिती में उस का अफसोस कि ‘हाय ! कब तक मैं इन पापों को निभाऊँगा ? ऐसे सुन्दर मानवभव में आकर भी ये पाप बन्द नहीं करने हैं ? मेरा क्या (हाल) होगा ? आदि खेद करने की बात ही कहाँ रही ? अपने माने हुए गुरु ने खुद ही शादी पर, मकान - दुकान व्यापार धन दौलत पर मुहर लगा दी ! फिर इन्हें पापरूप गिनना कैसा ? इनका तो उमंग उत्साह से सेवन ही करना ! कुगुरु के पल्ले पडने से आत्मा की ऐसी दुर्दशा होती है।

भक्त भी तो जोरदार होते है। जरूरत पडने पर सुगुरु को भी चक्कर में डाल देते हैं। कहेंगे - ‘साहब, मेरे घर पदार्पण (पगले) कीजिए, वासक्षेप - मांगलिक कर दीजिए।’ क्यों भाई? मन मे यह बात घर कर बैठी है कि इस से घर - परिवार में सुखसमृद्धि रहेगी, वंश-विस्तार होगा, खाते पीते सुखी रहेंगे। यह सब क्या है ? संसार का कारखाना ही ज्यों का त्यों अखंड चलता रहे। यही न ? उस पर गुरु की मुहर लगाना ?

प्र० धर्म की भावना बढ़ती है न ?

उ० क्या आप सचमुच चाहते हैं कि धर्म - भावना बढे ? गुरु का पदार्पण (पगले) करवाने पर उसी समय यदि गुरु के उपदेश से पत्नी या पुत्र-पुत्री ब्रह्मचर्य व्रत लेना चाहें तो आप लेने देंगे ? वे यदि पांच सौ हजार रूपये शुभ खाते में खर्च करने की प्रतिज्ञा लें तो क्या आप स्वीकार करेंगे ? पर कहिए न कि 'हमें सम्पूर्ण भरोसा है कि हमारे यहाँ कोई ऐसा करे इसकी संभावना ही नहीं है। वाह रे ! सिर्फ बातें धर्म भावना लाने की, जब कि वस्तुतः पाप का कारखाना अविरत चलता रहे यही इरादा है।

गुरु का वासक्षेप किस लिए ? धर्म के लिए या पाप के लिए ? धर्म के लिए हो तो वासक्षेप के साथ कोई धर्म भी लेना है सही ? नहीं, सिर्फ वासक्षेप डालिये। मन में विश्वास है कि गुरु का वासक्षेप चमत्कारपूर्ण हैं। इससे धन-दौलत, सुख-समृद्धि आदि अच्छा मिलता है। शरीर स्वस्थ रहता है, फलतः दुनिया में दौड़धूप (परिश्रम) अच्छी तरह हो सकती है।' बस, गुरु के पास से पाप को ही पोसने की बात होती है। यह गुरु का भगत है या ठगत है ? लेकिन कुगुरुओंने ये खेल बताये हों तो भोले लोग कैसे राह नहीं भुलेंगे ?

### विषय कषाय में रत इष्टदेव से संसार-वृद्धि

तात्पर्य - इष्ट देव भी यदि असंयम आरंभ - परिग्रह दुष्टताडन, भक्त - वैभव आदि करने की लीलावाले हो, रागद्वेष की प्रवृत्ति करते हों तो उनके भक्त को कैसा आदर्श मिलेगा ? उसे रागादि की प्रवृत्ति में और विषय कषाय में क्या कुछ बुरा भी लगेगा ?

रागादि से होनेवाली हिंसा आदि की प्रवृत्ति तथा विषय - कषाय तो संसार की वृद्धि करने वाले हैं। जो उन्हें ही कर्तव्य रूप में स्वीकार कर चले उसे ऊपर उठना ही कहाँ रहा? इन्हें छोड़ने की बात ही कैसी ? वह तो देखता है कि 'मेरे इष्ट देव के पास यह सब उच्च कोटि का है फिर भी वे दोषमय नहीं हैं तो फिर मैं इन सब को रखूँ तो दोषी कैसे ? बस इनमें कोई दोष माने बिना इनकी सेवन जारी रखे तो कैसा भयंकर अशुभ कर्मों का बंध होगा ? और कितने जबरदस्त कुसंस्कार पक्के हो जाएँगे ? तब कुदेव-कुगुरु के पल्ले पड़ने से भवोभव बिगड़े इसमें क्या आश्चर्य ? तब क्या विषय कषाय संसार में भ्रमण नहीं कराते ? यदि इनसे भव-भ्रमण न होता हो तो भवभ्रमण होता ही किन कारणों से ?

## १४. इष्ट देव कैसे हों ?

अतः बात यह है कि इष्ट देव तो सर्व दोष - सर्व विषय कषाय से मुक्त वीतराग अनन्त गुणसम्पन्न सर्वज्ञ और सर्वथा शुद्ध चारित्रवाले होने चाहिए। तो गुरु भी (१) सब पापों से मुक्त (२) त्रिविध त्रिविधेन अहिंसादि धर्म के पालक, अनंतज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के ही वचनानुसार सम्यग् ज्ञान के उपासक एवं क्षमादि गुण के सागर होने चाहिए। ऐसे देव और ऐसे गुरु को ही शिरोधार्य करना चाहिए, उन्हीं के अनुयायी बनना चाहिए। ऐसा करने से जीवन दोषमुक्त और गुणयुक्त होता जाता है, कर्मों का बोझ उतरता जाता है और सद्गति के पथ पर चलने लगता है।

वासव मंत्री इस प्रकार का देव या गुरु नहीं है तो राजा ऐसे देव-गुरु का स्वरूप समझता भी नहीं है परन्तु मंत्री सम्यग्दृष्टि होने से देवगुरु के लक्षणों की छाया बाला है, सुयोग्य महाबुद्धि निधान, तत्त्वदृष्टि युक्त एवं सच्चरित्र है। अतः राजा उसे देव गुरु की तरह मानता है।

### (३) पिता के समान मानने का कारण :-

तब राजा मंत्री को पिता की तरह क्यों मानता है ? इसीलिए कि कल्याण पिता सन्तान का निःस्वार्थ भाव से एकान्त हितैषी और हित की ही सलाह देनेवाला होता है। अपने स्वार्थ के लिए जो सन्तान के अहित को ही हित के रूप में समझाकर उसमें जोड़ दे वह तो बाप है ? या साँप है ?

संतान के अच्छे से अच्छे हितचिंतक या बड़े से बड़े विश्वासघती बने तो कौन बने ? माता पिता। क्यों कि बालक जन्म लेकर तो क्या बल्कि गर्भ में आता है तभी से उस पर माता-पिता के बर्ताव के प्रभाव पड़ता है। जन्म के बाद भी वह सब से अधिक माता-पिता के परिचय में एवं उनकी छाया में होता है। बच्चे दूसरे बच्चों के साथ खेलते-कूदते हैं, परन्तु सिर पर माता-पिता की छाया का बड़ा भार रखते हैं। स्कूल जाने पर वहाँ भले ही शिक्षक की छाया तले आते हैं, लेकिन 'मेरी माँ, मेरे पिताजी कहेँ वैसे मेरे करना है' यह भाव दिल में भरे रहते हैं। बस गर्भावस्था से लेकर इस सारी स्थिति तक पिता और माता बच्चे पर अपनी अभीष्ट छाया (प्रभाव) डाल सकते हैं, उसकी गहरी नींव पड़ती है। अब यदि माता-पिता धर्म की छाया रखें, तो संतान में उसके उतरने से वह हित के मार्ग पर आगे बढ़े। इस तरह माँ-बाप सच्चे हितैषी हुए। परन्तु यदि संतान पर राग-रंग की या विषय-

कषायों में चूर रहने की छाया रखी तो सन्तान पूर्व जन्म के धर्म-संस्कार भूतकर विषय-मग्न और कषायमग्न बनेंगी। माँ-बाप ने क्या दिया ? संतान की आत्मा का उच्च मानवभाव में आगमन होने के बावजूद उसे अधोगति में गिरानेवाले अहित में अधःपतन दिया। बचपन से माता पिता ही जब यह वस्तु देते हैं तो बाद में आज के शिक्षक इससे भिन्न क्या देंगे ? इस तरह माँ-बाप ही संतान का अहित करते हैं या और कोई ? उगते हुए बालक को क्या समझ कि कहाँ जाना, क्या करना, मेरा किस में हित है ? माता-पिता अत्यन्त निकट हैं, जैसे वे चलाते हैं वैसे बालक चलता है। वे यदि पुत्र के एकान्त हितैषी तो हितके पथ पर चढा देंगे। पुत्र ऐसे माता-पिता को संपूर्ण भावना के साथ हित के परामर्शदाता गिनता है। यहाँ राजा पुरन्दरदत्त भी वासव-मंत्री को पिता की तरह मानता है, क्यों कि उसे हित का परामर्श देनेवाला समझता है।

(४) मित्रवत् क्यों मानता है ? :-

तदुपरान्त राजा मंत्री को मित्रवत् भी मानता है। कारण ? मित्र दुःख-आपत्ति-चिंता के समय आश्वासन-सहायता देकर राहत पहुँचाता है। आज कहीं कहीं देखने में आता है कि सहोदर (सगा) भाई दूर रहता है और मित्र मददगार और सान्त्वना देनेवाला बनता है। हालाँ कि इसका कभी कभी यह कारण भी हो सकता है कि भाई भाई को चाहता न हो। भाई भाई न सुहाता हो। और मित्र अच्छा लगता हो। भाई के साथ अच्छे सम्बन्ध हों। फिर भी संकट-दुःख ऐसी वस्तु है कि कोई भी भला-मानुस करुणा करे, तो भाई को तो विशेष दया करनी चाहिए। फिर भी समय की बलिहारी है कि मित्र मदद करने दौड़ता है और भाई दूर रहता है। तो मित्र के अपने विषय में भी ऐसी संभावना है कि वह भी अपने भाई की सहायता न करता हो। कैसा जमाना है ? न जाने एक से लहू में ही कैसे विरोधी तत्त्व भरे होंगे कि भाई भाई में मेल न हो ? यहाँ जीवन कितनाक जीना है ? फिर भी भाई भाई के बीच चूहे-बिल्ली का सा बैर ? (सांप-नेवले सा?) यह विचार-शून्यता है। विचार ही नहीं है कि

अहंत्व और दुनियाई माल-मिलिक्यत, जिसके लिए वैर-विरोध किया जाता है वह तो देखते देखते अन्त में बिखर जाएगी परन्तु उस अभिमान लालच और वैर-विरोध का शल्य साथ लगा रहेगा।

यह बेवकूफी किस लिए ? भाई हो या मित्र, अरे ! शत्रु ही क्यों न हो, उसके संकट के समय में हमारा मानव-हृदय द्रवित होना चाहिए। पशु-हृदय या पिशाच-

हृदय हो तो बात अलग है, परन्तु मानव हृदय की कैसी चाल ? कौनसी रीति? कैसी वृत्तियाँ रखनी चाहिए ?

वासव मंत्री राजा को सहायता सहानुभुति एवं बहुमूल्य सलाह देनेवाला है । अतः राजा उसे मित्र के समान भी मानता है । मंत्री को केवल एक ही बात का दुःख है कि 'राजा जिनवचन से जरा भी परिचित नहीं है ।' स्वयं चतुर होते हुए भी राजा के सामने जैन तत्त्व प्रस्तुत करने का मौका न पाने के कारण लाचार था, उसके मन को यह व्यथा सताती रहती कि 'राजा मानव-भव में अवश्य करने योग्य मुख्य कर्माई से वंचित रहता है ।'

**समकृति को कौन सा दुःख होता है ? :-**

मंत्री को यह दुःख क्यों ? कारण यह है कि वह सम्यग्दृष्टि था और सम्यग्दर्शन को इतनी अधिक उच्च वस्तु मानता था कि विद्या, विज्ञान और दानादि धर्मों में सम्यक्त्व को चुड़ामणि तुल्य गिनता था । चूँ कि उसने जैन तत्त्व के रहस्य को ग्रहण किया है इस लिए उसे यह समझ है कि विद्या, बल, विज्ञान भी बड़े सही और दानादि धर्म भी सही, परन्तु साथ में यदि सम्यग्दर्शन है, तो ही ये शोभित होते हैं और अमोघ फलदाता भी बनते हैं । ऐसा क्यों ?

'दानादिक किरिया नवि दीए

समकित विण शिव शर्म ।'

शास्त्र के आधार पर उपाध्यायजी महाराज का यह कथन है । सम्यक्त्व के बिना दानादि क्रिया मोक्ष-सुख नहीं देती । इस की वजह यह कि मोक्ष-सुख पाने के लिए, सम्यक् चारित्र चाहिए और उस की प्राप्ति सम्यग्दर्शन के बगैर नहीं हो सकती । दानादि क्रियाएँ सम्यक् चारित्र की ओर ले जानेवाली हैं, पर सम्यग्दर्शन हो तो ही । पूछिये-

**'सम्यक्त्व के बिना सम्यक् चारित्र क्यों नहीं ?'**

कारण स्पष्ट है-सम्यक् चारित्र मूलतः दो वस्तुएँ माँगता है

(१) संसार एवं सांसारिक विषयों के प्रति शुद्ध वैराग्य, और

(२) वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने अपने अनन्त ज्ञान में जिस तरह के चारित्र को मोक्ष-साधक रूप में प्रत्यक्ष देखा है वैसे स्वरूपवाले चारित्र से सर्व कर्मों के क्षय स्वरूप मोक्ष होता है । और दुनिया को यह बताया है कि ऐसे चारित्र के हेतु उनके द्वारा कहे गये मूल गुणों और उत्तर गुणों की आवश्यकता है । महाव्रत एवं तत्त्व पोषक चर्या आवश्यक है ।

सम्यक्त्व के दो अंश :-

अब देखिये कि सम्यग्दर्शन में ही इन दोनों के अंश मिलते हैं। सम्यक्त्व भव-निर्वेदमूलक है।

**भव-निर्वेद हो तो ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है।**

भवनिर्वेद अर्थात् संसार तथा संसार के विषयों एवं उनके लिए किये जाने वाले क्रोधादि कषायों से घृणा-अरुचि-ग्लानि। मन को ऐसे लगता है कि 'मेरे जीव को पर-पदार्थों की यह कैसी विटंबना ? मैं तो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप में शांति से स्नान करता रहूँ या इन पर वस्तुओं की बेगार किया करूँ ? भ्रम-वश मानता हूँ कि 'इस से मुझे सुख-आनन्द मिलता है। परन्तु यह कहाँ मेरे वश में है ? देखते ही देखते नष्ट हो जाते हैं। फिर इनमें तर-तमता है अतः प्राप्त पदार्थों से उच्च कोटि के पदार्थ बाहर दिखाई देने पर इनका आनन्द खत्म हो जाता है। और उनकी अभिलाषा जागती है। उपरांत ये भाग्य के अधीन होने के कारण भाग्य करे सो ही होता है, अतः ये मेरी इच्छा और प्रयत्न को खास मानते नहीं। तो फिर मेरे तो व्यर्थ ही तपना रहा न ? तब इनकी अभिलाषा और दौडधूप करूँ ही क्यों ? सारांश, कोई माल नहीं है संसार के इन विषयों में। उसी तरह कषायों में भी कोई सार नहीं है, क्यों कि इन्हें भी बदलते रहना पडता है। तिस पर इनमें हृदय स्वस्थ न रहकर उबलता रहता है। तो इस की बेगार करना और विह्वलता मोल लेना सो किस लिए ?' इस तरह विषय और कषाय-स्वरूप संसार से नफरत हो, ग्लानि हो, आस्था न रहे इसे कहते हैं भव-निर्वेद।

सम्यक्त्व (१) एक तो यह भव-निर्वेद माँगता है, और (२) दूसरे यथार्थ तत्त्व तथा मोक्षमार्ग की अचूक श्रद्धा की अपेक्षा रखता है और ये तो सर्वज्ञ के कहे हुए ही सच्चे होते हैं अतः सर्वज्ञ के वचनों पर और उन वचनों द्वारा प्ररूपित तत्त्वों एवं मोक्ष-मार्ग पर अटल श्रद्धा चाहिए। यह श्रद्धा हो तभी सर्वज्ञ के कहे अनुसार मोक्ष-मार्ग -चारित्र का यथार्थ पालन हृदय से होता है।

श्रद्धा न हो तो (१) यथार्थ चारित्र हाथ आता ही नहीं; या (२) कभी आ जाय तो भी उसका बराबर पालन नहीं हो सकता, अथवा (३) बराबर पालन हो तो भी मोक्ष की इच्छा से नहीं बल्कि किसी संसारिक सुख के इरादे से हो; इन में से एक भी बात से मोक्ष नहीं मिल सकता, अतः

मोक्ष के लिए निराशंस भाव से सम्यक् चारित्र का मोक्षार्थ-यथार्थ पालन ज़रूरी है।



और मूलतः इसका कथन करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होनी चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ ही यथार्थ (वास्तविक) चारित्र-मार्ग दिखा सकते हैं।

इस तरह, सम्यग्दर्शन भवनिर्वेद-अर्थात् संसार पर विराग-भाव तथा सर्वज्ञ-वचन पर श्रद्धा चाहता है, श्रेणिक, कृष्ण महाराज आदि में ये दोनों थे।

### श्रेणिक विरागी कैसे?

भव-वैराग्य था इसलिए श्रेणिक ने अभयकुमार को राज्यधुरा-वहन सोंप कर निवृत्त होने की इच्छा से अमय को राज्य सम्हाल लेने को कहा। और अभयकुमार के सिवा दूसरा ऐसा योग्य सम्हालनेवाला नजर न आने पर भी जब अभयकुमारने संसार त्याग की अनुमति चाही तो श्रेणिक ने सहर्ष अनुमति दे दी। क्योंकि स्वयं भव वैराग्यवाले थे। संसार को एक भीषण कारावास और कतलखाना समझनेवाला व्यक्ति दूसरे को उसमे से छूट निकलने में विघ्न कैसे डाले ?

### कृष्ण विरागी कैसे ?

कृष्ण महाराज (१) अपनी पुत्रियाँ वयस्क होने पर उन्हें समझा-बुझा कर संसार-त्याग के मार्ग पर लगा देते थे। (२) थावच्चा पुत्र की दीक्षा के समय उन्होंने अपनी राजधानी में यह ढिंडोरा पिटवाया था कि जिस किसी को संसार-त्याग करना हो उसके पीछेवालों की चिंता जिम्मेवारी हम सम्हाल लेंगे। (३) अन्त समय में उन्होंने भी श्रेणिक की तरह अनुमोदना की थी कि 'धन्य है मेरे परिवार के लोगों को ! जिन्होंने संसार छोड़ कर प्रभु के पास चारित्र ग्रहण किया, और अपनी आत्मा का कल्याण साध लिया !

तात्पर्य श्रेणिक एवं कृष्ण - दोनों की सर्वज्ञ वचन में श्रद्धा भी अद्भुत थी। राज्य शासन की खटपट सम्हालते हुए भी उनके हृदय में यह श्रद्धा का प्रवाह अजस्र बहता था। सर्वज्ञ भगवान के बताये हुए जीव-अजीव - आस्रव संवर वर्गैरह तत्त्वों पर उनको अटूट आस्था रहती थी फलतः आस्रवभूत राज्य, खजाना (कोष), सत्ता, परिवार आदि में आन्तरिक रूचि नहीं थी।

### श्रेणिक की परिक्षा:-

एक देव ने कसोटी करने के लिए राह जाते हुए श्रेणिक के आगे तालाब के किनारे साधु का रूप ले कर मछलियाँ पकड़ते होने का स्वाँग किया। श्रेणिक ने उससे कहा-

‘साधु होकर ऐसा नहीं किया जाता ।’

उस देवने कहा, ‘मैं अकेला थोड़े ही कर रहा हूँ । और भी कितने ही साधु ऐसे धंधे करते हैं । जैन शासन में सब चलता है ।’

श्रेणिक ने क्रोध में आकर कहा, ‘खबरदार ! ऐसा कहा तो । तू नालायक है इस लिए अन्य भी नालायक और सर्वज्ञ के शासन को झूठा बदनाम करता है ? छोड़ यह धंधा, नहीं तो उतार यह वेश, तुझे दूसरा अच्छा पेशा दिला दूँ ।’

देवता ने देखा कि ‘सर्वज्ञ के शासन पर श्रेणिक की श्रद्धा अद्भुत है । उसने उसी क्षण प्रकट होकर प्रशंसा की ।

**वासव मंत्री का सम्यग्दर्शन कैसा है ?:-**

वासवमंत्री इस सम्यग्-दर्शन का धारक है । और मानता है कि क्या दानादि धर्म और क्या बड़ी मंत्र विद्याएँ और क्या शास्त्र-विज्ञान इन सब के मस्तक पर सम्यग्दर्शन मुकुट-मणि है ; सम्यक्त्व हो तभी इन सब का महत्त्व है, शोभा है, फलवत्ता है, अन्यथा ये दानादि सबकुछ हो लेकिन साथ में मिथ्यात्व, मिथ्यारूचि कल्पित तत्त्व की मान्यता हो, अज्ञान-मूढ धारणाएँ तथा मन की नादान वृत्तियाँ हों, ऐसी कक्षा हो तो ये दानादि - विद्या-विज्ञान सब कुरूप हैं, निष्फल हैं. इसी वजह से अभव्य जैसे जीव चारित्र का भी पालन करने के बावजूद संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं ।

‘कुवलयचन्द्र चरित्र’ के स्रष्टा वासवमंत्री के सम्यक्त्व-वासित हृदय की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं -

**‘जिण-वयण - बाहिरं सो पडिवज्जइ कासकुसुम लहुययरं ।  
मण्णइ सम्मदिट्ठि मंदरभाराओ गरूययरं ॥’**

अर्थात् वह वासव मंत्री जिन वचन से बाह्य मतलब कि (i) जिनवचन ने नहीं कहा हो ऐसे कल्पित तत्त्व और कल्पित धर्म को अथवा (ii) जिनवचन द्वारा निषिद्ध वस्तु को घास पर उगे फूल से भी अधिक तुच्छ मानता है और सम्यग् दर्शन को मेरु पर्वत के भार से भी अधिक वजनदार मानता है ।

कैसी प्रभावशाली निर्मल हृदयपरिणति है ? जिन वचन से बाह्य मिथ्या मत हों या जगत की आत्महित - घातक जड सम्पत्ति हो, विपुल लक्ष्मी या अन्य सुखद साधन पैदा करने वाले आरंभ समारंभ हों या ठाट बाट रूआब महत्त्वाकांक्षा हो,

मंत्री के मन यह सब घास के फूल जितना भी मूल्यवान् नहीं - वजनदार नहीं; जब कि सम्यक्त्व, तत्त्वश्रद्धा -तत्त्वदृष्टि मेरू से अधिक भारी । मतलब ? अज्ञानियों की मिथ्या कल्पनाएँ और कल्पित वस्तुएँ फूटी कौड़ी की भी नहीं, जरा भी मान्य नहीं, जब कि सर्वज्ञ जिन द्वारा कहे गये तत्त्व ही सच्चे, शंकारहित और स्वीकार्य हैं । तत्त्व जिस स्वरूप के हों उसी रीति से स्वीकार्य । मिसाल के तौर पर इनमें आस्रव हेय स्वरूप के हैं, तो उन आस्रवों को, अर्थात् इन्द्रिय-विषयों, कषायों आदि को त्याज्य रूप में ही स्वीकार करना; सदा-सर्वदा यह चिंता रहा करे कि 'कब इनसे छुटकारा हो ?'

सम्यग्-दृष्टि को बहुत वजनदार समझने के कारण मंत्री के दिमाग पर उसी का मुख्य भार था; इसी लिए देवों की (दिव्य) समृद्धियाँ या बड़े इन्द्र की ठकुराई भी उसे अकिंचित्कर (वृथा) लगती थी । ऐसा महामूल्यवान सम्यक्-दर्शन प्राप्त होने का उसे अत्यन्त आनन्द था । इसीलिए उसे यह खटकता था कि 'राजा में सम्यक्त्व की झलक तक नहीं है ।'

मंत्री को राजा पुरंदरदत्त जिनवचन से सर्वथा अपरिचित होने का दुःख होने की वजह से वह इस दुःख को दूर करने का मौका ढूँढता था । इसी बीच एक बार ऐसा मौका मिल गया । हुआ यह कि मंत्री एक दिन सुबह आवश्यक क्रिया करने के पश्चात् स्नान करके पूजा की तैयारी कर रहा था, पूजा के योग्य स्वच्छ वस्त्र परिधान कर अरिहंत परमात्मा की पूजा के लिए मंदिर की ओर मुड़ रहा था । राजा का महामात्य होते हुए भी उसकी धर्मचर्या देखने योग्य है । सम्यक्त्व को वह एक कैसी अतुलनीय महान् निधि मिलने जैसा मानता है ! इसका नाप इस पर से निकलता है।

सम्यक्त्व अर्थात् जिनेश्वर देव तथा जिन-वचन पर अगाध राग । वह यदि हो तो उसके पीछे कुछ तोल देना रहा या नहीं ? मुझे भगवान बहुत अच्छे लगते हैं, लेकिन मेरा धन और मेरी सुख-सुविधा भगवान से भी बढ़ कर अच्छी लगती है' ऐसा कैसे चलेगा ? इसीलिए तो भगवान की सेवा में और उनके वचनों की आराधना में धन तथा सुखसुविधा की बलि नहीं दी जाती । अन्यथा यदि भगवान अधिक प्रिय हों तो उनकी सेवा में उनसे कम प्रिय धनदौलत - सुखसुविधा आदि का थोडा सा भी त्याग न किया जाय ? प्रभु की पूजा में ले जाने के लिए गाँठ का अपना - कुछ भी नहीं ? प्रभु के संघ की सेवा में इनका कोई उपयोग नहीं करना ? जिनवाणी श्रवण करने की कोई गर्ज नहीं ? तिस पर भी मानना यह कि 'मुझ में सम्यक्त्व है, मुझे भगवान् और भगवान के वचन बहुत प्रिय है ।'

पेट-पूजा पत्नीपूजा - व्यापार पूजा - उनमें से एक भी पूजा के बिना नहीं चलता और जैनों में गिने जाने के बावजूद जिनेन्द्र देव की पूजा के बिना चले ?  
वासव मंत्री पूजा की तैयारी करता है ।

### मंत्री के पास हाजिर:-

वह ज्योंही अरिहंत प्रभु के मंदिर में जाने को होता है त्योंही बाहर के उद्यान का स्थावर नामक रखवाला - माली आ पहुँचता है । प्रणाम कर पुष्प करंडक आगे कर उसे खोलता है और उसमें से आम का बौर लेकर कहता है—

‘देव, बधाई देता हूँ । वसन्त ऋतु का समय आ गया है । उसके चिह्न स्वरूप यह आम का बौर स्वीकार कीजिये । ऐसा कहकर मंत्री को देता है । देते देते कहता है “और भी एक बात है; हजूर ! धर्मनन्दन नामक आचार्य महाराज उद्यान में आये हुए हैं ।”

### मंत्री का रोष:-

यह सुनते ही मंत्री को क्रोध आ गया। बौर को श्वेत लता पर फेंकते हुए वह बोला - ‘हे अनार्य ! आचारहीन ! सचमच तू स्थावर सो बराबर स्थावर पृथ्वीका-यादि के समान जड ही है जो तू मुझे बड़े आदरके साथ और प्रधानतः पहली बधाई दाहक वसन्तऋतु की देता है, उसके बाद ही शांति (ठंडक) देनेवाले आचार्य भगवान् के आगमन की बात कहता है, और वह भी अनादर के साथ और गौण रूप से ?’

### कहाँ वसन्त और कहाँ आचार्य भगवान् ?

‘वसन्त ऋतु तो खिली हुई मंजरी पर मँडराने वाले भीरों की झंकार से कामवासना की आग सुलगाती है, जब कि पूज्य आचार्य भगवान तो कामाग्नि से पीडित भव्यात्माओं को जिनवचन-रूपी अमृतजल से कामाग्नि-शान्त कर ठंडक देते हैं । एक इस दुःखद संसार में भटकने की सुविधा कर देता है जबकि दूसरे भवभ्रमण को रोकने में सहायक हैं । फिर तुझे यह होश नहीं कि किस के बारे में पहले और बहुत आदरयुक्त बधाई दी जाय ?’ सोचिये मंत्री के दिल के बारे में । मंत्री के दिल में सम्यग्दर्शन की घनीभूत जगमगाहट यहाँ कैसी प्रकट होती है ।

सम्यक्त्व जीव के हृदय में देव-गुरू -धर्म को प्रधान स्थान पर बैठाता है और दूसरा सब कुछ गौण स्थान पर ।

फिर वह देव-गुरू-धर्म के विषय में जरा भी अनुचित कथन को बरदाश्त नहीं कर सकता। सामना करने की शक्ति न हो तो भी हृदय में भारी संताप होता है ।

आज साधुओं तथा धर्म के खिलाफ कितना कुछ लिखा और बोला जाता है ? इस से दिल जलता है सही ? या जरूरत हो तो ऐसे को भी मीठा लगाते हैं, तदुपरान्त शायद समर्थन भी दिया जाता है ? तुम्हारे पिता की शानमें बुरा बोले तो ? कहो, कि आज तो वह भी चल लेना पड़े ऐसा जमाना आया है !' क्यों भला ? क्या इसलिए कि वे लोग बाप की निंदा करते हैं परन्तु बेटे की तो प्रशंसा करते हैं न ? अर्थात् इसका तो यही अर्थ हुआ न कि तुम्हारे अपने विषय में अच्छा कहे वही भाता है फिर चाहे सगी माँ या बाप के बारे में बुरा कहे तो भी उसे सुन लेने में कोई हर्ज नहीं। जो सन्तान माता-पिता की निंदा सुनले वह देव-गुरु की बुराई सुनकर क्यों भड़क उठेगा ? यह कैसा जमाना है विकास का अधःपतन का ?

### जमाने का असर ग्रहण मत करो:-

बाहर कुछ भी क्यों न हो, पर यदि आपको आर्यत्व से प्रेम हो, आर्यदेश - आर्य कुल में जन्म लेने का अभिमान और आनन्द हो तो अपने घर में तथा अपने परिवार में जमाने का प्रवेश न होने दें । वरना आप कर्म द्वारा फेंक दिये जाएँगे बिखेर दिये जाएँगे । आपकी अपनी आत्मा धर्म का घर मिट कर पाप का घर बन जाएगी, जिन देव-गुरु धर्म के कारण आपकी रौनक - उज्वलता है उन्हीं के प्रति विश्वासघात होगा । आज की जीवन पद्धति, आज के खानपान के तौर तरीके रहन-सहन वेशभूषा आदि भयंकर हैं । आर्यत्व एवं धर्म को भुला देनेवाले हैं । तथा पाप, बुद्धि पाप-भावनाओं एवं पापी वृत्तियों को जगाने और पोसने वाले हैं । करोड़ों भवों में भी दुर्लभ आर्य-मानव - अवतार को पाकर उससे एकदम विपरित मार्ग पर गति होगी । देखा देखी कर के मरना ठीक नहीं है । पागल दुनिया को अच्छा लगाने और दुष्ट इन्द्रियों को बहलाने -बहकाने में आत्मा का सर्वनाश हो जाएगा ।

माली के मुख से आचार्य भगवंत का अपमान सुनकर मंत्री का सम्यग्दर्शन उसे बेचैन कर देता है । फिर भी उसे डाँट डपट कर भी, आचार्य भगवंत के आगमन के शुभसमाचार उससे मिलने के कारण पुनः उस की कद्र करता है; तुरन्त पुकारता है 'कौन है बाहर ?' उसी समय सिपाही उपस्थित होता है । मंत्री उससे कहता है 'इस माली को आधा लाख चमड़े के दीनार (सिक्के) दिला दो ।'

### रामजी श्रावक द्वारा शुभसमाचार का बड़ा उपहार:-

आप सोचते होंगे - "इतना सारा उपहार !" परन्तु क्या आप नहीं जानते कि आचार्य भगवान श्री हीर सूरेश्वर जी महाराज जब खंभात के बाहर आ पहुँचे

तब इसका शुभ समाचार लानेवाले को रामजी श्रावक ने क्या दिया ? चाबियों का गुच्छा फेंक कर उससे कहा, 'लो, इस में से कोई भी एक चाबी निकाल लो । इस चाबी का माल सब तुम्हें पुरस्कार में ।

वह बेचारा घोंचू, कि उसने बड़ी चाबी निकाली । फिर भी इस गुरु-भक्त को दया आयी कि 'बेचारा अज्ञानवश कम ले जा रहा है' अतः उससे कहा - "अरे ! देख - देख, अच्छी चाबी निकाल ।"

वह मूर्ख यह समझा कि सेठ को बड़ी चाबी से बहुत माल का जाना अखरता है, इसलिए मुझसे ऐसा कहते हैं । पर मैं तो हाथ में आने के बाद क्यों छोड़ूँ ? ऐसा सोचकर अपनी लघुता मानो प्रकट करता हो - ऐसे गंभीर मुख रखकर कहता है - "सेठ जी ! मुझ गरीब के लिए तो यही ठीक है ।"

सेठ ने सोचा कि 'बेचारे का भाग्य ही ऐसा गरीब है तो ऐसे ही भले हो।' तुरन्त मुनिम को बुलाकर कह दिया कि 'इस चाबी के गोदाम का माल इसे बख्शीश में दे दो ।'

चाबी काहे की थी? रस्सों के गोदाम की । वह बेचारा कहने लगा, 'श्रीमान् ! मैं इन रस्सों को लेकर क्या करूँ ? तो सेठ ने बाजार के व्यापारियों को बुलाकर सारे रस्सों का मूल्यांकन करवाया । कितनी रकम हुई ? आपका क्या खयाल है ? रु. ५०० - १००० ? जी नहीं ! ग्यारह लाख रुपये । तो क्या सेठ का दिल बैठ गया ? नहीं, प्रसन्न होकर इतनी रकम उसे नकद दिलवा दी ।

क्या मूल्यवान् है ? रुपये या गुरु ? अधिक प्रिय कौन ? धन या देव-गुरु ? मोक्ष मार्ग का प्रथम सौपान सन्ध्या दर्शन लाओ तब यह समझ में आएगा । आप को तो ऐसा लगता है, 'देव-गुरु पर प्रेम रखें, उनकी सेवा करें परन्तु ऐसे बधाई आदिमें व्यर्थ पैसे क्यों बरबाद करना ? क्यों, ऐसा ही है न ? 'मामूली से थोड़े फूल, वर्क आदि तो ठीक हैं, परन्तु बहुत सारे फूल सोने का वर्क - बादली जरी वगैरह में व्यर्थ पैसे क्यों खोना ?' ऐसा ही लगता है न ? गुरु का प्रवेश - स्वागत होता है, गहुँली की जाती है, आजकल बहुत महँगा मिलने वाला श्रीफल (नारियल) और रूपया रखा जाता है सो तो देखा देखी करना पड़ता है इसीलिए या दिली उमंग से ? उसमें ऐसा ही लगता है न कि यह महँगा श्रीफल तो बेकार में भोजक ले जाएगा ।' गुरु से बढकर पैसे के प्रति कितनी श्रद्धा - प्रीति है ?

### वधावनी में बड़े दान का रहस्य:-

मालूम नहीं है कि 'ये देवाधिदेव और गुरु प्राप्त हुए हैं सो धन का महत्व कम

कर ने एवं धन की मूर्च्छा काटने के लिए प्राप्त हुए हैं। लक्ष्मी की मूर्च्छा और विषयों का लालच तो भव में भटकाने वाले हैं। देव गुरु की भक्ति का आलंबन मिला है सो उस निमित्त को पाकर तो लक्ष्मी को कंकड मानने और देव गुरु को रत्न समझने का सुनहरा अवसर मिला है। ऐ नादान ! ऐसा कद्रदानी का निमित्त मिलने पर भी यदि तू इनकी कद्र न करे और लक्ष्मी को तुच्छ न गिने तो बिना निमित्त के तो तू क्या कर सकेगा ? बड़े बड़े बधावनी-दान, गुरु-प्रवेश के खर्च, उत्तम पूजा - उत्सव - यात्रादि होने के आनंद जन्म दान - वगैरह का रहस्य यह है कि 'ऐसे मौके पर मेरे मन में धन का महत्त्व घट कर, देव-गुरु - धर्म का अतुल महत्त्व स्थापित हो जाय; और लक्ष्मी कंकड -तुल्य भासित हो जिस से भवान्तर में इसकी वासना मुझे इसी की प्राप्ति करावे, मुझसे ऐसाही करावे ।”

सिद्धगिरि पर संघ ले आने का लाभ तो राजा कुमारपाल ने लिया; और केवल उसकी इन्द्रमाला पहनने के लाभ की बोली (चढावे) में महुवा का जगडू श्रावक क्यों सवा करोड़ रूपये बोला? उसके पीछे यही एक हेतु है कि 'गुरु कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य महाराज श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी तथा विशाल साधु-साध्वी समुदाय, सामंत राजागण, बड़े करोड़पति सेठ और राजा कुमारपाल - स्वयं भी, - इन सबकी उपस्थिति में और आदीश्वर भगवान् के सम्मुख इन्द्रमाला पहनने का अति दुर्लभ पवित्र सुकृत करने को मिलता है। तो उसके महामूल्यको हृदय में धर कर लेने दो, और सवा करोड़ रूपये जैसी बड़ी धन राशि की तुच्छता (अपदार्थता) हृदय में अंकित हो जाय। यह तमन्ना थी, सो कैसे पूर्ण हो ? इतना धन फेंक देने से...।

बस हृदय में धर्म का उच्चमूल्य और धन की तुच्छता अचूक जम जाय तो निहाल हो गये, समझो।

इसके विपरीत 'देव-गुरु-धर्म तो SO SO, साधारण कहे जायँ, और पैसा तो मूल्यवान् ऐसे नहीं उछाल दिया जाता; ऐसा जिनके हृदय में बस गया तो वे भी सुन्दर निमित्त की अवगणना करके निहाल तो नहीं, हाँ बेहाल हो गये।

देव-गुरु के ही प्रभाव से उत्पन्न पूर्व के पुण्य - योग से पैसा मिला, परन्तु उसी पैसे पर देव-गुरु धर्म की अवगणना करते रहे! यह क्या कम दुर्दशा है? 'हाय पैसा ! हाय पैसा!' का रटन करते रहे। यह कैसी बुरी हालत है ? इसी से 'मम्मण सेठ सातवी नरक में गया। भुक्खड चेहरा। लड़के को स्कूल - कॉलेज की शिक्षा देने के लिए पुस्तकों का खूब खर्च किया जाता है फीस भरी जाती है, ट्युशन रखे जाते हैं, परन्तु धार्मिक पढ़ाने के लिए कोई खर्च नहीं ? हर वर्ष नयी धार्मिक पुस्तकें

नहीं खरीदना। धार्मिक पाठशाला की फीस नहीं भरना। घर पर धार्मिक शिक्षक का ट्यूशन नहीं रखना; धार्मिक पाठशाला के फंड में भी नहीं देना। ऐसा क्यों? धर्म की ऐसी कद्र-कीमत नहीं मानते, जैसी पैसे की मानते हैं। फिर भी ऐसा मानते हो न कि हृदय में सम्यग्दर्शन जगमगा रहा है?

### राजा को उद्यान में ले जाने की चतुराई:-

सम्यग्दर्शन को महामूल्यवान माननेवाला वासव मंत्री माली को आचार्य भगवंत के शुभागमन की बधाई देने के उपलक्ष में पचास हजार दीनार दिलवा देता है। तत्पश्चात् पूजा का कार्य निपटा कर वह आम का बौर (आम्र-मंजरी) लेकर राजा के पास जाता है। देखिये, राजा को जिन-वचन की ओर आकर्षित करने के लिए कैसी चतुराई से वसन्त का निमित्त पकड़ लेता है।

राजा को आम का बौर देते हुए कहता है- 'महाराज! आपकी वसन्त लक्ष्मी ने अपनी दूती के तौर पर यह आम्र-मंजरी भेजी है - इसे स्वीकार करें।'

राजा उसे सहर्ष स्वीकार कर कहता है- 'वाह! क्या सब को आनन्द देनेवाली वसन्त ऋतु आ गयी? चलो, उसकी मनोहरता के दर्शन करने चलें।'

मंत्री ने कहा 'जैसी आपकी आज्ञा। पधारिये।'

### आचार्य के न देखने से मंत्री को चिन्ता -

बस! राजा और मंत्री आदि उद्यान की ओर चले। वहाँ विविध वृक्षों, पौधों, बेल-बूटों आदि की शोभा निहारते हुए घूम रहे हैं; परन्तु मंत्री को यह सब निहारने में कोई रूचि नहीं है, उसे आचार्य कहाँ हैं - यह देखने की लगन लगी है, परन्तु उसे वहाँ आचार्य भगवन्त या उनके साधु - कोई दिखाई नहीं देते। अतः मन में चिंतित हो जाता है कि, 'अरे! यह क्या हो गया? माली झूठ तो नहीं कह सकता। तब क्या आचार्य भगवंत सूत्र - अर्थ पौरिसी करके अन्यत्र विहार कर गये? अगर ऐसा हुआ है तो ठीक नहीं हुआ। मैं भी उनके दर्शन से वंचित रहा और राजा को जो प्राप्त करवाना चाहता था वह भी रह गया। हाय रे वक्र विधाता! तूने यह क्या किया? गुरु आगमन के समाचार का अमृत रस कानों को पिलाकर गुरु के दर्शन नहीं करवाये? यह तो तूने मानों एक ओर बड़ा खजाना बता कर दूसरी ओर आँखे ही निकाल लीं।'



### सपत्किती का हृदय:-

मंत्री का सम्यक्त्व गुरु प्राप्त न होने पर कितना चिंतित कराता है ! गुरु का आगमन हुआ था तो मानो घेबरभरी गाड़ी मिल गयी, मानो बड़ा खजाना मिल गया । अब उनके दर्शन न होने के समाचार मिलने पर मानों आँखे ही छीन ली गयी । वह क्या देखता है गुरु के मिलन में ? घरमें रहकर अलसित बन जाने वाली धर्म भावना का नवपल्लवित होना । उससे परलोक के खाते में पुण्यानुबन्धी पुण्य की रकमें जमा कराना देखता है । मनमें यह गिनती चलती हो उसका हृदय गुरु के आगमन पर ऐसे नाच उठता है जैसे मेघ के आगमन पर मोर, और गुरु का विरह होने से खिन्न-उदास-निराश हो जाय यह स्वाभाविक है ।

### मुनि कहाँ होते हैं ?

मंत्री को यह चिंता तो हुई, लेकिन शीघ्र ही मन को लगा कि, “अरे ! यह मैं क्या विचार करने लगा ? मुनिगण ऐसे जीवाकुल प्रदेश में कैसे रह सकते हैं ? यहाँ तो जहाँ देखो वहाँ झीना झीना बौर पत्ते और पराग बिखरा पड़ा है । ये सचित्त हैं, सजीव हैं । ऐसे स्थान पर रहना मुनियों को नहीं कल्पता (उचित नहीं) अतः देखूँ तो सही इसके पीछेवाली साफ जगह में संभव है कि आचार्य भगवन्त सपरिवार विराजमान हों ।

### चतुराई से राजा को आकर्षित करता है :-

ऐसा होते हुए भी वह राजा को इस प्रयोजन की गंध भी नहीं आने देना चाहता । अतः नया ही प्रश्न उठा कर कहता है-

महाराज ! आप को याद है ? कुमार अवस्था में आपने एक अशोक वृक्ष रोपा था। अब तक वह अच्छा खासा ऊगा होगा न ?

राज्ञाने कहा - “हाँ, हाँ । अच्छी याद दिलाई; चलो पीछे जाकर उसकी तलाश करे ।” बस, सब के सब उस ओर चल पड़े ।

आत्म-हित चिंतक की चतुराई यह है कि सामनेवाले को ऐसे युक्तिपूर्वक चलाए कि वह अपने आप हित के उपाय की ओर मुड़े ।

छोटे पुत्रों के लिए ऐसा बहुत कुछ किया जा सकता है । कृष्ण वासुदेव को उपहार में एक मूल्यवान् घोड़ा मिला । वहा उपस्थित शांब और पालक ने कहा, “यह अश्व मुझे दीजिये, मुझे दीजिये ।” कृष्णजी ने कहा - “ कल सुबह श्री नेमिबाध भगवान् को तुम में से जो पहले भावपूर्वक वन्दन करेगा उसे यह इनाम

में मिलेगा ।” क्या किया यह ? अश्व के मिस उन्हें आत्म-कल्याण में जोड़ दिया । पालक तो बड़े सबेरे उठ कर घोड़े के लोभ से मुँह-अँधेरे प्रभु के पास पहुँचा और वंदना की । शांब सुबह जल्दी उठ कर शय्या से बाहर आकर ‘रात्रि के समय जाना जीव हिंसा का निमित्त बनेगा’ यह समझ कर वहीं रहा और उसने प्रभु को निर्मल निःस्वार्थ भाव से वंदना की । सुबह प्रभु से कृष्ण जी के पूछने पर प्रभु ने कहा कि ‘भाव से शांब ने पहले वंदन किया, द्रव्य से पालक ने किया ।’ अश्व शांभ को मिला ।

आप को ऐसा करना आता है ? आता हो तो छोटे बच्चों को लालच देकर धर्म में जोड़ सकते हैं । बाद में आराम से बिठा कर समझाइये कि, ‘देखो ! हम तुम्हें अच्छी चीज तो यों भी ला दें, परन्तु तुमने जो सच बोला, देवदर्शन - पूजा की सामायिक किया, तप किया सो इस इनाम के लिये न करो तो तुम्हें इतना सारा पुण्य मिले कि जिससे यहाँ से मरने बाद तुम्हें अच्छी गति मिले । कुत्ते - बिल्ली न बनना पड़े । ऐसी समझ देने का बड़ा प्रभाव पड़ता है । और बच्चे लालच के बिना भाव पूर्वक धर्म करने लगे । आगे फिर यह कथा समझाइये कि राजा सिद्धराज के राजस्व की रकम से साजन मंत्री ने गिरनार के मंदिरों के भव्य जीर्णोद्धार किये। और बाद में राजा से पूछा कि ‘आप को इसका पुण्य चाहिये या रकम ?’ तो राजा ने कहा ‘पुण्य ही चाहिए’ धन तो छोड़ कर ही मरना पड़ता है, जब कि पुण्य तो परलोक में साथ आता है ।’ यह कथा समझाएँ तो बच्चों के मन में अच्छी तरह जम जाय कि ‘धर्म का फल बाकी रखना, न कि उसका बदला (मुआवजा) यहीं माँग लेना ।’

संतान का आत्महीन साधा जाय ऐसा चाहते हों तो युक्ति पूर्वक काम लेना चाहिए । यहाँ मंत्रीने युक्ति से काम लिया तो राजा ने खुद कहा - “चलो, उस अशोक वृक्ष देखने पीछे के भाग में चले ।’ मंत्री समझता है कि ‘एक बार राजाको आचार्य भगवंत तथा मुनि महाराजों के दर्शन में तो जोड़ दे फिर आगे ज्ञानी गुरु सम्हाल लेंगे। सब लोग चले पीछे के हिस्से में, वहाँ राजा को थोड़ी ही दूरी पर देखने पर मुनिमहाराज दिखाई दिये ।

**कैसे हैं वे मुनि महाराज:-**

धर्म के महासागर तुल्य, क्योंकि उनमें ५ महाव्रत, ८ प्रवचनमाताएँ, ५७ संवर, १२ तप, १० सामाचारी, ९ ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ, ५ पंचाचार, १० यतिधर्म आदि भरपूर भरा हुआ होता है अतः धर्म के महासागर के समान ही लगें न ? मुनि

क्षमागुण से गुरु थे - अर्थात् भारी थे । फलतः ऐसे थे जो द्वेष-क्रोधादि की ओर खिंच न जायें । तदुपरान्त उपसर्ग - उपद्रव को सहन करें ऐसे थे । मानो उन मुनि रूपी वृक्षों पर ये फल थे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति रूप, अर्थात् विचार - वाणी - व्यवहार - असत् बिल्कुल बन्द और सत् विचार आणि बहुल प्रमाण में जारी ये मानो पुष्प थे । उसी तरह शील के १८००० अंग ये मानो पत्ते थे । ऐसे मुनिजन वहाँ उन मेंसे कुछ जीव-अजीव के भेद वगैरह विस्तार बतानेवाले शास्त्र पढ़ रहे हैं; कार्याकार्य-आचार बतानेवाले आचारांग सूत्र पर विचार कर रहे हैं । कोई स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त का ज्ञान कराने वाले सूयगडांग सूत्र का परावर्तन कर रहे हैं। तो कोई 'ठाणांग' कोई 'समवायांग' 'भगवती' - यावत् कोई कोई बारहवें अंग दृष्टिवाद का स्वाध्याय कर रहे हैं ।

मुनि-परिवार विशाल है; अतः कई प्रज्ञापना आदि सूत्रों, कई प्रत्येक बुद्ध-स्वयंबुद्ध के रचे हुए शास्त्रों, तो कुछ और मुनि प्रमाण शास्त्रों के स्वाध्याय में संलग्न हैं। और भी, वहाँ कोईक मुनि धर्म-कथक है, कई वादी हैं, कई निमित्त-मंत्र विद्या विज्ञान के जानकार हैं । कुछ मुनि जिन-वचन के समर्थ सिद्धान्तों का पुनरावर्तन चिंतन मनन करते हुए बैठे हैं । तो कुछ ऐसे तपस्वी हैं जिन्होंने अपने शरीर को अस्थिपंजर सा बना दिया है । तो कुछ मुनि भिक्षु-प्रतिमा के कठोर अभिग्रहों का पालन कर रहे हैं । कुछ तो वीरासन मुद्रा में और कुछ अन्य पद्यासन मुद्रा में ध्यान धर रहे हैं ।

इन सब के बीच मति - श्रुत अवधि मनः पर्याय इन चार ज्ञानों के धर्ता स्वामी धर्मनन्दन नामक आचार्य भगवान् नक्षत्रों के बीच पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र की तरह शोभित विराजमान हैं ।

यह देखकर राजा पूछता है - हे वासव मंत्री! ये सब कौन है ?

मंत्री उत्तर देता है - 'महाराज ! ये तो त्रिलोक के वंदनीय, देवों द्वारा भी वंदन किये जाने योग्य महामुनि हैं ।

'तो इन सब के मध्य में राजा के समान वे कौन हैं ?

'महाराज ! संसार रूपी अटवी में जिन जीवों को सद्गति के दिशा विभाग का ज्ञान नहीं है, जो जीव मिथ्यामतियों के मार्ग पर चलते हैं, ऐसे जीवों को मोक्ष नगर के पथ पर लगानेवाले वे धर्मनन्दन नामक आचार्य भगवान् हैं । वे देवों के भी वन्दनीय हैं। चलिए, हम उनसे धर्म-अधर्म के विषय में कुछ पूछें ।''

यों राजा भी एकदम जिज्ञासा रहित नहीं था । अतः मंत्री की बात से सहमत

होता है। दोनों आगे बढ़ कर आचार्य भगवंत के निकट पहुँचते हैं। जाने पर मंत्री स्तुति करता है—

‘आठ कर्मरूपी पर्वतों को भेदने में समर्थ हे वज्र तुल्य। हे संसार-समुद्र को पार करने के लिए सुगठित जहाज के समान। हे दुर्जय काम को जीतने वाले। हे क्षमा के निधान। हे घोर परीषहों पर विजय द्वारा ‘जयवंत शब्द को प्राप्त करनेवाले। हे भव्य जीवों रूपी कुमुदों के वन को विकस्वर बनानेवाले चन्द्र। और अज्ञान के महातिमिर को नष्ट करने वाले सूर्यसम भगवान्। आप की जय हो। आपही हमारे लिए शरण हैं, नाथ हैं, बन्धु हैं, मित्र हैं, जो कि जीवों को जिनवचन बताकर सर्व सुख के कारण बनते हैं।’

‘जय सरणं तुमं चिय, तं नाहो बंधवो तुमं चेव,  
जो सब्बसुक्खमूलं जिणवयण देसी सत्ताणं।’

स्तुति कर के महर्षि को तीन प्रदक्षिणाएँ देता है। उसके बाद मंत्री उनके पैरों पड़ कर प्रणाम करता है, तो राजा भी प्रणाम करता है।

महर्षि कहते हैं - ‘धर्मलाभ! स्वागत है आपका, बैठिये।’

और भी कई उत्तम जीव और कार्पटिक अर्थात् अंगपर एक ही कपड़ा लपेट कर तीर्थयात्रादि को निकले हुए योगियों जैसे वहाँ आचार्य भगवान् के पास आये हुए थे। वें भी नमस्कार करके बैठे। आचार्य भगवान् लोकाचार की दृष्टि से राजा के शरीर के समाचार पूछते हैं क्यों, काया कुशल है न ?

राजा, कहता है, ‘प्रभु आज आपके चरणों के दर्शनों से।’

राजा विचार करता है, ‘अहा ! इन आचार्य भगवान् का रूप असाधारण दिखाई देता है ! लावण्य भी असामान्य है ! जवानी का जोश अनुपम दिखाई देता है। ये महाविद्याओं के धर्ता होंगे। चलो, इन से जरा पूछ लूँ कि ऐसी अत्यन्त सुखद परिस्थितियों के बावजूद आपको संसार के प्रति वैराग्य होने का क्या कारण है ?

## १५. संसार पर वैराग्य के तीन कारण

आचार्य महाराज चार ज्ञानों के स्वामी हैं। सामने वाले के मन की बात भी जानते हैं, अतः बिना पूछे ही राजा से तुरंत कहते हैं- 'भाग्यशाली ! तुम मेरे वैराग्य का कारण पूछना चाहते हो ? किन्तु

- (१) एतद्य नरनाह न वरं चाउगद् संसार-सागरे-घोरे;  
वेरग्य कारणं चिय सुलहं परमत्यरूवेण ।'  
(२) जं जं जायम्भि मण्णइ सुहरुवं रायमोहिओ लोओ;  
तं तं सयत्तं दुक्खं भणन्ति परिणाय-परयत्था ।  
(३) तिण्हा-छुहा-किलन्ता विसय सुहासाय-मोहिआ जीवा;  
जं चिय करेति पावं, तं चिय णाणीण वेरगं ।

(१) हे राजन! चार गतिमय इस घोर संसार में परमार्थ से वस्तु स्वरूप में देखे तो वैराग्य के कारण ही सुलभ हैं।

(२) राग से मोहित मनवाले लोग इस जगत में जिस जिस वस्तु को सुख - स्वरूप मानते हैं वह वह सब कुछ दुःखरूप है ऐसा परमार्थ के ज्ञाताओं का कथन है।

(३) विषय-तृषा तथा क्षुधा (भूख) से पीड़ित प्राणी विषय-सुख के आस्वाद से मूढ बन कर जो पाप करते हैं वे ही ज्ञानी - अर्थात् समझदार के वैराग्य का कारण बनते हैं।

(i) चार गतिमय संसार वैराग्य का हेतु है:-

(१) महर्षि वैराग्य का मूल बताते हैं। प्रथम तो भटकने की चार गतियों वाला यह संसार ही भयंकर है। किसी गति में कोई भी जीव स्थिर है ही नहीं। किसी एक गति में कितना ही सुख देखने मिला हो परन्तु वहाँ से मरकर दूसरी गतियों में भटकना ही पड़ता है, और गतियों में सब जगह कहीं सुख की गठरियाँ बँधी रखी हैं? स्पष्ट दिखाई देती ही है न विविध प्राणिवर्ग में दुःख की गठरियाँ। तो अधिकांशतः दुःख में ही सँकने - भुननेवाली नरकादि सांसारिक गतियों में जीवों को भटकते ही रहना पड़ता है, वह संसार कितना भयानक है? प्रश्न उठता है-

प्र० 'परन्तु उस में थोड़ा सा भी सुखास्वाद तो मिलता है न? इसका जवाब-

(ii) सब कुछ जो दुःखरूप है वह वैराग्य हेतु है:-

उ० सुख कहाँ है? जो जो वस्तु सुख-स्वरूप लगती है सो सो सब कुछ ही

दुःख रूप है । केवल राग के आवेश का अन्धत्व इतना जबरदस्त है कि जिससे उस रागान्ध अवस्था में अज्ञानी जीव को दुःखरूपता दिखाई नहीं देती अन्यथा- तटस्थ रूप से (A) वस्तु की एवं (B) जीव की अपनी आगेपीछे की स्थिति पर दृष्टिपात करे तो दुःखरूपता शीघ्र ही समझमें आ जाती है ।

(ब) जीव की पूर्वापर (आगे-पीछे की) स्थिति:-

नादान बच्चा दाद-खुजली की खाज खुजलाने के मजे में उसे सुख-स्वरूप मानते इससे वह सचमुच सुखरूप थोडा ही है ? समझदार मातापिता तो उसे दुःखरूप मानकर उसे मिटाने को दवा ही करवाते हैं । उसी तरह जगत के पदार्थों के विषय में ज्ञानी लोग समझते हैं कि ये सब पदार्थ जीव को भले ही खुजली की प्यास उत्पन्न कर खुजलाने जैसा आनन्द दिलाएँ परन्तु सचमुच वे दुःखरूप ही हैं । इसलिए उसे दूर करने और उसकी खुजली मिटाने के ही उपाय बताते हैं । जैसे खुजली में रक्त-विकार होने के कारण साथ ही खुजलने के फलस्वरूप पुनः खुजली और रक्तविकार बढ़ने के कारण जीव की आगे-पीछे की स्थिति रोगरूप ही कहलाएगी । अतः बीच का आनन्द सचमुच सुख नहीं है, और उसे उत्पन्न करने वाला खुजली का रोग भी सुखरूप नहीं । वैसे ही विषय-राग जीव का विकार है, और विषय-सम्पर्क पुनः रागवृद्धि - विकारवृद्धि करनेवाला है - दोनों परिस्थितियाँ रोगरूप हैं । अतः बीच में होनेवाला आनन्द और उसे उपस्थित करने वाले विषय भी सुखस्वरूप नहीं है । जन्म की खुजली के मरीज को उसकी रोगरूपता का भान नहीं होता और अनादि काल के विषय-राग के मरीज जीव को उसकी रोगरूपता का भान ही नहीं होता।

यह हुई जीव की पूर्वापर स्थिति की बात ।

(अ) वस्तु की पूर्वापर (आगेपीछे) स्थिति की बात ।

**हरामी (कुलटा) स्त्री और मुनीम**

अब वस्तु की पूर्वापर स्थिति पर विचार करने के लिए एक उदाहरण के तौर पर देखिये कि किसी को हरामखोर (बदमाश) पत्नी मिली हो, और वह कहीं दुष्कर्म करके पैसे ले आवे और उसके द्वारा पति को बढिया खाना खिला कर सुख दे और पति उस सुख के बदले उसे शाबाशी दे, तो परिणाम स्वरूप वह पुनः और अधिक व्यभिचार करे तो क्या वह स्त्री अपने पति के लिए सुखरूप गिनी जाएगी ? अथवा मानो कि कोई मुनीम सेठ के नाम पर बाहर से रकम ले आवे उसमें से थोड़ी खुद रख ले और थोड़ी लाकर सेठ को दे और कहे कि 'मैंने आप के नाम से व्यापार किया था उसका यह मुनाफा लीजिये । 'सेठ उसे लेकर खुश होकर

उसे शाबाशी दे । फिर वह इस शाबाशी से उत्साहित होकर अन्यत्र और बेइमानी कर के अधिक रकम ले आवे और उसमें से कुछ रकम व्यापार का नफा कह कर सेठ को दे तो क्या सेठ के लिए वह मुनीम सुखरूप माना जाएगा ? दोनों उदाहरणों का उत्तर नहीं में है क्योंकि कि इन में तो उस स्त्री-वस्तु अथवा मुनीम-वस्तु के आगे पीछे के रंग ही भयानक हैं ।

बस इसी तरह से इस जगत के पदार्थ ऐसे खतरनाक रंग करते हैं, और उपर्युक्त पति और सेठ की तरह अपने जी के लिए भावी भयंकर दुःखमय खतरा खड़ा कर देते हैं । अतः बीच की अवस्था का आनन्द कोई वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता । और ऐसा सुख दिखानेवाले विषय भी सुखस्वरूप नहीं माने जा सकते । ये विषय आ आ कर तो जीव के पुण्य को खल कर देते हैं । **क्योंकि पुण्य से उन विषयों की प्राप्ति होती है । अतः उतना पुण्य समाप्त हो जाता है;** साथ ही मूढ़ जीव के हाथों भरपूर हिंसादि पाप और रागादि दोषों का आचरण करवा कर खूब खूब पाप इकट्ठे करते हैं । इस तरह पुण्य बेच बेच कर अकेले पाप खरीदना पापकर्मों की भर्ती करना ही हो पाता है - इसमें सुखरूपता किस तरह ? उक्त पति को उस स्त्री से किसी रोज धक्का लगे - या हानि पहुँचे, उक्त सेठ को किसी दिन सेठ के नाम उधार देनेवाले आकर तकाजा करें तब पता चले कि 'हाय ! हाय ! इस स्त्री को - इस मुनीम को मैंने सुख-स्वरूप माना सो मैंने बड़ी भयानक भूल की । निरे भ्रम में ही पड़ गया।' संसारी रागान्ध जीव की ऐसी हालत होती है । कर्म की मार पड़ती है तब विलाप की सीमा नहीं रहती ।

### **भुतहा बंगला**

इस तरह माने हुए सांसारिक सुख में यदि जीव की अपनी तथा सम्बन्धित विषय की आगेपीछे की स्थिति को देखा और सोचा जाय तो विषय किसी तरह के सुखरूप नहीं लगेंगे, दुःखरूप ही लगेंगे । अनजाने में भुतहा बंगला रास्ते पर खरीदा । थोड़ा समय उसमें निवास का सुख भोगा; परन्तु बादमें उसमें रहते भूत ने पत्नी या बच्चों को पीड़ा देना शुरू किया; और यह पता चला कि ये पीड़ाएँ भूत की दी हुई हैं, तब क्या वह बंगला सुखमय लगेगा ? नहीं, क्योंकि उसकी पूर्वापर स्थिति खराब है अतः दुःखरूप ही लगेगा । इसी तरह संसार के विषय पूर्वापर स्थिति की दृष्टि से हिसाब से दुःख रूप हैं । ऐसे संसार से वैराग्य क्यों न हो ?

**(iii) पाप करने पड़ते हैं - यह वैराग्य का कारण है-**

महर्षि ने आगे फरमाया कि केवल दुःख की ही वजह से नहीं अपितु संसार के पापों की वजह से भी संसार पर वैराग्य हो जा सकता है । यह बात भी विचार

करने पर समझमें आ सकती है। दुनिया में हम देखते हैं कि जीव भुख के मारे और विषय-तृषा तथा धन लालसा के मारे कैसे कैसे पाप नहीं करते ? और फिर स्वयं को भी कहाँ पाप नहीं करने पड़ते ? फिर यहाँ शायद ऐसे इतने भयानक पाप न भी करने पड़ते हों; तो भी यहाँ स्थिर तो बैठे रहा नहीं जाता, अतः वहीं पर शायद कभी रौद्रध्यान की स्थिति में दुर्गति का आयुष्य बाँध लिया गया हो तो मर कर इस संसार में दूसरी किसी स्थिति में रखे जाने पर जीव को न जाने कैसे कैसे भयंकर पाप करने पड़े ? यहाँ पर चाहे कम पापों के साथ ही सही, पर अकेली संसार की ही माया ममता रखी तो बाद में चल कर कौनसी अच्छी निष्पाप जीवन की स्थिति मिलने वाली है ? कहिये कि ज्यादाह पापाचरण करवाने वाले जन्म मिलते हैं; तो ऐसे संसार को क्या करें ? ऐसे उच्च मानवभव में आकर यदि पाप छोड़ने या कम करने का अवसर मिलता है, और फलतः भावी स्थिति शक्तिशाली निष्पाप बनायी जा सकती है तो फिर क्यों पापपूर्ण संसार पर मोह (ममता) रख कर पापों का पोषण किया करें ?

इस तरह विचार करने पर भी संसार पर से राग आस्था उठ जाए और वैराग्य जगमगा उठे ऐसी संभावना है। संसार में पापाचरण भला कहीं खोजना पड़ता है ? जीव जीव में यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। छिपकली बिल्ली की कैसी सतत पापलेश्या है ? भूखे सिंह बाघ भेड़िये कैसे पाप करते हैं ? भूख की पीड़ा बढ़ जाने से अग्निशर्मा ने लाखों पूर्व के मासक्षमणों के साथ की समता खोकर राजा गुणसेन को भव भव में मारने की शत्रुता उपाजित की। त्रिपृष्ठ वासुदेव तीर्थकर का जीव था तो भी और वहाँ विचरते हुए तीर्थकर श्रेयांसनाथ भगवान् मिलने के बावजूद विषयतृष्णा और सत्ता के मद में बना रहा तो मरकर सातवीं नरक में गया। वहाँ क्रोध-कषाय के कैसे पाप ? फिर वहाँ से निकल कर सिंह हुआ। उसमें कैसे कैसे क्रूर हिंसा के पाप ?

पापपूर्ण जीवन से जिसे संपूर्ण घृणा हो, और उसमें जिसे आत्मा की महा-विटंबना दिखाई देती हो, उसे स्वतः ऐसा लगेगा कि ये पाप करानेवाला संसार ही मूलतः खतरनाक है। संसार न हो तो जीव को किसलिए पाप करने पड़ें ? अर्थात् संसार के प्रति स्वभावतः घृणा उत्पन्न होगी, वैराग्य होगा।

महर्षि यही कह रहे हैं कि :-

“जीवों को चारों गतियों में (१) जो दुःख हैं, और भूख-प्यास तथा तृष्णा के मारे विषय-सुख-स्वाद के लंपट जीव (२) जो पाप करते हैं वे जो लक्ष में-ध्यान में -आवें तो भूख आदि के ऐसे दुःखभरे और हिंसादि पापों को उत्तेजित करनेवाले



संसार के प्रति वे वैराग्य उत्पन्न करवाते हैं ।

“हे नरेन्द्र ! तुम देखो कि दुनिया में आखेटक शिकारी कितने निर्दय होते हैं ? मछुआरे, जल्लाद, (गले में फाँसी का फंदा डालनेवाले), कसाई, गावों में डाका डालनेवाले, सार्थ-कारवाँ को मारनेवाले, तीर मारनेवाले, गोलंदाजी करनेवाले, माँसाहारी....कैसे कैसे अधमाधम पाप करते हैं ?”

“तो धन के लोभी वन में कैसा दावानल लगा देते हैं ? जमीन कैसी खोद डालते हैं ? पानी के कैसे बाँध बाँधते हैं ? धातुओं को कैसा फूँकते हैं । वनस्पतियों को कैसे कुचलकर लौंदा बना देते हैं ?

दूसरे भी कई जीव कैसे कैसे महारंभ कर के जीव-हिंसा करने में जरा भी संकोच या बेचैनी का अनुभव नहीं करते ! कैसे परिग्रह के पीछे पड़े रहते हैं ।

ये बेचारे केवल पाप-कर्दम में धँस कर खूब-खूब क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह का पोषण करते रहते हैं । जिस पर उन्हें इसका कोई पश्चाताप भी नहीं, और न दुष्कृत की निंदा ! फिर वे पाप से पीछे क्यों हटें ? जीवन में कभी किसी गुरु के सामने अपने पाप का प्रकटीकरण भी नहीं और न पाप-त्याग के कोई व्रत-नियम ! क्या दिन क्या रात-बस एक ही धुन कि मनमाना खाऊँ, किसी भी तरह से धन लाऊँ, और निरंकुश रागरंग मनाऊँ । इस तरह जीवन मात्र पापों से ही व्याप्त ।

“हे सुबुद्ध ! खूबी तो यह कि ऐसे भयानक पापों में भी कुछ अनुचित मानने की तो बात ही नहीं । ऊपर से उलटा ऐसा मानते हैं कि ‘यह हमारा प्रामाणिक कुलाचार है ।’ अथवा ‘ब्रह्माजीने ही स्वयं हमारे लिए ऐसी आजीविका की व्यवस्था की है ।’ ऐसे भीषण हिंसादि पापों के प्रति कोई घृणा-संकोच-संताप नहीं । उलटे पापों को धर्म-कुलधर्म के रूप में मानकर दूसरों को भी जीवन-निर्वाह के तौर पर इनकी शिक्षा देते हैं ! पाप की कैसी देशव्यापी और कालव्यापी स्थिति है ?

“हे राजन् ! इन बेचारे मूढ़ जीवों को ज्ञात नहीं कि इन के कटुफल के रूप में कैसी घोरतिघोर दुःख-पीडा भरी नरक में असंख्य वर्षों तक यातना भोगनी पड़ेगी । जीव ने जिन प्रिया-पुत्रादि के लिए ऐसे भयंकर पाप किये वे सब तो इस मरे हुए जीव को नदी किनारे जला कर नदी में नहा कर घर जाएँगे जबकि इस जीव को अकेले ही दुःख की भट्टी में सिकना पड़ेगा । अरे ! जलाने के बाद की बात कहाँ ? जलाने से पहले ही यहाँ से प्राण पूर्ण होते ही (अंतिम सांस छूटते ही) सगे-सम्बन्धियों के सामने ही इन पापों के (पापों से उत्पन्न) कर्म जीव को उठा कर सीधे नरक में पटक देते हैं ।

## १६. नरक गति के दुःख

वे नरकें कैसी हैं ?

‘कुवलयमाला’ के रचयिता आचार्य पुंगव श्री उद्योतनसूरिजी महाराज यहाँ से महर्षि धर्मनंदन महाराज द्वारा वर्णित चार गतियों के दुःख का विस्तृत वर्णन करते हैं। उसे हम संक्षेप में देखें।

नरक में उत्पत्ति कैसी.....? .....

महर्षि तब राजा पुरंदरदत्त से कहते हैं,....‘हे नृपति ! यहाँ घोर पाप कर के जीव जिस नरक में जाता है वह कैसी है सो सुनो ! नरक में नरक-वास घोर अंधकार से भरे और कहीं तो अत्यन्त उष्ण तो कहीं अत्यन्त ठंडे होते हैं, और उनमें मेद-मज्जा-चरबी-रक्त-मांस-पू आदि बीभत्स पदार्थ सब जगह बिखरे पड़े होते हैं। वज्र के समान मुखवाले पक्षी जो नरक के जीवों को अपनी तीक्ष्ण चोंच भोंकते (चुभाते) रहते हैं, वे भी बड़ी संख्या में भरे होते हैं। वहाँ जीवों को सँकरी और नलीवाले मुँह की कुंभी में पकाया जाता है। सीझना पडता है। उसमें से जीव बाहर कैसे निकले ? परमाधामी देव उसके शरीर को कोंच कोंच कर छेद छेद कर उसके टुकड़े बाहर निकालते हैं। बाहर निकलने की ही देर कि पास ही भयंकर सिंह-बाघ-शिकारी कुत्ते उसे फाड़ खाने को तैयार रहते हैं।

**नरक में उबलते हुए रस-करवत-आग-यंत्र :-**

इन पशुओं द्वारा फाड़े और चबाये जाने के बाद उसमें से छूटते ही तुरन्त परमाधामी देव उसे तांबे-सीसे के खौलते हुए अति उष्ण रस में डाल कर उबालते हैं। फिर बाहर निकाल कर तेज दातों वाली आरी (करवत) से उसे चीरते हैं। यंत्र में पेरते हैं। भट्टी लपलपाती लपटों में डाल कर भूनते हैं। वे नरकपाल देव जगत में जो जो दुःख गिने जायँ वे वे दुःख खडे कर के इन नारकीय जीवों को सत्ताते हैं। मूत्र-रसी-पू-श्लेष्म आदि अत्यंत दुर्गन्धमय बीभत्स पदार्थों से भरी कुंभी (सुराही)में जीवों को डाल देते हैं। उसमें उन बेचारे जीवों के हाथ-पैर आदि गात्र गलने लगते हैं। फिर वे अंग जब बिकसने लगते हैं तब उस सँकरी कुंभी में समाते नहीं, अतः ज्यों ही मुँह बाहर निकालते हैं त्योंही वे परमाधामी देव ‘ऐ ! मारो ! काटो ! छेदो-बींधो-फाड़ो, पकड़ो-इस पापी को छोड़ो मत !’ ऐसा कहते कहते वे उन नरक-जीवों पर भाले-तलवार-बर्छी आदि के साथ टूट पडते हैं। खड़ग से काट-

कूट, खंजर से घोंचा घोंच और भालों से भोंकाभोक चलती है। फिर उन जीवों के अंग पुनः पारे के कर्णों की तरह इकट्ठे हो कर पूरा शरीर बनने की देर कि तुलन्त उसकी पीठ में सूली भोंककर उसे सूली पर बिठाया जाता है।

खयाल करना नारकी के दुखों का।

### नारकों की प्रार्थना :-

इस तरह ऊपरा-ऊपरी पीडा-वेदनाओंका पार नहीं। वहाँ एक पीडा के बाद अविजलंब उस पर पत्थर डेले लकडी के प्रहार और तलवार के वार किये जाते हैं। ऐसी यातनाओं से अत्यन्त त्रस्त जीव एकदम असहाय लाचार दीन बनकर करुण स्वर में रुदन करते हुए प्रार्थना करते हैं-

‘हे स्वामी ! दया करो !, रहम करो ! हम अत्यन्त दुःखी हो कर हाथ जोड़ कर आपसे प्रार्थना करते हैं कि ‘मेरा ऐसा क्या अपराध है, या क्या पाप है जिससे इतनी भीषण यातना ?’

### परमाधामी के ताने :-

उस समय वे परमाधामी उनके सिर पर मुद्गर मारते हुए निष्ठुर स्वर में कहते हैं।

‘हे मूर्ख ! जब तू पूर्व भव में जीवों को मार डालता था तब नहीं पूछता था कि मैंने ऐसा कौनसा गुनाह किया है जो कि इन जीवों को मारना पड़ता है ! और अब तू पूछता है कि क्या अपराध किया है ? वहाँ जीवों को फाड़ फाड़ कर मांस खाता था, जितने जी में आएँ उतने झूठ बोलता था, चोरियाँ कर के लोगों के दिल तड़पाता था। वहाँ नहीं पूछता था कि ‘मेरा कौनसा अपराध है ?’ जब परस्त्री पर मन को मोहित कर के औरों की जवान स्त्रियों के साथ भोग विलास करता था तब हे मूढ़ ! तुझे पाप अर्थात् अपराध की समझ नहीं पड़ती थी, और अब अपराध पूछता है ? मैंने क्या पाप किया-पूछता है ?’

परमाधामी देव ऐसे एक एक पाप याद कराने के साथ साथ ही उसके शरीर पर लोहे के बड़े हथोड़ों के प्रहार करते जाते हैं। अतः ये ताने-मेहने सुनने जितने समय के लिए भी शस्त्र-प्रहारादि की भयंकर यातना रुकती नहीं ! फिर परमाधामी उसे सुनाते हैं - ‘अरे दुष्ट ! अतीत में जब भारी लोभ में पड़ा हुआ तू कई पाप-व्यापार करता था, शिकार खेलकर निर्दोष प्राणियों की हत्या करता था, धन के ढेर पर गाढ़ मूर्छा रखता था, जाति, कुल, बल आदि के मद में अंध बन कर दूसरों

की भरपेट निंदा करता था, बड़े आरंभ-समारंभ, झुठ-अनिति और संरक्षण के रौद्र ध्यान में चढता था तब तुझे पाप का विचार करने की फुरसत या श्रद्धा नहीं थी ? और अब पाप पुछता है ? अरे पापी ! मूर्ख होते हुए भी स्वयं को समझदार मानकर राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ आदि में डूबे हुए पामरों को देव-भगवान्-परमात्मा मानकर जोर से बकवास करता था कि ' इनके सिवा और कोई वीतराग सर्वज्ञ देव है ही कौन ? यज्ञादि हिंसाएँ बतानेवाले वेदों को छोड़ दूसरे कौन से शास्त्र प्रमाणिक हैं ।' और इस तरह बक कर पवित्र संयमशील मुनियों की निंदा करता था । अथवा नास्तिक बन कर 'देव नहीं हैं, स्वर्ग-नरक नहीं हैं, धर्म जैसी कोई चीज नहीं हैं; बस जानवरों को मारो, भैंसों को खड़े चीरों, मांस खाओ, अंडे खाओ, शराब पियो, रंडियाँ नचाओ, वेश्या-विधवा-कुमारिका-सधवा (सुहागिन) चाहे जिसके साथ खेल खेलो' आदि अंट-शंट बकवास करता था । तब पाप कि चिंता नहीं थी ? और अब पूछता है-कि मैंने क्या पाप किया ? गुरु कहते कि 'पाप नहीं करना चाहिए' तब रोब के साथ उनका विरोध और उपहास करता था और अब हमारे आगे दीन बन कर आजीजी करता है ?

#### **भयानक बाज़ :-**

ऐसा कहते हुए वे दुष्ट परमाधामी देव उसके अंग अंग के टुकड़े टुकड़े कर के आकाश में फेंकते हैं, उन्हें चील जैसे पक्षी पकड़ कर तोड़ तोड़ कर चबाते हैं । नरक के जीव के आत्म-प्रदेश उन अंगों में भी फैले हुए होते हैं, फलतः पक्षी द्वारा कौंचे, फाड़े और चबाये जाने में भयानक पीडा का अनुभव होता है । और "हाय ! हाय !" ऐसा करुण विलाप करता है फिर भी उन देवों को दया कहाँ ? वे पुनः अंगों के संध जाने से अखंड शरीर बनने पर अग्नि में डाल कर तपाते हैं ।

#### **नरक की भूख-प्यास :-**

वहाँ वे नारकी प्राणी बेचारे चीखते चिल्लाते हैं कि - 'हे स्वामी ! हम जल गये, हमें प्यास लगी है,' उस वक्त परमाधामी कहते हैं - 'अरे ! पानी लाओ पानी ।' ऐसा कहते ही उन जीवों के मुँह फैल जाते हैं, उन में खूब गर्म किये हुए जलते हुए तांबे-सीसे के रस उँडेलते हैं ! तब वे भयंकर दाह के मारे चीख उठते हैं कि 'अरे! बस, बस, ! स्वामी ! हमारी प्यास बुझ गयी, माफ कीजिये ।' परन्तु ये निर्दय देव तो मुँह में संडसी डाल कर मुँह चौड़ा करते हैं और उसमें गले तक नली उतार कर उसमें आग जैसा सीसे का रस उँडेलना जारी रखते हैं । और उसके बाद फिर 'लो ! भूख लगी होगी, तुम्हें यह मांस-रस (शोरबा) बहुत प्रिय था, लो, खाने को देते हैं ' ऐसा कह कर उन नारकों के गले में संडसी लगाये रखकर खूब तपा हुआ

लोहा डालते हैं, जिससे भयानक ढंग से जलते पिघलते हुए वे असीम वेदना भोगते हैं ।

### **वैतरणी नदी :-**

वहाँ से ये जीव चारों दिशाओं में भागते हैं और आगे वैतरणी नदी को देखते हैं । उसे शीतल जल से भरी समझकर ठंडक के लिए उस ओर दौड़ लगाते हैं; वह नदी तो पिघले हुए खौलते हुए गरम आग जैसे तांबे-सीसे-पू के द्रव से भरी होती है । फिर इन मूढ़ जीवों का पीछा करते हुए वे यमदूत दौड़ते आते हैं । वे जोर से चिल्लाते होते हैं, “हत्या करो, मारो, काटो, छेद डालो, बीघ डालो ” उससे बचने के लिए भागते हुए वे जीव वैतरणी को दाह मिटानेवाली समझकर शीतलता पाने और यमदूतों के वार से बचने के लिए नदी में कूद पड़ते हैं, उसमें वे समूचे जल जाते हैं । और नदी के प्रवाह में बह जाते हैं । बाहर निकलना तो बहुत चाहते हैं, परन्तु मानो गोंद की कीच में या शिलाजित के बीच फँसे हो इस तरह बिल्कुल बाहर नहीं निकल सकते । उसमें तपे हुए तांबे-रांगे (सीसे)-पू (रसी) के द्रव में अपरंपार आग उठी है, अतः बाहर निकलने की कोशिश करते हैं, करुण विलाप करते हैं और कितने ही समय तक इस तरह बहते हुए जल जल कर मुश्किल से किनारे आने पर बाहर निकल कर उस दाह से बचने दौड़ते हैं ।

नरकगति की पीडा का विचार कीजिये । यह कल्पना नहीं है हॉ ! सर्वज्ञ भगवान् को झूठ बोलने की कोई वजह नहीं है । और यह उनकी कही हुई सच्ची हकीकत है; और वह आजभी वहाँ जारी है ।

### **अग्निमय नदी-रेती :-**

वैतरणी नदी में से ज्यों त्यों बाहर निकले हुए वे जीव किनारे की रेती को ठंडी मान कर उस में लेटने जाते हैं, परन्तु वह भडभूँजे की सुपारी भूँजने के लिए तपाई हुई रेती से भी अनन्तगुनी गरम होती है । वे बेचारे उसमें जल कर सुपारी की तरह भुन कर खाक जैसे होने लगते हैं ।

### **यहीं की नजाकत भारी पडेगी :-**

सोचना जरुरी है कि यहाँ मनुष्य के जन्म में गर्मी के मौसम में गर्मी से बचने के लिए अनेक प्रकार के ऊधम करता है, ठंडक का शौकीन जहाँ-तहाँ ठंडक की खोज में फिरता है, चौबीसों घंटे बिजली के पंखे या एअर-कंडीशन्ड कमरे आदि का आग्रह रखता है, उसकी क्या हालत होगी ऐसे नरकस्थल में ? कुदरत यानी कर्मसत्ता मानो यह कह रही है कि, ‘हे जीव ! जिन अनिष्ट विषयों से तुझे द्वेष हो, ऐसे भयंकर अनिष्ट में तुझे ले जाकर पटक दूँ, और इन मन पसंद विषयों

पर यहाँ गाढ़ा राग हो उसका स्वप्न भी अब परलोक में न देखने दूँ।' मानों ऐसा कहती हुई इष्ट से एकदम दूर रखकर अत्यन्त भयानक अनिष्ट में पटक देती है। अतएव यहाँ पर 'ठंड लगी' 'गर्मी लगी' आदि नजाकत बहुत करने योग्य नहीं है।

### नजाकत से बचने उपाय :-

इस जगत में स्पशनिन्द्रिय के ये विषय तो विद्यमान रहेंगे ; उनके प्रति रति-अरति, हर्ष-उद्वेग से बचने के लिए जो अनिष्ट आवे, उसे शान्तिपूर्वक निभा लेना और मन को दूसरी दिशा में मोडना चाहिए। बनिया दो नंबर का बही खाता लिखने-घर के भीतरी कमरे में बैठ कर हिसाब लिखने में गर्मी-पसीना कैसा भूल जाता है। चार घंटे बाद लिख चुकने के पश्चात उसे लगता है कि 'हाय ! बड़ी गर्मी पड रही है। 'अरे भाई ! पर चार घंटे गर्मी कहाँ चली गयी थी ? परन्तु हिसाब के ध्यान में पता ही किसे लगा कि कैसी गर्मी पड रही है ? बस, इसी तरह हम अपने मन को किसी रुचिकर तत्त्व, भावना, तीर्थयात्रा-स्मरण, किसी चरित्र कथा या बहुसंख्य नवकार-जाप के कार्य में रोक रखें अथवा नरक के दुःख या महापुरुषों के सहर्ष भोगे हुए घोर उपसर्गों का विचार करे तो यहाँ की ठंड-गर्मी, जो कि नरक की तुलना में किसी बिसात में नहीं, की ओर मन नहीं जाएगा।

### असिपत्रवन की यातना:-

महर्षि धर्मनन्दन आचार्य महाराज राजा पुरंदरदत्त से कहते हैं- हे नरोत्तम! देखो कि वे नारक जीव अग्नि के समान रेत में भुनने के बाद ज्यों ही सामने दिखाई देनेवाले असिपत्र वन में ठंडक पाने दौड़ते हैं त्यों ही पेडपर से खंजर, कुल्हाड़ी, तलवार के धारदार फलक और चक्र, भाला, शूली की तीक्ष्ण नोंक (अनी) जैसे पत्ते और फल धडाधड गिरने लगते हैं, इन जीवों के सिर और शरीर पर गिरने से सिर फटते अंग कटते हैं और वे जीव चीखते चिल्लाते भागते हैं परन्तु वनमें से एकदम कैसे बाहर निकल सकें ? दौड़ते जाते हैं और उसी समय ऊपर से धड़ाधड शस्त्रों के समान पत्ते और फल शरीर पर गिरते जाते हैं। 'छेदन-भेदन का पार नहीं ! यहाँ मानव-भव में किसी की कूहती लगने मात्र से जो भड़क उठता है क्या उसे यह पता भी है कि 'वहाँ उस घोर पीड़ा में क्या होगा ?

### महावायु के तूफान :-

ये जीव ज्यों ही बड़ी मुश्किल से असिपत्र वन में से बाहर निकलते हैं और खुले मैदान में 'आह ! बच गये' कहते हुए आते हैं त्यों ही उनके तीव्र अशुभ कर्म

का उदय चालू रहने के कारण बचने की तो बात ही कहाँ ? उसी वक्त महावायु (जोर की आँधी) का तूफान आता है, और उससे बड़ी बड़ी चट्टाने सिर पर जोर से गिरती हैं, और भयंकर वायुवेग से शस्त्रों जैसे (तीक्ष्ण) पत्थर आकर शरीर के अंगों से टकराते हैं! इससे सिर फटते हैं। गर्दन से सिर अलग हो जाते हैं। आँखें फूटती हैं, कान कट जाते हैं और छाती-पेट पीठ-हाथ-पैर सब छिन्न-भिन्न होते हैं। हवा भी तीव्र आग की लपटों जैसी गर्म बहती है। वह भी जीवों को जलाती होती है। दूर दूर तक बीहड़ देखो तो कहीं ओर छोर नहीं, और धडाधड पत्थरमार की चारों ओर वर्षा। फिर भी वे नरक के जीव चीखते-चिल्लाते आगे आगे दौड़ते जाते हैं।

यहाँ मानव-भव में दूसरों के अप्रिय शब्द सहन नहीं होते, दिल में उथल-पुथल मच जाती है। कितनी ही उत्तम विचारधारा हो, चलती हुई रुक जाती है। और क्रोध कुद्वन होती है, तब यह विचार कहाँ होता है कि 'उन पत्थरों की धडाधड वर्षा होगी तब क्या करूँगा ? वह कैसे सहन होगी ? यहाँ बहुत मामूली मनोदुःख है, अतः वह न होने देने के लिए सहन करने का सूत्र अपनाओ।

#### **गुफा की भयंकर पीड़ाएँ:-**

उन पत्थरों की चोट खाकर नरक के जीव दौड़ते दौड़ते जब सामने पहाड़ की गुफा देखते हैं तब छुटकारे का दम लेते हैं कि 'अहाहा ! इसमें घुस जाँएँ तो इस पत्थर की झड़ी से बच जाँएँ', परन्तु उनके अशुभ के उदय के कारण नरक में सब कुछ उन्हें सताने घुलाने के लिए ही होता है। इसलिए ज्यों ही वे जीव गुफा में प्रवेश करते हैं त्यों ही ऊँचे से बड़ी चट्टान उनके सिर पर धडाम करती गिर पड़ती है। उसके तले शरीर का चूर्ण हो जाता है, वेदना का पार नहीं, देखते हैं कि, हम भूल गये, कहाँ आकर फँस गये ?' अतः कठिनाई से उठ कर बाहर निकलने दौड़ते हैं कि तभी वज्र के समान दीवार तीनों ओर से आमने सामने तेजी से आकर उन जीवों को दबा कर, कुचल कर पीस कर रोटी जैसा बना देते हैं। कैसी घोर यातनाएँ ? कही भी शान्ति है ? वहाँ उन्हें जो कुछ भी शांतिस्थल दिखाई देता है वह सब उन्हें भयानक पीड़ा देनेवाला बनता है।

#### **विकुर्वित शिकारी पशु:-**

गुफामें से जैसे जैसे बाहर निकलते हैं कि तुरन्त देवों के विकुर्वे हुए (वैक्रिय शक्ति से उत्पन्न किये हुए) सिंह-सियार बाज़ आदि उन जीवों के शरीर पर टूट पड़ते हैं और उनके गात्रों को अपनी वज्र जैसी दाढ़ों से चबाने लगते हैं। फिर एक-

दूसरे पशु-पक्षी उन्हें अपनी दाढ़-दांत-पंजों में उलझा कर उनके शरीर की खींचा-तानी करते हैं। ऐसी ऐसी पीड़ाओं और ऐसी वेदनाओं का पार नहीं। तब कहीं उस जीव को जबरदस्त संताप का विचार आता है कि -

**नरक के जीवों का संताप :-**

‘अरे रे! हमने अतीत में मूढ बनकर कैसे कैसे अकार्य किये ?

तइओ जिय मह कहियं, नरए किर एरिसीओ वियणाओ ॥  
ण य सद्वहामि मूढो एण्हि अणुहोमि पच्चक्ख ॥

उन अकार्यों को करते समय मुझे गुरुओं ने कहा था, ‘भाई ! अकार्य के फल स्वरूप नरक में ऐसे ऐसे ढंगकी वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं, परन्तु उस समय मैंने उन पर श्रद्धा नहीं रखी ! और अब मैं उनका प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ।’

‘हाय ! हाय ! पहले मुझे रोक ही रहे थे कि ‘अरे ! तू इन जीवों को न मार ! झूठ मत बोल ! चोरियाँ न कर, परस्त्री पर नजर न डाल, धन का परिग्रह मत बढ़ा ! परन्तु मैंने तो माना ही नहीं, तो जिस धन की खातिर वे पाप किये वह धन आज कहाँ है ? पैसे अब मेरी रक्षा करने कहाँ आते हैं ? जिन कुटुम्बियों के लिए, यह हिंसा किये बिना तो चल ही नहीं सकता, झूठ-अनीति के बिना निर्वाह (निबाह) नहीं हो सकता, कैसे भी प्रपंच करके पैसा पाना ही चाहिए, महा आरंभ-समारंभ करने से ही इन सब को सुख-चैन कराया जा सकता है, जीवन-निर्वाह हो सकता है’ आदि आदि बहाने बना बना कर उन पापों का सेवन किया, वह कुटुम्ब तेरा, हे मूर्ख जीव ! कहाँ गया ? उनमें से कौन तुझे यहाँ बचाने आता है ? पूर्व काल में दूसरों की भरपेट निंदा की, ईर्ष्या की, छल-प्रपंच - अभिमान किया, गुरु कहते कि ‘यह सब मत कर’, सो तूने माना नहीं, तो अब उसके कितने कितने भीषण परिणाम भोगने पड़ रहे हैं।

सम्यक्त्व-प्राप्त जीव क्षणभर ऐसा कुछ संताप पश्चात्ताप करते हैं। महामिथ्यात्वी को तो ऐसा सूझे ही कहाँ से ? उसने तो पूर्व-भव में भी - ‘स्वर्ग-नरक किसने देखे है ?’ आदि बकवास की है, अश्रद्धा की है, उसके रूढ हुए संस्कार यहाँ भी उसे सूझने ही कैसे दें ? तब चिंता संताप करनेवाले को भी आराम से ऐसा करने का वहाँ मौका नहीं रहता। क्योंकि नाना प्रकार की दारुण वेदनाएँ वहाँ नयी नयी उत्पन्न हुआ ही करती हैं जो अत्यन्त असह्य होती हैं। वन में चारों ओर लगे हुए



बड़े दावानल उन जीवों को बीच में रखकर सेंकते हैं जलाते हैं। कड़ाहों में खलखल खौलते हुए तेल में तले जाते हैं, यंत्रों में पिसना पड़ता है .... अरे ऐसा ऐसा तो कितना ही चला करता है, सो कम से कम दस हजार वर्ष। और अधिक आयुष्य हो तो अधिक से अधिक ३३ सागरोपम तक। एक एक सागरोपम दस दस कोटाकोटि पल्योपमों का। एक एक पल्योपम में असंख्य वर्ष जाते हैं।

महर्षि राजा से कहते हैं, 'हे राजन् ! उन नरकों के दारुण दुःखों में सताये जाने की जो वेदनाएँ हैं उन्हें ध्यान में लो तो फिर संसार से वैराग्य होने का कारण क्या पूछना ? इस संसार के पापों के पीछे उपस्थित होनेवाली ऐसी नरक की यातनाएँ सहज में ही संहार पर से आस्था उड़ा दें। पापाचरण करते समय कहना आसान है कि - 'परलोक किसने देखा है ?' स्वर्ग नरक तो किसी डेढ अक्लवालेकी केवल उपजाई हुई बाते हैं। हम कुछ नहीं मानते, और ऐसे कोई स्थान ही नहीं हैं तो फिर वहाँ जाने की बात क्या ? फिर भी जाना पड़ेगा तो देख लेंगे।' परन्तु पाप में जीवन बिताने के बाद ऐसी भयंकर नरक-पीडाएँ सचमुच आ खड़ी होंगी तब कैसे सही जाएँगी। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि 'पापों को आज छोड़ूँ', पर मूढतावश पापों में इसी तरह सड़ते हुए मरते हैं। फिर पाप के ऐसे स्निग्ध - (गाढे-चिकने) भाव के साथ आयुष्य बाँध कर नरक में पड़ेंगे तो कैसी दशा होगी?

अतः हे नरनाथ! (राजन्) जो आत्मा सावधान हो कर पुण्य-पाप को समझता है (विवेक करता है) वह भले-बुरे भाव को भी समझता है, अतः बुरे भाव से दूर रहकर सदा शुभ भाव में रमण करता है। (रत रहता है)

नरक में नारकी के जीवों को सताये जाने में जो पीड़ा होती है उसका वर्णन तो सर्वज्ञ भगवान ही कर सकते हैं। हम जैसे अज्ञानी कहाँ से कर सकते हैं ?

महर्षि का यह कहने का तात्पर्य (सार) यह है कि ये दुःख यहाँ के दुःखों से अनन्त गुने हैं। यदि उनकी तुलना में विचार करें तो मानों यहाँ कोई दुःख ही नहीं है। इसीलिए तो कहा जाता है कि वहाँ की अकेली एक गर्मी का दुःख इतना अधिक है कि वहाँ के जीव को यहाँ लाकर आगकी बड़ी भट्टी में सुलाया जाय तो उसे छह महीने नींद आ जाय ऐसी ठंडक मालूम हो। तो नरक के अन्य - कटने कुचले जाने - पिसने आदि की पीडाएँ तो अलग, पर केवल गर्मी का दुःख भी कितना उग्र ?

**नरक के दुःखों से मिलनेवाला सबक:-**

अच्छी स्थिति में कौन से विचार आने चाहिए ?

यदि नरक के ये दुःख ध्यान में रहे तो मन को लगेगा कि 'यहाँ जब उसकी तुलना में कोई उल्लेखनीय दुःख ही नहीं है अर्थात् यहाँ तो अच्छी हालत हैं - सब ठीक ठाक है तो फिर इस अच्छी स्थिति में ही क्यों न कष्टपूर्वक धर्म-साधना कर लूँ ? आग्रह पूर्वक गुणों का विकास क्यों न कर लूँ ? मन को दबा कर इन्द्रियों के विषयों से क्यों न विराम प्राप्त करूँ ? दिल का दमन कर क्यों न कषायों को दबा दूँ ? अच्छी स्थिति में यदि ऐसा नहीं करूँगा तो जब दुःख की झडी बरसेगी तब क्या कर सकनेवाला हूँ ? तदुपरांत अच्छी हालत के साथ धर्म करने की जो सामग्री यहाँ प्राप्त है वह अन्यत्र कहाँ मिलेगी ?'

नरक के दुःखों को भूल कर हम चिल्लाते हैं कि 'मुझे बहुत दुःख है ।' धर्म करने, गुणों की रक्षा कर विषयों को दूर रखने और कषायों को काबू में करने का महाकल्याणकारी काम उपस्थित होने पर जीव को दुःख का बहाना आगे कर के छटकने की इच्छा होती है, कि 'मेरी तबीयत कहाँ ठीक है ? धंधे की कितनी कठिनाई है मेरे ? परिवार कहाँ अनुकूल है ? पैसे की छूट सुविधा कहाँ है ? मेरा मन कहाँ मजबूत है ? धर्म करने जायँ और आगे बढ़ कर पीछेहट करनी पड़े तो ? मतलब ? दुःख कष्ट आवे तो ?' ये कैसे बहाने है ? नरक के दुःख ध्यान में हैं ?

मूर्ख जीव नहीं जानता कि ये बहाने बना कर वह दानादि धर्म भुलाकर कैसे पैसे! हाय पैसे ! कर के सच्चे झूठे स्याह-सफेद गोरख धंधे आदि के द्वारा परिग्रह और धनतृष्णा के पाप करता है, शब्द, रूप, रस, गंध आदि विषयों की आसक्ति के पाप निरंकुश बन कर करता है ! खाऊँ-खाऊँ' - यह खान-पान की संज्ञा (आहार संज्ञा) भी किसी प्रकार के व्रत-नियम-तप के बिना अबाधित खुली रखता है। उसी तरह बेशुमार गुस्सा, रोब, घमंड, दंभ, माया आदि का सेवन करता ही जाता है - इस सब में (उस) तुझे क्या यह पता भी है कि 'यदि कहीं नरक का आयुष्य बँध गया तो यहाँ के बहानों की अपेक्षा कैसे अनन्त गुने दुःख में धकेल दिया जाएगा ?

**नागदत्त सेठ** का बाप बकरा बन कर कसाई के छुरे से कट कर मरा । फिर भी उस दुःख में वह कषाय में चढ़ा तो मर कर पहली नरक में गया ? दुःख का बहाना कहाँ चलता है?

**ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती** की आँखें एक ब्राह्मण ने षडयंत्र करके फुडवा दी। इस तरह स्वयं चक्रवर्ती बेगुनाह गिना जाय तो भी वह ऐसे उपद्रव में लगा कि 'अब मैं दुनिया के सारे ब्राह्मणों की आँखे फुडवा दूँ।' और प्रिय पटरानी कुरुमति की आसक्ति में डूबा तो मरकर सातवीं नरक में गया। यहाँ के किस बहाने ने उसकी रक्षा की ?

**वासुदेवों** को ठकुराई तथा वैभव-विलास प्राप्त होता है। उन्हें कोई विषय राग, विषय भोग और कषायों को कम करने का उपदेश दे तो उनका मन बचाव करता है कि मेरी गुंजाइश कहाँ है? अपनी ताकत नहीं है। परन्तु मरने के बाद क्या? बचाव होता है? नहीं, वे तो मर कर नरक को सीधाते ही हैं।

प्र० किन्तु वे तो नियाणा (निदान) करके आये होते हैं इसलिए नरक में जाते हैं न?

उ० तो क्या पूर्व भव में किया हुआ नियाणा उसने वहीं पर यहाँ से नरक में जाने का आयुष्य बँधवाया था ? अथवा वह यहाँ बँधवाने आता है ? कर्म के बंध का आधार तो कर्म बँधने के समय आत्मा के भाव कैसे हैं, परिणाम - अध्यवसाय कैसे हैं, उस पर है। नियाणे का भाव तो पूर्व भव में था, परन्तु अब यहाँ वासुदेव वाले भव में नरकायु - कर्म बाँधते समय क्या है? कहिये, उस नियाणे के कारण दृढ किये गये विषय-कषाय की जोरदार परिणति के परिणाम-स्वरूप यहाँ भी वही परिणति रही और इसीलिए निरंकुश बनकर विषय-भोग में आसक्त रहे और अंधे होकर कषाय-सेवन में आकंठ मग्न रहे। फलतः बिगड़े हुए भाव से नरक के कर्म पैदा किये, तो अब अपने जीवन में सोचिये कि विषय-भोग में आसक्ति नहीं है न ? कषायों को रोकना जारी है न ? या अब भी विषय-कषाय में डूबे रहना जारी है ?

**लक्ष्मणजी** वासुदेव थे। क्या वे गुणवान नहीं थे ? फिर भी विषय-कषाय में उनकी अनुरक्ति कैसी थी कि जो उन्हें चौथी नरक में ले गयी। **रावण** सम्यग्दृष्टि था, अरिहंत-प्रभु का भक्त था। अवसर आने पर बड़े ठाठ से पूजा भक्ति करता था। परन्तु काम-संज्ञा, मान-कषाय वगैरह उसे चौथी नरक में घसीट गये ! विषय-कषायों की कैसी भयानकता ?

अतः दानादि धर्म करना जितना आवश्यक है, देव-दर्शन-पूजा, व्रत-नियम-सामायिक, तपस्या आदि जितने जरूरी है उतना ही और ऐसाही विषय-कषाय का त्याग जरूरी है ।

यदि यह त्याग न किया जाय तो विषय=कषाय की रमणता भयानक सिद्ध होगी। **आचार्य आर्य-मंगु** महान् प्रभावक और संयमी थे फिर भी आहार और रस (स्वाद) के विषय की रमणता ने उन्हें देवलोक की दुर्गति समान यक्ष-योनि में फेंक दिया।

**अग्निशर्मा** ने लाखों पूर्व के मासक्षमण की घोर तपस्या की थी तो भी (१) उसकी आहार - संज्ञा भभक उठी (२) अहं आहत हुआ और विषय-कषाय सुलगाया तो परिणाम-स्वरूप भवोभव में काले पाप करनेवाला और अनंत संसार का उपार्जन करनेवाला बना ।

धर्म करना तो अच्छा भी लगता है परन्तु इन्द्रियों के विषय सुखों पर जहर नहीं बरसाना है । क्रोधादि कषायों को प्राणघातक नहीं मानना है तब उनसे डरने और बचने का प्रयत्न करने की तो बात ही क्या ? यह नहीं है तो तैर जाना - उद्धार होना - कहाँ रास्ते में पड़ा है ? जैसे धर्म अच्छा लगता है, ऐसे विषय-कषाय अच्छे नहीं लगने चाहिए। उन्हें नापसन्द - अप्रिय बनाने के लिए ही नाना प्रकार के व्रत नियम और जिनभक्ति - गुरु-सत्संग तथा अनेक आचार-अनुष्ठान हैं। उनको अपनाकर भी विषय-कषाय का त्याग करते रहना है ।

आचार्य धर्मनन्दन महाराज नरक-गति के भयानक दुःखों का वर्णन करके तिर्यच मनुष्य - देवगति के दुःखों का वर्णन करते हैं सो अन्य अवसर पर प्रकाशित करने का तय करके कथा-भाग आगे चलाते हैं ।

## १७. क्रोध कषाय

आचार्य भगवान् राजा से कहते हैं—

“हे पुरंदरदत्त महाराज! तुम्हें यह जो विचार हुआ कि ‘इस मुनि को संसार पर वैराग्य होने का क्या कारण होगा? उस विषय में अब समझमें आया होगा कि जब संसार की चारों गतियों में दुःख, दुःख और दुःख ही है तो फिर ऐसे सांसारिक दुःखों का अनुभव करने के बाद अब और ही कोई वैराग्य का कारण पूछना है? सुज्ञ जीव के लिए दुःखों का यह करुण अनुभव ही ऐसा है जिससे संसार विष समान लगे।

तो इस स्थिति में वैराग्य हो जाना क्या आश्चर्य की बात है? वैराग्य न हो तो आश्चर्य है। हे महानुभाव! तुम इतना तो समझो कि सभी जीव सब जातियों में और सब योनियों में अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं और उनमें बहुत कर्मपरंपरा की बहुत बार सृष्टि करके अनन्त बार मरण को प्राप्त हुए हैं। इस अपार जन्म-मरण की पीड़ा का सर्जन करने वाली कर्म परंपरा को रोकना हो तो इतनी बातें खूब ध्यान में रखो:-

**जन्म-मरण रोकने के लिए क्या करना चाहिए? -**

(१) जीवों की हिंसा न करो। (२) सज़नों का अपमान, दमन मत करो (३) जीवों के प्रति खूब दया रखना (४) इस हेतु से स्वभाव को सहिष्णु रखकर कभी क्रोध को मौका मत देना। (५) दुष्ट मनुष्यों से मैत्री न करना। (६) जीवन में झूठ को पैर न रखने देना (७) सत्य, संयम और तप से जीवन को सुशोभित रखना (९) चोरी - अनीति का कुछ भी काम मत लेना। (९) परस्त्री पर जरा भी नजर मत डालना। (१०) जाति का, कुल का अभिमान, या किसी भी प्रकार का मद न करना (११) ज्ञान-विद्या चतुराई से फूल न उठना (गर्व न करना) (१२) दुःखियों का उपहास मत करना (१३) दीन दुःखियों पर दया करना। (१४) देवों तथा गुरुजनों की पूजा करना (१५) सेवकों से मुँह न फिराना। (१६) मित्र-जनों का स्वागत करना। उनसे ठगाई न करना। (१७) संतोष रखना (१८) मन में नम्रता-लघुता रखना (१९) दान में तत्पर रहना। (२०) किसी की भी निंदा मत करना, बल्कि (२१) दूसरे के गुण ग्रहण करना (२२) अपनी प्रशंसा-आत्मश्लाघा - मत करना (२३) सदा गुणरत्नों के प्रति आदर रखते हुए उनको उपार्जित करने में

प्रयत्नशील रहना । (२४) सज्जनों से मैत्री का व्यवहार रखना। (२५) स्वयं पर आफत आए तब वज्र से गढा हो ऐसा दृढ हृदय रखना पर विह्वल न होना। (२६) समृद्धि में उन्मत्त न बनना ।

(२७) धर्म, आचार और गुणों को अपनाना । (२८) संकट के समय शिथिल न बनना (२९) किसीके भी धर्म आदि से ईर्ष्या - घृणा न रखना। (३०) कटु वाणी नहीं बोलना (३१) हँसी-मजाक (हास-उपहास) में भी दूसरे के हृदय को चुभने वाली बात मुँह से न निकालना ...

मंत्री का प्रश्न:-

इस तरह से आचार्य महाराज का उपदेश चलता देखकर मंत्री को लगा कि यह तो कथांतर (विषयांतर) हो गया - बात बदल गई, इसलिए उसने पूछा - 'भगवन्! आपने जो इस संसार को दुःखरूप बताया, मूल में उस संसार का ही क्या कारण है, क्यों आज यह संसार चला करता है ?

आचार्य महाराज कहते हैं-

कोहो य माणो य अणिग्गहया माया य लोहा य पवहुमाणा ।  
चत्तारि एए कसिणा कसाया सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥  
अण्णाणंधे जीवो पडिवज्जइ जेण विसमदोग्गइमग्गे !  
मूढो कज्जाकज्जे एयाणं पञ्चमो मोहो ॥

अर्थात् क्रोध और अभिमान निरंकुश प्रवर्तमान रहें साथ ही माया और लोभ बढ़ते ही रहे, तो ये चारों कषाय इस दुःखद संसार में बारबार जन्म के मूल को सींचते हैं और अज्ञान से अन्ध बना हुआ जीव इस संसार की विषम दुर्दशाएँ प्राप्त कर के कार्याकार्य - कर्तव्याकर्तव्य में मूढ बनता है; संसार जारी रहने का यह भी पांचवाँ कारण है, इसे मोह कहते हैं ।

**'कषाय' माने क्या ?-**

'कषाय' शब्द कह रहा है कि 'कष्' अर्थात् संसार और 'आय' अर्थात् लाभ । जिससे संसार का लाभ हो उसका नाम कषाय है । क्रोध-मान-माया-लोभ ये ही संसार का लाभ (वृद्धि) कराने का काम करते हैं । इन पर अंकुश न लगाये और इनका यथेच्छ सेवन करता रहे तो इससे संसार - अर्थात् संसरण अर्थात् चारों गतियों में जन्म-मरण और भटकना (भ्रमण) अच्छी तरह (खूब) चलता रहता है । जीवन पर दृष्टि करने पर दिखाई देता है कि इन चारों में से एक या दूसरे का सेवन कहीं

नहीं है। घड़ी भर के किसी पर क्रोध-द्वेष ऐतराज जागता है तो घड़ी बाद जीव अभिमान में खिंच जाता है अथवा माया छल-प्रपंच, दंभ, विश्वासघात जैसे मनोभाव में गमन करता है, अथवा लोभ, राग, ममता, तृष्णा लालसा जैसी कोई न कोई भावना आ खड़ी होती है।

**कर्म किस तरह बंधते हैं ?**

बस ये सब कषाय आत्मा पर एक प्रकार की चिकनाई है। वह आत्मा पर कर्म रज को खींचती रहती है। तेलवाला कपड़ा वातावरण में से रजकणों को खींचता रहता है न ? यह कर्मरज ऐसी है जैसे कोई फोड़ा। यह पकने पर कष्ट देता है। जैसे फोड़े में से पस निकलता है, रसी निकलती है, बदबू आती है, वैसे कर्मरज पकने पर जीव को विविध दुःखः आ घेरते हैं। इनका मूल है कषाय।

**कषाय कैसे किये जाते हैं ?**

तब प्रश्न होता है कि जीव ऐसे दुःख के कारणभूत कषाय कैसे-क्यों करता होगा ? इसका जवाब यह है कि वह अज्ञान से अंधा है। उसे होश नहीं रहता कि 'ये कषाय कर कर के मैं संसार में अनन्तानन्त काल से बार बार जन्म और दुःख पाया करता हूँ' यह उसकी मोहमूढ दशा है।

**मोहमूढता देखो कि कितना भुलाती है ?**

मेरे लिए क्या कर्तव्य (करणीय) है क्या अकर्तव्य (अकरणीय) है ?

हितकारी क्या और अहितकारी क्या है ?

कौन हितैषी है और कौन शत्रुका स्थान लेनेवाला ?

सच्चा सुख कौनसी वस्तु देती है और दुःख में कौन डुबोता है ?

मोह की वजह से मूढ बने हुए जीव को इसका कोई भान नहीं होता, इसलिए कषाय कर कर के बेशुमार हिंसादि अकार्य करता जाता है। मोहमूढ खाने के लालची की कैसी दशा होती है ? रोग बढ़ते जाते हैं, चिल्लाया करता है कि 'मुझे गैस होता है, जीर्णज्वर रहता है, खाँसी-कफ होता है, तो भी फिर मनचाहा खाया ही करता है न ? जुआरी हारता जाता है, पैसे खोता जाता है तो भी जुआ खेलता रहता है न ? बस, संसारी जीव की भी ऐसी ही दशा है। अज्ञान-मोह-अविवेक के कारण दुःख के कारणों का ही सेवन करता रहता है, ऐसी ही कार्यवाही (कारवाई) किये जाता है जिससे अन्ततः दुःखही पाता है। यह सब मोहमूढता और क्रोध

आदि चार कषायों की बदौलत होता है ।

अब इसके आगे आचार्य महाराज धर्मनन्दन इन पाँचों में से हर एक पर एक एक कहानी कहते हैं । परन्तु वह वहाँ उपस्थित जीवित मनुष्यों की ही जीवन-कथा जीवन के प्रसंग हैं जिनमें क्रोध आदि एकएक कैसी कैसी भयानक करतूत कराते हैं सो देखने मिलता है। प्रसंग भी ऐसे कि उन्हें देख कर लगे-‘अरे ! यह कषाय इन्हें इस हद तक घसीट ले जाता है ? मेरे भी अपने कषायों का क्या विश्वास करना रहा ? अतः अब इस उपाधि को छोड़ दूँ । ऐसे दुःखद कषाय या मोह करने की मुझे क्या जरूरत है ? यह जानने के बाद अब मैं इसमें किस लिए फँसूँ ? इनके संस्कार दृढ़ हो जाने पर आगे चलकर विचित्र परिस्थितियों में कौन जाने ये कितने उग्र परिणाम में भभक उठें ? तब इनके कारण कैसे भयंकर अकार्य हों ? अतः अभी से इन्हे शांत करता चलूँ । आचार्य महाराज जो जीवन्त और वहाँ विद्यमान मनुष्यों के चरित्र कहनेवाले हैं वे ऐसी शुभ प्रेरणा देनेवाले हैं । अतः उन्हें अच्छी तरह ध्यान देकर दिल में प्रेरणा उत्पन्न करना । यह मुख्य मुद्दा ध्यान में रखना कि,

**कषायों का अभ्यास चालू होगा तो विचित्र परिस्थितियों में कषाय बहुत जोर से भड़क उठने की संभावना है, अतः उन्हें अभी से दबा दो ।**

**क्रोध कितना बुरा है ? :-**

आचार्य महाराज राजा पुरन्दरदत्त से कहते हैं- “हे नरेश ! कषायों में प्रथम अकेला क्रोध ही इतना भयंकर है कि क्रोध से भरा मनुष्य ऐसा अंधा बन जाता है कि वह अर्थ-अनर्थ कुछ नहीं देखता । ‘मेरे इस क्रोध से लाभ होगा या हानि ?’ इस ओर उसकी दृष्टि ही नहीं होती । उसी तरह ‘मैं क्रोधवश जो करने जा रहा हूँ उसमें धर्म होगा या अधर्म ? यह कर्तव्य है या अकर्तव्य ? इसके परिणाम में दुर्गति मिलेगी या सद्गति ? आदि कुछ विचार नहीं करता । यह कुछ सोचना ही नहीं अतः फिर क्रोध के कारण मिथ्या विकल्प में पड़ कर वह सगे भाई-बहन का भी हत्यारा बनता है, जैसे कि यह पुरुष ।”

वहाँ सभा में तो अनेक लोग बैठे हैं । अतः निश्चित कौनसा आदमी ? यह जानने के लिए राजा पूछता है, ‘भगवन् ! वह पुरुष कौन ? और उसने क्या किया था ?’

आचार्य भगवान कहते हैं- ‘यह जो तुम्हारे बाईं ओर बैठा है सो । इसने क्रोधग्रस्त हो कर क्या किया था, सो सुनो ।’

ऐसा कह कर अब महर्षि उसका चरित्रकथन करते हैं । चरित्रकार ने इसमें सुन्दर कवित्व, उल्लेखाएं, वर्णन आदि विस्तार से प्रस्तुत किया है । परन्तु हम



समयानुसार संक्षेप में कथा को देखें ।

## क्रोध पर चंडसोम का चरित्र

**दुष्कृत्य की दुहरी मार :-**

**कांची** नामक देश है । उसकी राजधानी का नाम कांची है । उसके पास रगड़ा नामक एक गाँव है । उस गाँव में **सुशर्मा** नामक एक ब्राह्मण रहता है—बेचारा जन्म से दरिद्र, उस पर स्वभाव का क्रोधी ! ऐसा क्यों ? कहो कि दरिद्रता लानेवाले पूर्वकर्मों के साथ पूर्व के कुसंस्कार । तो इसके पीछे कैसे दुष्कृत्य किये होंगे ? उसके फलस्वरूप यदि ऐसे लाभांतराय आदि कर्म उपस्थित होते हैं तो साथ ही उन दुष्कृत्यों में मिले हुए कषायों के संस्कार भी उपस्थित होंगे ही न ? ये संस्कार क्या हैं ? वे भी ऐसे मोहनीय कर्म ! उसका परिणाम क्या ? यही कि एक तरफ वे अन्तराय कर्म उदय में आते हैं तब दूसरी तरफ यह कषाय-मोहनीय कर्म भी साथ साथ उदय में आता है । अतः एक ओर धन के लाभ का अन्तराय अर्थात् दरिद्रता और दूसरी ओर कषाय का जोर । दुष्कृत्य-सेवन की दुहरी मार इस तरह पड़ती है, - दुःख और पापिष्ठता ।

**कलहखोर न बनना हो तो क्रोध का दमन करो :-**

सुशर्मदेव-ब्राह्मण दरिद्र भी था साथ ही चंड प्रकृति का क्रोधी था । वह कई बार क्रोध के मारे दूसरों से लड़ पड़ता । क्रोध का यही परिणाम होता है । झगडालू न बनना हो तो मूल में क्रोध को ही दबाना चाहिए । उसे अगर सर उठाने दिया तो फिर वह चैन नहीं लेने देगा । इसीलिए तो मन मजबूत बनाकर क्षमा-समता-सौम्यता का अभ्यास करना चाहिए (आदत डालनी चाहिए) जिससे लड़ाई-झगडे के अवसर ही उपस्थित न हों ।

**पुत्र चंडसोम :-**

उस ब्राह्मण के दो पुत्र, एक पुत्री । इनमें बड़े पुत्र का नाम भद्रशर्मा । वह इस गुस्सैल बाप की ही सन्तान न ? उस पर साथ में अपने भी ऐसे कर्म लेकर आया है कि वह बचपन से ही बहुत गुस्सैल, चंचल, (अस्थिर), असहिष्णु, घमंडी, निष्ठुर वचन और निष्ठुर मन वाला । लडकों के साथ खेलते समय निष्ठुरता, घमंड और असहिष्णुता से उन बेचारों को पीटता था । अतः लडकों ने उसका नाम चंडसोम रखा था । ऐसे नाम से उसे कहाँ घबराना या शर्माना था । बेशर्म-निर्लज्ज को बेइज्जती की क्या परवाह ? अतः वह तो अपना क्रोध, घमंड आदि अधमताओं का प्रयोग करता ही रहता ।

यह सब होते हुए भी कोई पुण्य लेकर आया होगा कि उसका एक सुशील सदगुणी, ब्राह्मण कन्या से विवाह हुआ। माता-पिता ने उसका विवाह कर के दूसरे छोटे बेटे-बेटी उसे सौंप दिये, और उन्हें भली भाँति सन्हालने की हिदायत देकर वे तीर्थयात्रा को निकल पड़े।

आर्य देश की यह महिमा है कि काफ़ी उम्र सांसारिक कुटुम्ब के काम में घिसटने के बाद आत्मा का काम सुधारने के लिए संसार से निवृत्ति ले और भगवद् भजन, परोपकार आदि में लग जाय। तो पूछिये कि -

प्र० इसमें 'सौ चूहे मार के बिल्ली चली हज करने' जैसा नहीं हुआ क्या ?

उ० नहीं, वहाँ बिल्ली के मन से चूहे मारने का भाव मिटा नहीं है, अतः हज करने की बात दंभ है, जब कि यहाँ तो उम्र हो जाने पर (बुढ़ापा आनेपर)। अब संसार का प्रपंच बुरा लगता है, माया जाल मालूम होता है, उसमें जीवन की बरबादी समझी जाती है, अतः तीर्थयात्रा, भगवद्भजन, सेवा-परोपकार, इन्द्रिय-संयम, तप वगैरह को कल्याणकारी मानकर उन्हें जीवन को सफल बनाने वाले समझ कर उनका आरंभ किया जाता है। प्रश्न उठता है -

प्र० तो फिर 'सौ चूहे मारकर' वाली कहावत व्यर्थ है ?

उ० नहीं, उसका भाव यह है कि -

(१) समझदार होते हुए भी खूब पाप कर लेना और बादमें दुनिया को दिखाने के लिए धर्म करने निकल पड़ना-यह अज्ञान-दशा है।

(२) अथवा एक ओर पाप करने में कोई कसर न रखना और दूसरी ओर लोगों को मालूम पड़े ऐसी कोई धर्म करनी (धार्मिक-कार्य) कर लेना-यह दंभ है।

(३) अथवा मामूली धर्म कर के यह मानना कि 'इससे मेरे पाप धुलते जाते हैं, बस, पाप किये जाओ-कोई हर्ज नहीं' यह अज्ञानदशा है। क्योंकि -

**धर्म जो करना है सो पापों को जहर मानकर करना है।**

फिर ऐसा हो कि किसी को पाप पहले से जहर तो लगे हों किन्तु अपनी कमजोरी के कारण पापों को दूर हटाने की शक्ति न हो तो बड़ी उम्र में जब वीर्योल्लास जागृत हो तब वह संसार में से बहुत हिलडुल करने के बाद विरक्त भाव से पापों को छोड़ कर आत्म-हित साधने में उद्यमवान बने। तो किसी को ऐसा भी हो कि पाप पहले से जहर जैसे न लगे हों तो भी बुढ़ापे में पापों की विटंबना अनुभव होनेपर वे जहर मालूम हो तो उसके कारण, पहले वहाँ संसार को चाव से भोगकर बाद में भी अब उन पापों को दूर हटाकर आत्महित-साधन के लिए धर्म-मार्ग पर संचरण करे। तात्पर्य-आर्यदेश के वातावरण की यह विशेषता है कि आखिर बुढ़ापे में पापों को

विषसमान मानकर जीव को उनमें से अलग कर धर्म में लगा दिया जाता है। यह सूचित करता है कि धर्म करना सो पाप को ज़हर मानकर करना।

### उपवास किसलिए ?

‘खाना बुरा है इसलिए, खाने में बहुत पाप करते हैं, इसलिए, कभी कभी खाना छोड़ कर उपवास करो।’, मन को ऐसा लगता है अतः उपवास किस तरह से करना ? खाने के पाप को जहर मान कर करना।

कहो, क्या इस तरह उपवास करते हो ?

यदि नहीं तो यही मुश्किल होती है कि बाद में पारने में मजा आता है। वापस कभी उपवास करना आवश्यक हो तब उपवास इतने उल्लास से नहीं होता, जितने उल्लास से भोजन किया जाता है। इसी से उपवास के दिन कुम्हलाये हुए से बन जाते हैं, और खाने के दिन प्रफुल्लित बन जाते हैं।

### उपवास में कुम्हलाना ? (मुर्झाना?)

खाना तो दूसरे के घर में जाने के समान है। और उपवास अपने घर में आने के समान है। अपने घर आना हो तब कुम्हलाना चाहिए भला ?

किसी के मरने के पीछे कान करने दूरसे गाँव जाना हो तब प्रफुल्लिता नहीं होती। उसके घर आग्रहपूर्वक चाय-नाश्ता भोजन करने में आनन्द नहीं होता। खाने के लिए वहाँ उमंग से चार दिन ज्यादा रहने को मन नहीं करता। उसी तरह यहाँ भी ‘खाना’ पाप है, खान-पान के पुद्गलरूपी पराये घर में जाना सो शरीर को वहाँ काम करने जाने के समान लगता हो। शरीर को भूख लगी अथवा जीभ को खुजली सी चली कि बस उसकी तृप्ति, स्वस्थता, आनन्दरूपी सगे की मौत हो गयी। अतः शरीर को यहाँ कान करना जाना हुआ। अब आत्मा के ऐसा प्रसंग आया कि अपने सम्बन्धी शरीर के यहाँ कान करने जाना है, अर्थात् पर पुद्गल के पास जाना पडता है तो उसमें आनन्द-मंगल कैसा ? यहाँ कान का काम निपटा कर मुक्त हुए ऐसा मान कर खडे हो जाना चाहिए। ऐसी विचारणा हो तो,...

उपवास के दिन ‘आज कान नहीं जाना है’ उस का आनंद हो, प्रफुल्लितता हो।

यह तो कैसी बात है कि उपवास के दिन अभी मुश्किल से १० बजे हों तो भी चेहरा तो जैसे जुलाब लिया हो ऐसा उतरा हुआ, उदास। कोई पूछे कि ‘ढीले क्यों दिखते हो ?’ तो रोने जैसी शिथिल आवाज में कहेंगे ‘आज मेरे उपवास

है ।' अरे ! अभी यह क्या ? वैसे भी खाने के सामान्य दिन भी किसी बार ऐसा काम में व्यस्त हो गये कि १० बजे तक कुछ खाया-पिया नहीं फिरभी कोई उदासी नहीं, तो आज क्यों ? कहे कि उपवास अर्थात् 'आज प्रिय भोजन नहीं मिलेगा' इस की कल्पना मनुष्य को मारती है । खाना बुरा कहाँ लगा ? लगा होता तो आज यह पाप टलने का ( न होने का ) हर्ष न होता ? बात यह है कि -

**पाप को जहर माने बिना धर्म के प्रति सच्चा आदर उत्पन्न नहीं होता ।**

पाप की कीमत न आँकी जाय तभी धर्म की कीमत आँकी जाती है । ( पाप को महत्व न दिया जाय तो ही धर्म को महत्व दिया जाता है ।)

पाप निकम्मा मालूम हो तभी धर्म मूल्यवान् लगता है ।

करो ! करो ! इस जीवन में यह विशेष करणीय है, कि पापों को जहर मानते जाएँ, अर्थहीन मानते जाएँ, और हो सके उतना पापों का परित्याग करते जाएँ। फिर देखो, भगवान् और धर्म सचमुच मधुर लगेंगे; उनमें जी लगेगा ।

### **चंडसोम की पत्नी पर ईर्ष्या :-**

उक्त चंडसोम के माता-पिता जीवन के पिछले हिस्से में गृहवास के पाप-प्रपंच से छुटने तीर्थयात्रा को निकल पड़े । यहाँ चंडसोम घर का कर्णधार बना । माँ-बाप ने उसके साथ जिस सुशील ब्राह्मण कन्या नंदिनी का विवाह किया था उसको - चंडसोम की सुखमय स्थिति न होने के कारण - ऐसा अच्छा खान-पान नहीं मिलता कि अंग हृष्ट-पुष्ट बनें और ऐसे सुन्दरता देनेवाले वस्त्र-अलंकार (गहने-कपड़े) भी नहीं मिलते जिनसे वह अपनी सुशोभित वेश-भूषा बना सके, तो कोई राग-रंग करने को भी कुछ नहीं हैं । ऐसा होते हुए भी उसके मुखमंडल पर ऐसा लावण्य झलकता है कि वह गाँव के युवकों की नजर का शिकार बन जाती है । वह बेचारी जरा गाँव के बाहर जाती है कि युवा पुरुष उसकी ओर एक टक ताकते फिरते हैं । स्वयं सुशील है, अतः सामने देखती तक नहीं; पर-पुरुष पर दृष्टि नहीं करती, फिर भी युवकों का उस पर बार बार दृष्टि डालना और दर्शन से पुलकित होना देखकर चंडसोम बेचैन हो उठता था । उसे पत्नी पर ईर्ष्या-असूया जाग उठती है ।

### **पुण्य की विचित्रता :-**

है कोई कसूर इसमें पत्नी का ? किन्तु कमजोर पति औरत के आगे सूरभा बनता है । पत्नी पर बल दिखाता है । चंडसोम खुद तो उन युवकों को रोक नहीं सकता, डाँट नहीं सकता, फलतः पत्नी से जलता है । बेचारी का और कोई कसूर नहीं;

पर उसे ऐसा सौंदर्य-लावण्य क्यों मिला ? यही उसका अपराध । यह प्रेम को सुखा देनेवाली जलन पति में पैदा करता है । ऐसा लावण्य प्राप्त करानेवाला पुण्य किस प्रकार का ? पापानुबंधी पुण्य में तो ऐसा है कि वह अपने भोगनेवाले जीव को ही पाप में प्रवृत्त कराता है, पर यहाँ तो स्त्री सुशील है, पवित्र जीवन जी रही है और उसे पति की और से जलन हासिल होती है । इस जलन का निमित्तभूत उसका लावण्य-पुण्य दूसरे पाप से मिश्रित माना जाता है ।

जीव इस जीवन में कितनेक पुण्यों को साथ तो लाता है परन्तु साथ में ऐसे पाप-अशुभ कर्म भी लेकर आता है कि वे भी अपना भाग अदा करते जाते हैं जिससे उस पुण्य से एकान्त सुख की स्थिति नहीं होती, साथ में दुःख भी शामिल हुआ होता है ।

### पुण्य में पाप का मिश्रण क्यों ?

इस स्त्री के पास ऐसे दौर्भाग्य के कर्म हैं कि उनसे उसे पति की ओर से संताप मिलता है । ऐसे अशुभ कर्मों का उपार्जन कौन करवाता है ? हृदय के क्लुषित भाव, ऐसी बाह्य-प्रवृत्ति । एक और जीव धर्म करे तपस्या करे अतः एक ओर पुण्य तो पैदा होता है, पर दूसरी ओर उसके जीवन में पाप-प्रवृत्तियाँ, अनुचित वचन और हृदय में चिकने (न उखडनेवाले) रागद्वेष के संक्लेश रहा करते हैं अतः अशुभ कर्म भी साथ साथ बँधते जाते हैं । इसमें भी कर्मबंध का अन्तिम कारण तो हृदय का भाव है । भाव शुभ नहीं अतः आत्मा में कर्म-रूपी कूड़ा करकट बढ़ता है, बाद में दूसरी ओर कभी शुभ भाव से किये गये सुकृत से पुण्य पैदा होता है, वह आगे चलकर सुखके दर्शन कराता है, किन्तु यह कूड़ा-कर्कट-कचरा भी अपना फल - पीडा भी खड़ी करता ही है ।

नंदिनी को बाहरवालों की ओर से दृष्टि का आक्रमण और घर में पति की ओर से संताप-इस तरह दुहरी मार पडती है ।

प्र० खैर ! यह तो उसे उसके कर्मों से मिलता है परन्तु उसका पति जो ईर्ष्या करता है वह पति का अपराध है या नहीं ?

उ० अवश्य है ।

**हमारे प्रति दूसरों को द्वेष हमारे ही कर्मों से :-**

प्र० इसमें पति का क्या कसूर ? उसे जलन तो पत्नी के कर्म करवाते हैं न ?

उ० नहीं, एकान्ततः ऐसा नहीं है कि अकेले उसी के कर्म इसमें कारणभूत हों, इसमें पति की अपनी भी बुरी आत्मदशा सूचित होती है । इसीलिए पत्नी को ऐसा पति मिलने के भाग्य में एक हिस्सा पत्नी के संसार सुख देनेवाले पुण्य का

और दूसरा हिस्सा ऐसी बुरी आत्मदशा वाला पति देनेवाले पत्नी के ही पाप का है। साथ में यह भी कि पति जो ऐसी बुरी आत्मदशावाला है सो इस (स्त्री) के कर्मों से नहीं किन्तु वह तो पति की अपनी स्वतंत्र स्थिति के कारण; अपने पाप से और तदुपरान्त यहाँ के असत्पुरुषार्थ से दुर्दशावाला है।

### जीव-जीव के कर्म भिन्न:-

हर एक जीव के अपने कर्म और संस्कार अलग अलग हैं या नहीं ? हैं ही। उसी तरह पुरुषार्थ भी भिन्न भिन्न रहेंगे ही। इसी हिसाब से यहाँ पति चंडसोम पत्नी पर जो ईष्यालु बनता है तो पति की अपनी ही कर्म-संस्कार की पूँजी और पुरुषार्थ के कारण।

### कर्मों के बावजूद समझदारी से रक्षा होती है:-

इसपर से हमें शिक्षा मिलती है कि हमें ऐसे ऐसे बाहर के निमित्तों के कारण क्रोध, अभिमान, रोब, रोष, आदि जाग पड़ते हों तो मुख्यतः हमारे अपने ही कर्मसंस्कारों के कारण। किन्तु यदि इस बात को समझकर उन क्रोध आदि पर बाह्य उधम मचाने का पुरुषार्थ न करें तो बच सकते हैं। अन्यथा ऊन कलुषित भावों के जाग्रत होने पर उलटा ढंग अपनाते हो और गलत विचार करते हों तो उसमें हमारे ही असत्पुरुषार्थ का कसूर है।

प्र० हमारे क्रोध में सामनेवाले का दोष क्यों नहीं है ?

उ० इसीलिए कि हम जिस प्रसंगमें क्रोध करते हैं वैसे या उससे भी उग्र प्रसंग में विचारशील उत्तम पुरुष क्षमा, समता और करुणा धारण करते हैं न ? यदि सामने उपस्थित निमित्त के ही आधार पर सब कुछ घटित होता हो तो उन उत्तम पुरुषों को क्रोध क्यों नहीं आता ? वे किस तरह क्षमाशील रह सकते हैं ? इसलिए सच (असल) बात यह है कि

हमारे कलुषित भाव हमारी ही कर्मसंस्कार की पूँजी पर ही आधारित हैं -

निःसन्देह उस पर और गलत विचार, अंटशंट बकवास - बडबडाहट, और उस प्रकार की असत्प्रवृत्ति के पुरुषार्थ करें तो और अधिक बिगड़ते हैं। परन्तु यह बिगाड़ भी मुख्यतया सामनेवाले के निमित्त नहीं, बल्कि बिगाड़ हमारी अपनी अधम आत्मदशा के घर का है।

## जीवन-शैली का आधार किस पर ?

इसलिए - (अर्थात) हमारी इस तरह की जीवनशैली के लिए हमारी भली - बुरी आत्मदशा ही विशेषतः जिम्मेवार है। हम बहाना निकालते हैं कि 'क्या करें?' हमें लोग बुरे मिले हैं इसलिए हमें गुस्सा करना पड़ता है' परन्तु इसमें हमारी आत्मदशा कैसी है इस का हम विचार नहीं करते; अथवा 'नहीं, वह तो अच्छी है' ऐसी भ्रान्ति में रहते हैं। हम ऐसे ही ऐसे आत्मदशा के विषय में अज्ञान या भ्रम रखा करें तब तो उसे सुधारने का विचार ही कहाँ किया जाय ?

प्र० क्या आत्मदशा सुधर सकती है सही ?

उ० हाँ सुधरती हैं, इस के लिए यह सोचिये कि आत्मा की दशा बुरी हो और उसके कारण बात बात में गुस्सा या घमंड, हर्ष या उद्वेग, लोभ और मूर्च्छ (मोह) आया करते हों तो भी ऐसा नहीं है कि 'भाई ! यह तो जैसे हमारे पूर्व के कर्म और संस्कार वैसी स्थिति रहा करती है, उसमें हम क्या कर सकते हैं।' नहीं, ऐसा नहीं है। प्रयत्न से इसे सुधर सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो मोक्षमार्ग का अस्तित्व ही न होता और किसी जीव की सद्गति या मोक्ष होता ही नहीं, क्योंकि जीवने भूतकाल में उल्टा ही काम किया है, अतः ऐसे बुरे कर्म और संस्कार ही लेकर आया है। फलतः उस पर खराब आत्मदशा ही कायम रहती, उससे पुनः नये कर्म और संस्कार भी खराब ही रहते; उस की ऐसी ही आत्मदशा चलती, इस तरह यदि उसे सुधार सकने की स्थिति ही न हो तो सद्गति कैसे हो ? और मोक्ष हो ही कहाँ से ?

चंड कौशिक सर्प अधम आत्मदशा लेकर आया हुआ था, तो महावीर भगवान् के दर्शन और वाणी से भी वह दशा कैसे बदल सकती ? फिर भी बदली है यह तथ्य है। तभी वह दुर्गति की परंपरा में पड़ने के बदले ऊँची देवता की सद्गति प्राप्त कर सका है। हम बहाने बनाते हैं कि क्या करें? हमारी आत्मदशा ही निकृष्ट हो उस स्थिति में वैसे वैसे निमित्त मिलने पर हम बिगड़े नहीं तो और क्या हो ? परन्तु यहाँ विवेक करना योग्य है।

बुरी आत्मदशा में दो तत्त्व काम करते हैं, एक तो हमारे अपने पूर्व अशुभ कर्म, और दूसरा उस पर हमारा नया असत्पुरुषार्थ ! उदाहरणतया पहले से क्रोध - मोहनीय कर्म लेकर आये हैं, वह कर्म निमित्त पाकर उदय में जब आता है तब अन्तर में क्रोध की आग सुलगती है। फिर उस पर बाहर आँखे चढ़ाई जाती है (तरेरी जाती है) बडबड और धमाधम करते हैं, यह नया असत्पुरुषार्थ किया कहा जाता है। ये दोनों मिलकर अधम आत्मदशा का निर्माण करते हैं। यहाँ इतना

ध्यान में रखना होगा कि:-

**असत्पुरुषार्थ किसी कर्म के उदय का कार्य नहीं है।** यह तो जिस प्रकार आत्मा में कर्म है, ज्ञान-दर्शन का उपयोग है, उस तरह मन-वचन काया का योग भी हैं। योग का प्रेरक है वीर्य-स्फुरण। सत्स्फुरण करना या असत्स्फुरण यह जीव का अपना अधिकार (अख्तियार) है। विवेकी जीव सत् वीर्य स्फुरित करके सत् योग जगाएगा और अविवेकी जीव, असत् वीर्य की स्फुरणा करके असत् योग में पड़ेगा। तात्पर्य... **जीव पुरुषार्थ के विषय में स्वतंत्र है।**

इसीलिए जीवों में विचित्रता दिखाई देती है कि कतिपय जीव छोटे कषाय-प्रसंग में भी बाहर बड़ी धमा-धम मचाते हैं, जब कि कुछ ऐसे भी हैं जो बड़े कषाय-प्रसंग में भी बाहर थोड़ी धमाधम करते हैं। अन्तर में कितनी मात्रा का उबाल आया इसका खुद को तो पता होता है न? अब इस पर कैसा विचार कैसी बाहर की मुखमुद्रा और कैसे वाणी-विलास आदि करने हैं सो अपने हाथ की बात है। ये जैसे किये जाएँगे वैसा योग खडा होगा।

**कर्म के उदय में जीव ने कर्म को या अपनी आत्म-दशा को इस असत् योग की सहायता दी इससे यह जीव मरने पड़ा।** उस की आत्मदशा पहले बिगड़ी हुई थी। उसे यहाँ और बिगाडा। दुर से स्त्री को देखने पर अन्तर में राग-विकार उठा सो कर्मोदय है, परन्तु तत्पश्चात् यदि उसके सामने एक टक देखने का पुरुषार्थ किया तो ऐसे असत् योग का मेल करने से आत्मदशा निकृष्ट बनेगी ही। अनीति-अन्याय से धन पाने की इच्छा हुई तो यह अशुभ कर्म का उदय हुआ परन्तु अब उसे कैसे पाना उसकी योजना का विचार करने लगे, आगे प्रवृत्ति की, तो उसे असत् योग की सहायता दी तो मर गये। आत्म-दशा बिगड़ी। मद या ईर्ष्या या क्रोध का भाव कर्म के उदय से जाग्रत हुआ फिर भी यदि उस पर मलिन विचार करने लगे तो वह उसे असत् मनोयोग की मदद देना हो गया। उससे आत्मदशा अधिक बिगड़ी। अतः इससे बचने के लिए यही करना चाहिए कि हम ऐसे दुष्ट भावों को जाग्रत करनेवाले अशुभ कर्मोदय के सामने सत् योग खड़ा कर दे। यह सत् योग अर्थात् अच्छी शास्त्रीय प्रकार की विचारणा, क्षमा-वैराग्यादि के वचन और वैसी शुभ प्रवृत्ति। पूछिये :-

प्र० यह सब कुछ सही, पर निमित्त ही बुरा मिले तो कैसे बचा जाय ?

उ० यह क्या आप अकेले कहते हैं ? बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि 'हम तो बहुतरा अच्छा बने रहना चाहते हैं, किन्तु हमें निमित्त बुरे मिलते हैं तो क्या किया जाय? लेकिन सोचिये कि चंडकौशिक सर्प को प्रभु महावीर का कितना



अच्छा निमित्त मिला है। महावीर प्रभु वहाँ ध्यानमें खड़े है ! और दर्शन दे रहे हैं। अब यहाँ यदि चंडकौशिक यह बहाना करे कि 'क्या करूँ ? मैं तो बहुत शांति रखना चाहता हूँ, परन्तु यह कोई मेरे सामने मेरी सीमा में आकर हठपूर्वक खड़ा रहे तो गुस्सा आवे ही न ?' तो उसका यह बहाना कितना कमजोर है ? अरे पर देख तो सही कि तेरे आँगन में यह कैसी परम दयामय दिव्य विभूति आकर खड़ी है ?' इसका आनन्द लेने के बदले ईर्ष्या करता है ? ऐसे तो ईर्ष्यालु के सामने कई भले आदमी होते हैं ? इस कारण उसकी ईर्ष्या ही भभका करे तो यह सज़नों का कसूर है ? भले आदमी गुनाहगार है ?

प्र० चाहे वे नहीं हों पर उसके कर्म तौ दोषी है न ?

उ० मतलब ? उसमें वे कर्म बुरे हैं तो क्या इस कारण आत्म-दशा बुरी ही चलती रहेगी ? उसमें सुधार हो ही नहीं सकता यही न ? तब तो फिर चंडकौशिक में सुधार कैसे होता ?

### चंडकौशिक का ज्वलन्त पुरुषार्थ:-

इसलिए समझिये कि ऐसा नहीं है। बुरी आत्मदशा को भी सुधारना हो तो पुरुषार्थ की दिशा बदलने से सुधार सकती है। चंडकौशिक ने ऐसा किया है। 'प्रभु महावीर के वचन 'बुज्झ बुज्झ चंडकोसिया' ये पाकर उसने सत्पुरुषार्थ जाग्रत किया है, ध्यान दिया है कि 'ये क्या कहते हैं?', इस पर से जातिस्मरण ज्ञान द्वारा उसने अपनी पहले की खराबी को देखा। उस के बाद (१) घोर पश्चाताप का पुरुषार्थ जगाया। अब (१) उस क्रोध का दोष नष्ट करने के दृढ संकल्प का पुरुषार्थ जगाया। प्रभु के सम्मुख उसका संकल्प करने का और (४) बिल में वापिस जाकर शांत पड़े रहने का और (५) क्षमा के भंडार प्रभु को ही दृष्टि-समक्ष (मद्दे नजर) रखने का पुरुषार्थ दृढ किया (६) सैंकड़ो - हजारों चीटियों के द्वारा उसे भीषण दंश दे दे कर बींध डालने का किया गया उपद्रव सह लेने का पुरुषार्थ जगाया सो किस तरह ? अपनी काया और सुखशीलता के सामने कठोर मन से - सहर्ष सहने का पुरुषार्थ जाग्रत किया; तो इन सब ज्वलन्त सत्पुरुषार्थों से आत्मदशा सुधार ली और मरकर देवलोक की सद्गति प्राप्त की ! बस।

मुख्य उद्देश्य आत्मदशा के सुधार का :-

वीतराग प्रभु के दर्शन पूजन गुणगान साधुसेवा सत्संग - जिनवाणी-श्रवण ... आदि सद् निमित्त पा पाकर हमें यह करना है कि हम अपनी आत्मदशा को सुधारते जायें।

तपजप अनुष्ठान कर के भी आत्मदशा को सुधारते रहने का कार्य करना है। इन सब निमित्तों में विचारसरणी ऐसी चलती रहनी चाहिए जो हमारी अन्तर्दशा को निर्मल बनाती रहे। फिर क्या धर्म-प्रवृत्ति के समय और क्या बाहर-विचारसरणी एवं वाणी अच्छी बनाये रखने की सावधानी (जागृति) और पुरुषार्थ जारी रहते हों तो परिणामतः बुरी आत्मदशा भी स्वभावतः अच्छी होती जाय।

### आत्म-दशा सुधारना-अर्थात् क्या?

(१) पहले नंबर में यह कि पाप और दोष जहर जैसे लगें।

हृदय में इन पापों और दोषों की खुशी नहीं बैचैनी हो; निश्चिंतता नहीं भय हो। यह वस्तु विवेक के घर की है। (विवेक से आती है) विवेक आया कि 'पापों का त्याग अच्छा, पाप बुरे हैं, पाप आत्मा की शोभा नहीं, सुन्दरता नहीं, बदनामी है, खराबी है।' ऐसी पहचान हो गयी समझियो। फिर फिलहाल शायद तुरन्त पापों को छोड़ देना न हो सके लेकिन उन से घृणा तो होनी ही चाहिए। दिल में उनपर अभाव (नापसंदगी) तो करना ही रहा न ?

(२) दूसरी यह आवश्यक है कि पापों की प्रवृत्ति रूक जाय :-

### पापों की वृत्ति कब रूके :-

आत्म-दशा के सुधार में यह बहुत आवश्यक है, क्यों कि हिंसापूर्ण आरंभ - समारंभ, विषय परिग्रह .... आदि पाप तथा काम-क्रोध- लोभ-मद मायादि दोष ही यदि भूल में बुरे न मालूम हों, अन्तर में उनके प्रति अभाव - अरुचि न हो और उसके बदले वे यदि स्पष्टतः करणीय लगें, अच्छे लगें, यदि उनमें कुछ भी ऐतराज न हो तब तो बेतहाशा उन्हें अपनाने की, करने की वृत्ति कैसे रूकेगी ? उसके पीछे वैर, विरोध, ईर्ष्या, स्वार्थान्धता आदि का पूर्णतः आचरण करने की कनिष्ठ वृत्ति कैसे छूटेगी ? ऐसी निम्न आत्मदशा तो हम अनन्त काल से रखते ही आये हैं, और वर्तमान समय में अनार्य-म्लेच्छ लोग चमार-भंगी (मेहतर) तथा अधम लोग और पशु-पक्षी भी पापों पर प्रेम की अधम आत्मदशा रखते दिखाई देते हैं, सो हम भी वही रखें तो इस सुन्दर धर्म-शासन के साथ प्राप्त हुए उच्च मानव-अवतार की विशेषता क्या ? कौनसी आत्मदशा सुधारी ? तब क्या आप यह समझते है कि धर्म भी बाहर से क्रिया के रूप में कर लिया और भीतर से आत्मदशा नहीं सुधारी तो भी कल्याण हो जाएगा? इस गलत फहमी में न रहना।

**आत्मदशा को सुधारे बिना उद्धार नहीं है। इस हेतु सें पापों- दोषों को भयानक मानना ही चाहिए।**

मानव-जीवन में आत्मदशा को सुधारना तो एक महान् कार्य है, अनिवार्य कर्तव्य है और उसे करने का स्वर्ण-अवसर यहाँ मिला है। जीव ऊपर जो आता है उत्तरोत्तर ऊपर के गुणस्थानक पर चढ़ता है, ऊँची ऊँची साधना में आगे बढ़ता है, सो सब आत्मदशामें सुधार के बल पर, और अधिकाधिक शुद्ध बनने से अभिमान आपमति, तृष्णा, जड़राग आदि घृणित भावनाओं से मुक्त होते से ऊँचे आता है।

**प्र० परन्तु आत्मदशा की समझ ही न पड़ती हो तो ?**

उ० क्या हम इन सब अहंकारादि की पकड़ को जान नहीं सकते ? हम स्वस्थ बैठे हों और उतने में कोई ऐसा विचार आ जाता है, कुछ याद आ जाता है, या सामने ही कोई प्रसंग घटित हो जाता है तब अन्तर में यह अहंकार की मलिन भावना उठती है। देखा जाय तो हमें पता चलता है कि यह भावना उठी है और हम उसकी गिरफ्त में आ गये हैं। क्षणभर पहले हम स्वस्थ बैठे थे, और अब 'अयँ ? मेरा नुकसान करता है ? मुझे ऐसा कहता है ? यह कषाय का भाव जगा। यह समझ में आने जैसा है। यही है हमारी आत्मदशा का नाप कि दशा बुरी है।

आत्मदशा अच्छी रखनी हो तो यह विचार करना चाहिए कि -

‘प्रथम तो यह खराबी हैं ऐसी समझ मुझे सदा जीवित रखनी चाहिए। कोई भी निमित्त मिले, चाहे जैसा प्रसंग उपस्थित हो, परन्तु उस में कषाय के मलिन भाव में फँसने की मुझे क्या जरूरत है ?’ निमित्त या प्रसंग के विषय में तटस्थता से सोचा जा सकता है कि ‘यह तो किसी कर्म के कारण उपस्थित हुआ है अथवा काल के प्रभाव से हुआ है या भावी-भाव के बल पर बनता है। इसमें हमारी विह्वलता क्या काम कर सकती है ? हम आत्मदशा को बिगाड़ें इतने भर से उसपर कोई असर होनेवाला नहीं इससे बच नहीं सकेंगे। हमें बाह्य निमित्त या प्रसंग अनिष्ट हानिकारक लगता हो तो हमें वहाँ से शांतिपूर्वक सरक जाना चाहिए, यही उपाय है, परन्तु अन्तर (हृदय) में क्रोध क्यों ? सामनेवाले से कुछ कहने योग्य लगे तो शांति से कह दिया जाय। अरे ! ऐसे प्रसंग में सख्त शब्दों में कहा जा सकता है परन्तु भीतर सावधानी रखकर कि हम अपनी आत्मदशा को न बिगाड़ें। दुनियामें बननेवाला बनता है - बिगडता है सो पाँच कारणों से। उसमें हमारे स्वयं बिगडने की आवश्यकता नहीं है।’

**आत्मदशा को कौन बिगाडता है ?**

इतनी मुख्य बात समझ रखनी चाहिए कि हम ही अपनी आत्मदशा को बिगाडते

हैं। उसे बिगडने से रोकना हो तो रोक सकते हैं। बाहर वाले को दोष देने के बजाय स्वयं को पहचानना आवश्यक है।

प्रभु महावीर को देख कर संगम देवता में बिगाड हुआ, वह बिगाड क्या महावीर प्रभु के कारण हुआ? नहीं, वह तो देवता की आत्मदशा ही निकृष्ट थी और उसे इस निकृष्टता की कोई फिक्र नहीं थी। इसलिए वह बिगाडा और उसने भगवान पर जुल्मों की वर्षा की। यदि उसके बिगडने में भगवान को कारणरूप कहें तो इस का यह अर्थ हुआ कि दुनिया में सज्जन लोग दुर्जनों को बिगाड़ते हैं क्योंकि उनकी सज्जनता का निमित्त पाकर दुर्जन लोग द्वेष करते हैं, ईर्ष्या, असूया करते हैं, अनाड़ीपन करते हैं, लेकिन ऐसा थोड़े ही कहा जा सकता है। दुर्जन बिगडते हैं सो तो अपनी बुरी आत्मदशा की वजह से बिगडते हैं, उसमें सज्जनों का कोई कसूर नहीं माना जा सकता। अतएव ध्यान रखिये कि महावीर प्रभु अनार्य देश में विचरे और वहाँ अनार्य प्रभु पर बिगडे उसमें उन्हें प्रभुने बिगाड़े ऐसा नहीं कह सकते, प्रभु के कसूर से बिगडे ऐसा नहीं कह सकते।

बस इसी तरह अपने आपके विषय में सोचना चाहिए कि जगत तो बहुत अच्छा है लेकिन हमारी आत्मदशा बुरी है इसलिए हम बिगडते हैं।

हवा (मौसम) में फेरफार होने पर क्या सब लोग बीमार पड़ते हैं? नहीं जिनके शरीर कमजोर हों, जो ऐसे वक्त पर चालू आहार पूरा लेते हों अथवा भारी (गरिष्ठ) वस्तुएँ खाते हों उन पर हवा का बदलाव असर कर जाता है। तात्पर्य, मूलतः - मुख्यतया अपनी स्थिति ही बिगाड (विकार) के लिए जिम्मेदार है।

प्र० तो निमित्त क्या कारण नहीं है?

उ० कारण भले हो, परन्तु मनुष्य यदि बचना चाहे तो किस चीज पर नजर रखने से बचा जाता है? यह सोचिये। यदि अकेले निमित्त को ही दोष देता रहेगा और अपनी स्थिति नहीं सुधारेगा तो वह निमित्त के बिना भी बिगडेगा। खराब स्थिति से तात्पर्य खराब पेट (ओझरी) और पेटू स्वभाव के दुर्गुण के कारण ही वह बिगडता है। फिर हवा में फेरफार न होनेपर भी तो भी खा खा कर तबीयत बिगाडेगा। अतः निमित्त के कारण होने का इनकार नहीं है, इसी लिए तो बुरे निमित्तों से दूर ही रहने को कहा गया है परन्तु अपनी खराबी मुख्य कारण है, यह विचार प्रथम होना चाहिए। इसीलिए भूल में यह खराबी होने से तुच्छ निमित्तों से भडकना है। आत्मदशा के लिए भी यही बात है कि अपनी आत्मदशा की खराबी अच्छी तरह ध्यान में रहनी चाहिए। बडा दोषारोपण उसी पर होना चाहिए कि 'दुनिया बुरी नहीं है मैं ही खुद बुरा हूँ इसलिए बिगडता हूँ खराब बनता हूँ। निःसन्देह

यदि हम समझते हों कि 'हमने कुछ सुधार तो पाया है परन्तु ऐसी निर्बलता वाले हम हैं कि बुरा निमित्त मिलने पर हमारा सुधार ढँक जाता है, और हम ही खराबी खडी करते हैं।' तो यह समझ कर बुरे निमित्त से दूर ही दूर रहना चाहिये।

उदाहरण के तौरपर - आरोग्य विषयक नियम जान लिये। आरोग्य की तमन्ना हमें जागी। परन्तु प्रलोभनों से बचने जितना मनोबल नहीं है, तो ऐसे प्रलोभनों से दूर रहना ही बेहतर है। ऐसा व्रत - नियम ही ले रखना कि 'मेरे इस वस्तुका त्याग है।' अब यदि यह नियम साल भर या महिने भर के लिए न बन सके तो आखिर आज के दिन के लिए ही, अथवा सामने उपस्थित प्रसंगभर के लिए नियम। इस तरह प्रलोभन से बचा जाय तो निर्बल मन फँसे नहीं।

ऐसा ही सदाचार ब्रह्मचर्य की वृत्ति-को दृढ रखने के लिए भी समझना। हम कोई स्थूलभद्र के समान सुदृढ मनोबलवाले नहीं हैं। यह बात अपने आप के बारे में समझ सकते हैं। सदाचार अच्छा लगता है, ब्रह्मचर्य अच्छा लगता है फिर भी मनोबल इतना सशक्त नहीं है कि 'प्रलोभक परिस्थिति में आँखे ही ऊंची न हों और सौंदर्य आदि का लेशमात्र विचार तक न उठे।' अपनी इस तरह की निर्बल मनवाली आत्मदशा को ध्यान में रखकर स्त्रीदर्शन, स्त्रीके विचार, मोहक श्रवण या मोहक पठन से अलग ही रहना चाहिए। हमारी वृत्ति भले ही बुरी न हो परन्तु उसके भरोसे प्रलोभक परिस्थिति में अपने आपको नहीं डालना चाहिए, क्यों कि वृत्ति की आत्मदशा शुभ होते हुए भी मनोबल की आत्मदशा इतनी अच्छी नहीं है अतः उसे ऐसी परिस्थिती देना ही नहीं।

### मनोबल कैसे बढ़ाया जाय ?

मनोबल की आत्मदशा सुधारने का यह भी एक उपाय है कि बुरे संयोगों और प्रलोभनकारी निमित्तों से दूर ही दूर रहे जिससे अच्छी विचारसरणी जारी रहे और कुसंस्कार मिटते जाएँ। बुरे संयोगों और प्रलोभनकारी निमित्तों से दूर ही दूर रहे जिससे अच्छी विचारसरणी जारी रहे और कुसंस्कार मिटते जाएँ। बुरे संयोगों और निमित्तों में रहने से तो निर्बल मन के कारण अशुभ विचार आया करते हैं और उसके फलस्वरूप मन अधिक निर्बल बनता जाता है। अतः यहाँ बुरे निमित्त में रहकर अच्छे बने रहने का प्रयोग नहीं करना चाहिए, और अच्छे निमित्तों का खूब सेवन करना आवश्यक है, और इस तरह विचारसरणी अच्छी की, अच्छी रखते रहें, तो मनोबल बढ़ता जाय, मन की आत्मदशा सुधरती जाय।

### चंडसोम क्रोधित क्यों ?

बात यह है कि बिगडने सुधारने में हमारी आत्मदशा बहुत जिम्मेदार है। बेचारे

चंडसोम की आत्मदशा ही ईर्ष्यापूर्ण है, अतः अपनी रुपवती पत्नी सुशील होते हुए भी, गाँव के युवकों के उसे घूर घूर कर देखने से चंडसोम उस पर-पत्नी पर क्रुद्ध होता है। पत्नी का कोई अपराध ? रुपवती होना गुनाह गिना जाय ? तो वह जब पानी भरने, कुछ काम करने बाहर जाए तो कामी मनुष्य उसे घूर कर देखें, क्या उसमें उसका कसूर माना जाए ? नहीं तो भी चंडसोम किसके कसूर से उसपर क्रोधित होता है ? युवक लोग कुटिल है तो उन पर संताप हो भी सही परन्तु पत्नी पर संतप्त होने का कोई कारण ? कहना ही होगा कि इसमें तो चंडसोम की आत्मदशा ही कारणभूत है। अपना विषैला-जहरीला स्वभाव ही उसे जला रहा है।

## १८. कुपुरुष के चार लक्षण

यहाँ कुवलयमालाकार कहते हैं -

‘अस्थानऽभिनिवेशो, ईसा तह मच्छरं गुणसमिद्धे ।  
अत्ताणंमि पसंसा, कुपुरिसमग्गो फुडो एसो ॥

अर्थात् (१) अस्थाने अभिनिवेश - दुराग्रह - हठाग्रह (२) ईर्ष्या (३), गुणसमृद्ध पुरुष के प्रति मत्सर और (४) आत्मश्लाघा - यह स्पष्ट कुपुरुष का मार्ग है।  
दुर्जन (बुरे आदमी) के ये चार लक्षण हैं। फिर इनमें से चाहे एक भी हो तो वह कुपुरुषता - दुर्जनता है; सत्पुरुषता - सज्जनता नहीं।

### (१) अभिनिवेश

पहला है अस्थाने अभिनिवेश ! अर्थात् जहाँ जिद करने जैसा न हो पकड़े रहना योग्य न हो, हठाग्रह करने योग्य न हो वहाँ जिद पकड़ हठाग्रह रखना कुपुरुषता है।

(i) कई ऐसे हठीले गुरुजन - कुटुंब के मुखिया-होते हैं जौँ घर बार चलाने में छोटी छोटी बात की जिद पकड़ कर सारे परिवार को डाँट-डपट करने लगते हैं और फलतः वें सब कुटुंबियों के अप्रिय बन जाते हैं। सचमुच तो वहाँ साधारण

बात में एक बार उलाहना दे तो चार बार जाने देना चाहिए । फिर कभी योग्य अवसर दिखाई दे तब शांति से समझाया जाय । परन्तु ऐसा बन नहीं पाता इसलिए डॉट-डपट चालू रहती है जिससे वह गुरुजन परिवार की सद्भावना खो देता है ! यह अस्थाने (अयोग्य अवसर पर) अभिनिवेश के कारण होता है ।

(ii) कुछ लोगों को ऐसी बुरी आदत होती है कि बातचीत के दौरान किसी ऐसी महत्वहीन बात पर जिद करेंगे कि फिर उस बात को घिसा ही करेंगे । यह अस्थान अभिनिवेश है । इससे वे औरों का - सामनेवालों का ऐतराज-नाराजगी पैदा करते हैं । परन्तु ऐसे मत्ताग्रहियों को इसकी परवाह नहीं होती । वे तो अपने मन में होशियारी समझते हैं कि मैं सामने वाले को कैसा बढिया गले उतार रहा हूँ ।' अरे भाई पर, यह तो देख कि वह तेरी बात को दिलचस्पी से सुनता भी है या नहीं? उसके चेहरे पर प्रसन्नता दिखाई देती है ? या मुँह गंभीर रखता है ? वह तेरे साथ फिर से बातचीत - विचार विनिमय करना चाहता है ? शांति से बात करने बैठता है ?" नहीं, यह कुछ नहीं देखना है, अपने ही मत्ताग्रह में चलते रहना है ।

(iii) इस तरह, अस्थाने अभिनिवेश से तात्पर्य जिस बात-वस्तु पर हमारा अधिकार न हो, जो वस्तु ज्ञानिगम्य हो, शास्त्र अलग ढंग से कहता-करता हो वहाँ अपनी कल्पना के आधार पर और ही अनुमान कर के उसकी हठ पकड़ना - यह अस्थान अभिनिवेश है । मालिक की आमदनी बहुत हो, लेकिन नौकर को समझ रखना चाहिए कि मैं अपने वेतन का ही हकदार हूँ इसमें ऐसी जिद नहीं की जा सकती कि 'मालिक की कमाई बहुत है तो मुझे ज्यादा क्यों नहीं देते ?

इस तरह 'जीव मोक्ष में जाते हैं फिर भी संसार कभी क्यों खाली होनेवाला ही नहीं है । यह बात ज्ञानिगम्य है। यहाँ ऐसी जिद की जाय कि 'पीप में से दाने निकालते निकालते कभी तो पीप खाली होता ही है न ? इसी तरह संसार खाली कैसे नहीं होगा ? तो ऐसी जिद गलत है । भाई ! यह तो ज्ञानगम्य है कि खाली नहीं ही होगा । क्यों जिद करते हो ? जो बात अपरिमित भूतकाल में नहीं हुई वह अब परिमित भविष्यकाल में कैसे होगी ? काल की और मोक्ष में जाने की आदि (प्रारंभ) है ? नहीं, यह अनादि से चला आता है । तो ऐसे अपार जिस का ओर छोर नहीं ऐसे भूतकाल में खाली नहीं हुआ इस से कुछ सूचित होता है या नहीं ? यही सूचित करता है कि 'जीव इतने सारे अनंतानंत हैं कि उस अपरिमित काल को भी मात कर देते हैं अतः संसार कभी खाली नहीं होगा ।

फिर भी यदि यह बात बुद्धि में न उतरे तो इसे ज्ञानिगम्य, 'सर्वज्ञदृष्ट' 'सर्वज्ञकथित' समझ कर 'संसार रिक्त होना ही चाहिए, ऐसा अभिनिवेश करना

छोड़ दो, जिद मत करो ।

### भवितव्यता का रहस्य

(iv) जीव का मोक्ष अमुक वक्त पर नियत-निश्चित है । ऐसा ज्ञानी सर्वज्ञ ने ज्ञान में पहले से देखा है । अर्थात् ऐसी ही नियति-भवितव्यता ज्ञानी ने देखी है, तो भी उन्होंने ही फिर मोक्ष के लिए धर्म-पुरुषार्थ करने को फर्माया है । कहा है, 'पुरुषार्थ जितना प्रबल रखोगे उतने जल्दी मोक्ष में जाओगे । पुरुषार्थ में पिछड़ कर प्रमाद में पड़ जाओगे तो संसार में अधिक भटकोगे ।' ऐसा कहा है न ? क्यों भाई ! उन्हें ऐसा कहने की क्या आवश्यकता ? वे तो जानते ही हैं कि यह अमुक काल में ही मोक्ष में जानेवाला है । तब क्या प्रबल धर्म-पुरुषार्थ करने से जल्दी मोक्ष में जाएगा ?

फिर भी इसका उपदेश क्यों दिया ? महावीर प्रभु क्यों बारबार गौतम स्वामी महाराज से कहते थे कि "समयं गोयम । मा पमायए, -हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न करना ।" क्या भगवान् नहीं जानते कि 'यह गौतम इस भव के अंत में निश्चय मोक्ष में जानेवाला है ?' अवश्य जानते हैं, फिर भी जब वे यह अपेक्षा रखते हैं कि गौतम प्रमाद न करे, और तदनुसार कहते हैं तब उसके पीछे कोई तो रहस्य होना ही चाहिए न ?

रहस्य यही है कि ज्ञानी इस भव के अंत में गौतम का मोक्ष जो निश्चित देखते हैं, सो अपने उपदेश से और गौतम के अप्रमाद के पुरुषार्थ से ही मोक्ष होना देखते हैं ।

**कर्म का बंध जैसे प्रमाद से होता है वैसे क्षय अप्रमाद रखे तभी होता है ।** मोक्ष अर्थात् सर्व-कर्म-क्षय, यह अप्रमाद से ही होता है, और अप्रमाद पुरुषार्थ से साध्य है । क्योंकि जीवको प्रमाद का अनन्त अभ्यास है । अतः जीव चाहकर - जान बूझ कर - अप्रमाद रखे तो ही हो सकता है । अपने प्रयत्न के बिना भवितव्यता ही अप्रमाद नहीं रखवा सकती, इसलिए ज्ञानी ऐसे प्रयत्न का उपदेश देते हैं ।

**मोक्ष निश्चित होने की बात में पुरुषार्थ-प्रयत्न करने की बात गर्भित - समाविष्ट है ।**

### मोक्ष-मार्ग का उपदेश क्यों दिया ?

इसी हेतु से सच्चा मोक्षमार्ग बताने का ज्ञानियों का उपदेश है, नहीं तो वे किस लिए बताएँ ? लेकिन ऐसा उपदेश इस अपेक्षा से है कि 'सच्चा मोक्षमार्ग न जानने के कारण जीव अज्ञान में भटकते हैं, असत् पुरुषार्थ करते हैं, तथा संसार में भ्रमण करते रह कर मोक्ष नहीं पा सकते ।' 'यदि उन्हें यह बताया जाय तो वे इसका पुरुषार्थ करें, और कर्म बन्धन से बचकर कर्म का क्षय कर के मोक्ष में जाएँ ।'



यदि यह अपेक्षा न हो तो प्रभु के यथार्थ मोक्ष-मार्ग बताने का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन समझो कि मोक्ष-मार्ग के उपदेश के पीछे जीवों को उसका पुरुषार्थ करनेवाला बनाने की अपेक्षा है।

**भावी निश्चित है फिर भी पुरुषार्थ का उपदेश :-**

इसीलिए तो ज्ञानी स्वयं जीवों का निश्चित समयपर मोक्ष जानते हुए भी कभी ऐसा नहीं कहते कि 'तुम्हारे निश्चित समय पर ही मोक्ष होने की भवितव्यता है। अतः पुरुषार्थ करना व्यर्थ है।' नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा कभी नहीं कहते। अरे ! यह देखो कि कहीं कभी एकाध बार किसी से मोक्ष प्राप्ति का निश्चित समय कहे तो भी उसे पुरुषार्थ का उपदेश तो अवश्य देते हैं। गौतम स्वामी को खेद होता था कि 'अर्थ ! तो मुझे केवलज्ञान नहीं ?, मेरा मोक्ष नहीं ?' तब भगवान ने कहा 'गौतम ! दुःख न करो। इसी भव के अन्त में तेरा मोक्ष है। हम दोनों समान बनेंगे।' ऐसा कहनेवाले प्रभु पुनः उनसे कहते हैं 'समयं गोयम ! मा पमायए।' अर्थात् पुरुषार्थ तो जारी रखने को ही कहते हैं। ऐसे किसी एकाध को नियतभावी बता दे यह अलग बात है, फिर भी सर्वसामान्य उपदेश तो मोक्षमार्ग के ज्वलन्त पुरुषार्थ का ही देते हैं। पर, असत्पुरुषार्थ किया करने का या निष्क्रिय बनकर बैठे रहने और निश्चित भावी पर अर्थात् भवितव्यता पर आधार रखने का उपदेश नहीं देते। कारण एक ही कि वह निश्चित भावी इस सत्पुरुषार्थ से ही होने की बात जानते हैं।

**अकेली भवितव्यता कारण नहीं है**

तात्पर्य यह कि ज्ञानियों का सत्पुरुषार्थ करने का खूब उपदेश होता है, इससे सूचित होता है कि 'अकेली भवितव्यता कारणभूत होती नहीं और वह अकेली कुछ कर भी नहीं सकती। वह तो काल, स्वभाव, पुरुषार्थ और शुभकर्म-प्रेरित अच्छे निमित्त-कारणों को साथ लेकर ही काम करती है। अतः इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि 'जैसी भवितव्यता होगी वैसा होगा।' अथवा 'ज्ञानी ने देखा वैसा होगा।' क्योंकि ज्ञानी ने तो यह भी देखा है कि 'पुरुषार्थ करने से ही मोक्ष होगा।'

**पुरुषार्थ क्यों वैसे ही न हो जाय ?:-**

प्र० ज्ञानियों ने देखा होगा तब पुरुषार्थ भी हो ही जाए न ? अपने मन से चाह कर पुरुषार्थ किसलिए करना ?

उ० 'पुरुषार्थ' वस्तु को पहचानने में ही भूल हुई। पुरुषार्थ ऐसे ही (अनायास) हो जाय वैसी चीज नहीं है। पुरुषार्थ यों ही हो जाता हो और चाहकर न करना

पड़ता हो तो ज्ञानी ने उसका उपदेश क्यों दिया ? बिना उपदेश के क्या पुरुषार्थ उनके देखे मुताबिक न हो जाय ? नहीं, पुरुषार्थ तो चाह कर करने से ही होता है ।

ज्ञानी ने स्वयं देखने के अतिरिक्त पुरुषार्थ करने का उपदेश भी दिया है, वह सूचित करता है कि यह पुरुषार्थ वैसे ही-अपने आप होनेवाली वस्तु नहीं है । परन्तु चाहकर करने ही वस्तु है । अतः 'ज्ञानी देखे अनुसार, भवितव्यता जैसी होगी वैसा हो ही जाएगा' ऐसा ऐकान्तिक अभिनिवेश-दुराग्रह रखने की जरूरत नहीं है । वह अस्थान-अभिनिवेश है । अस्थान-अभिनिवेश रखना कुपुरुष का मार्ग है । सज्जन को तो ऐसे अभिनिवेशों का त्याग कर ज्ञानियों के अनुभव और उपदेश का अनुसरण करना चाहिए ।

## (२) ईर्ष्या

कुपुरुषता (दुर्जनता) का दूसरा लक्षण ईर्ष्या है ।

ईर्ष्या मनुष्य को अधम मनुष्य बनाती है। 'परंतु वह दूसरी ओर तप, जप, दया दान आदि करता हो तो?' 'तो क्या ?' ये गुण भले ही उत्तमता के घर के हों, किन्तु ईर्ष्या तो अधमता लाती ही है । और वह अधमता कोई खाली (निष्फल) नहीं जाती। वह अपना काम करती ही है । वह यहाँ भी दुःख देती है और परलोक में और भी भारी अनर्थ करती है। देखो-

यहाँ ईर्ष्याजन्य नुकसान कितने? ईर्ष्या के कारण यहाँ-

(i) खान-पानादि की अनुकूलता होते हुए भी जलन हुआ करती है, संताप रहा करता है और दूसरा चाहे कितना ही सुख हो पर यदि संताप रहे तो वही दुःख है ।

(ii) वह खाने-पीने से बने हुए खून को भी जलाती है, तपाती है और तपा हुआ खून आगे चलकर रोग पैदा करता है सो अलग ।

(iii) ईर्ष्या के मारे सामनेवाले के गुण सुकृत और धर्मसाधना के बावजूद अनुमोदना करना नहीं सूझता ! अतः यह लाभ भी नष्ट ।

(iv) उलटे ऐसे अच्छे व्यक्ति में भी कोई न कोई त्रुटि देखने को मन करता है; और उससे विषाक्त (जहरीले) संस्कार पड़ते हैं।

(v) ईर्ष्या सामनेवाले की निंदा भी करवाती है और निंदा करके स्वयं दुर्जनता अपने पर लेता है। और यदि वह निंदा उस व्यक्ति के कानों तक पहुँच जाए तो वह दुष्मन बनता है ! विरोधी बनता है और शायद मौका पड़ने पर इस निंदक

को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करे या सहायक न बने !

(vi) ईर्ष्या बहुत बुरी है; उसके विचार बहुत आया करते हैं, अतः सद्विचार करने का समय खा जाती है, देव गुरु धर्म की सेवा में चित्त नहीं लगने देती।

(vii) ईर्ष्या या निंदा करने वाले को यह शायद ही कभी लगे कि 'मैं यह बुरा करता हूँ, इससे मेरे कषाय को पोषण मिलता है।' उलटे वह मानेगा और कहेगा कि 'इसमें ईर्ष्या काहे की कहलाएगी ? निंदा काहे की ? यों तो मुझे उसके प्रति आदर है, लेकिन यह तो मैं तथ्य है सो कहता हूँ।' यह क्या है ? 'ईर्ष्या पर और माया कपट! और निंदा पर सत्यकथन की छाप।' ऐसे में सम्यक्त्व कहाँ रह सकता है ? यह माया-कषाय अनन्तानुबंधी प्रकार का बन कर सम्यक्त्व का नाश करता है ।

जरा सोचियेगा - ईर्ष्या से होनेवाली ये हानियाँ तो इहलोक (यहाँ) की, परन्तु परलोक की हानियाँ भी कितनी और कैसी कैसी?

**ईर्ष्या से परलोक में होनेवाले नुकसान :-**

(१) ईर्ष्या करनेवाला माया खेलता है - कपट रचता है फलतः स्त्री वेद नामक कर्म बाँधता है, तिर्यच गति भी बाँधता है, साथ ही ईर्ष्या अशुभ भाव है, इससे और भी कितने ही अशुभ कर्म बाँधते हैं, जैसे अशातावेदनीय, अपयशनाम कर्म, दौर्भाग्य नाम कर्म, अनादेय नामकर्म-अशुभ वर्ण-रस गंध-स्पर्श नामकर्म आदि आदि। इन सब का फल सोचिये - कि ये कर्म उदय में आकर क्या क्या फल देंगे, कैसे कैसे दुःख देंगे?

(२) इतना ही नहीं बल्कि विशेष नुकसान तो यह कि ईर्ष्या के कारण जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का बंध होता है, अर्थात् कुसंस्कार पैदा होते हैं, वे पुनः भवांतर में उदय पाकर जीव को पापी बनाते हैं। पापों का सेवन कराते हैं ! तामसी कृत्य करवाते हैं।

**ईर्ष्यालु कुन्तला रानी :-**

जानते हो न उस कुन्तला रानी को। वह अपनी सौत रानी से उसकी जिनभक्ति के ठाठ के विषय में ईर्ष्या करती रही, तो मरकर कुतिया बनी; और ऐसा होने के बाद भी उस सौत रानी के प्रति ईर्ष्या-वश भौंकती रहने लगी। यह तो अच्छा हुआ कि वह सौत रानी भली थी, सो ज्ञानी के मिलने पर दुःख से पूछने लगी कि 'हे भगवान ! वह बेचारी मेरी बहन-रानी जल्दी मर गयी, सो मरकर कहाँ गयी ?' तब ज्ञानीने उसे राजकिले के बाहर भौंकती हुई इस कुतिया का परिचय

दिया। और रानी ने जाकर बार बार उससे कहा 'बोध पाओ ! बोध पाओ! कुंतला!' इस तरह बार बार कहने पर कुतिया को जातिस्मरण (पूर्व जन्म का ज्ञान) हुआ; और वह बोध प्राप्त कर पाप का पश्चाताप करने लगी और अनशन कर के स्वर्ग में गयी। यह तो ऐसा निमित्त मिला तो उसके आलंबन से उबरी तर गयी। तिर्यच के भव मे भी ईर्ष्या को वोसिराया (त्याग दिया) उड़ा दिया और अपने-आप का उद्धार किया। परंतु ऐसा निमित्त कितनों को मिलता है ? मुश्किल से लाखों में एक निकले। अन्यथा ईर्ष्या से परलोक में मरना (दुःखी होना) है - दुःख तो भोगो ही, पाप भी करो। इसका परिणाम ?

(३) ये पाप और नये अशुभ कर्मों को पैदा करेंगे फलतः निम्न गति दुःख और पाप की परंपरा चलती रहेगी।

(४) तब परभव में उस दुर्गति दुःखों और पापों के रस के बीच धर्म तो कहाँ से सुझे? धर्म विभाग में से डिसमिस (खारिज)।

दूसरों का हित सहन नहीं होता, जलन होती है। दूसरे को आदर - सत्कार मिलता हो उसे देखकर दिल जलता है; हमें मिलनेवाला कोई दूसरा ले जाता है, यह देख कर उस से द्वेष - अरुचि होती है - यह सब ईर्ष्या है, असूया है, असहिष्णुता है। इस से होनेवाले उन सब नुकसानों के बारे में सोचेंगे तो ईर्ष्या जहरीली नागिन से भी भयानक मालूम होगी। मन को लगेगा कि ऐसी घातक ईर्ष्या करने के बजाय नागिन डस ले तो इतना सारा नुकसान नहीं होगा जितना ईर्ष्या से होता है।

**सिंह- गुफावासी मुनि :-**

ईर्ष्या तो इतनी भयंकर है कि ईर्ष्या के मारे कुछ किया जाय तो उसमें से और नये दोष तथा नये अहित खड़े होते हैं। सिंहगुफावासी मुनि को क्या हुआ था, जानते हो न ? गुरुने उनसे अधिक स्थूलभद्रमुनि की प्रशंसा की वह सहन नहीं हुई, ईर्ष्या हुई, तो गुरु की आज्ञा न होतें हुए भी स्थूलभद्र की नकल करने गये। पहुँच गये कोशा वेश्या की बहन उपकोशा के यहाँ चौमासा करने। लेकिन उनका क्या ऐसा सामर्थ्य था ? उपकोशा की सौन्दर्यमय काया को देख कर ढीलेढप हो गये ! अतः कामवासना भड़क उठी। निर्लज्ज हो कर वेश्या से भोग-विलास की याचना की। वह भी तो प्रबल श्राविका बनी हुई कोशा की बहन ठहरी। तिस पर आर्य देश की वेश्या; अतः समझती है कि साधुसन्त का यह काम नहीं हैं। इसलिए उसने धन की माँग की।

साधू ने कहा - 'मैं धन कहाँ से लाऊँ ?'

वेश्या ने कहा - 'जाओ, नेपाल का राजा नवागत संन्यासी को रत्नकंवल का

दान देता है सो ले आओ ।

बस, मुनि बीच चौमासे निकल पडे नेपाल देश को ! और राजा से रत्नकंबल लेकर खाली बाँस में डाल कर लौट पड़े । रास्ते के जंगल में लुटेरे मिले, पूछने लगे - 'क्या है पास में ?' उन्होंने झूठ बोला 'कुछ नहीं, यह खाली बाँस है ।'

लुटेरे भला छोड़ दे ? बाँस को जाँचने पर कंबल निकला । अब क्या हो ? मुनि घबराये - 'हाय ! यह तो धक्का व्यर्थ जा रहा है, कंबल भी जाता है और वेश्या भी नहीं मानेगी ।' अतः चोरों के पैरों पड़ कर सारी बात समझाकर गिड़गिड़ाते हुए प्रार्थना की 'कंबल मुझे दे दो । वरना वेश्या के न रीझने के कारण मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी ।' चोरों को एक संन्यासी के रूप में उन पर दया आयी और कंबल देकर छोड़ दिया ।

मुनि वेश्या के पास आये, हर्ष से कंबल देकर कहते हैं, 'ले यह रत्नकंबल बस! अब तो मौज करवाओगी न ?' सोचिये -

ईर्ष्या के कारण मुनि को कितने दोष :- गिनो, एक ईर्ष्या के पीछे उलटा ढंग अपनाने चले तो कितने दोषों में पड़ें ? (१) गुरुआज्ञा का उल्लंघन (भंग) (२) साधु के लिए अयोग्य वेश्या-स्थान में वास (३) कामवासना की भभक और भोग की इच्छा (४) वेश्या के आगे दीनता और बेशर्म माँग (५) चातुर्मास में बरसती बारिश में सफर, जिनाज्ञा-भंग तथा जीव-विराधना (६) राजा के पास से रत्नकंबल का परिग्रह स्वीकार किया (७) बाँस छिपाने की माया (कपट) (८) चोरों के सामने असत्य भाषण (९) चोरों से प्रार्थना (१०) वहाँ से छूटने का आनन्द और वेश्या का उपभोग प्राप्त होने की कल्पना से बेहद खुशी ।

कितने दोष पैदा किये ? फिर भी वेश्या की सज्जनता के कारण इतने से निपटा। वर्ना वेश्या-सेवन में चारित्र का विनाश ! आदि कितने ही अन्य भयंकर दोष उपस्थित होते ।

वेश्या समझदार थी कि उसने कंबल लेकर सीधे गटर में डाल दिया ।

मुनि कहते रहे - 'अरे अरे ! यह क्या कर रही है तू ? मैं कितनी कठिनाई से लाया और फिर कितना मूल्यवान है यह कंबल ? उसे तू नाली में डाल रही है ?'

**वेश्या के हित-वचन :-**

तब वेश्या बोली मुझ से कहते हैं, पर आप स्वयं क्या कर रहे हैं सो देखना है आपको ? कितनी मुश्किल से गुरु से प्राप्त यह चारित्र-रत्न और वह भी ऐसा

जिसका मूल्यांकन संभव नहीं ऐसा अमूल्य चारित्र । आप मेरी गटर के समान काया में उस की आहुति देने को तत्पर हुए हैं ? आपको शर्म नहीं आती ? रत्नकंबल की तो मुझे कीमत ही क्या है ? कीमत तो चारित्र की इतनी है जिसका हद नहीं। चारित्र-रत्न तो जनम-जनम (भवोभव) के जंजाल को नष्ट कर शाश्वत मोक्ष का साम्राज्य दिलाता है । संसार की दुःखद दुर्गतियों के भ्रमण मिटाता है । चारित्र को तो देवांगनाओं-अप्सराओं से धिरे हुए समकित्ती देव भी तरसते हैं । गुरु ने कितनी अपरंपार करुणा कर के आपको अनमोल चारित्र दिया, उसका नाश करने को तैयार हुए हैं आप ? किसके पीछे ? मेरे शरीर के पीछे ? क्या भरा है मेरे शरीर में ? हाड़-मांस-रक्त-मल-मूत्र के सिवा है भी कुछ अच्छा इसमें ? उसका भी आनन्द कितने समय तक ? अमरता है ? और इस चारित्र-नाश प्रतिज्ञा-भंग और काम-भोग के फल स्वरूप कहाँ जाना होगा ? इस के बारे में सोचा है ? क्या नरक की यातनाओं की जानकारी नहीं है ? आग सी दहकती हुई लोहे की पुतली का आलिंगन करने और परमाधामी देवों द्वारा होनेवाली काट-कूट, उदन-भेदन आदि सहने में वेदना कितनी ? और सो भी कितने वर्षों तक ? अतः समझ जाइये। महामूल्यवान चारित्र का नाश न कीजिये ।

मुनि सुनकर ठंडे हो गये; अपनी दुर्दशापर आँखों में आँसू आ गये । पश्चात्ताप का पार न रहा । वेश्या से माफी माँगते हैं । और सीधे गुरु के पास पहुँच कर दोष विषयक आलोचना-प्रायश्चित्त करते हैं ।

ईर्ष्या की असली नींव पर कैसा करुण नाटक हो गया । यह तो एक ढंग हुआ। लोक जीवन का अवलोकन करें तो दूसरे कितने ही प्रकार के दुःखद प्रसंग देखने मिलेंगे । इसलिए कंठस्थ कर लो -

ईर्ष्या म कर जीवड़ा ईर्ष्या दारुण दोष ।  
इहलोक परलोके ए करे, केइ अनर्थना पोष । ई०  
ईर्ष्या प्रेर्यो जीव वळी, करे अजुगतां कार्य,  
एवा दोष सेवे बहु बने आर्य अनार्य, ई०

कुपुरुषता का यह दूसरा लक्षण है । अब तीसरे लक्षण की बात ।

### (३) मात्सर्य

कुमानव (दुर्जन) का तीसरा लक्षण है 'गुण समृद्ध पुरुष के प्रति मात्सर्य।' मात्सर्य भी मानव को कुमानव सिद्ध करता है। मात्सर्य ईर्ष्या से मिलता जुलता दोष है। परन्तु अन्तर यह है कि

**ईर्ष्या में असहिष्णुता का जोर है जब कि मात्सर्य में हृदय के भीतर जहर बरसता है।**

कुमानव अपने आप में दोषों को भरे रखना चाहता है अतः बेचारा औरों के गुण कहाँ से सह सकेगा ? उसे तो उस गुणवान् के प्रति जहर ही बरसेगा। कृपण मनुष्य क्या कभी दानवीर को मीठी निगाह से देख सकता है?

**कृपण (कंजूस) की जलन (संताप)**

मम्मण जैसा कोई व्यक्ति एक दिन घर आकर दरिद्र की तरह निराश होकर बैठ गया। उसकी पत्नीने पूछा, 'ऐसे उदास क्यों हो ? क्या हुआ ? चलो खाना खा लो !'

वह बोला, 'आज खाना नहीं भाएगा।'

स्त्री ने पूछा 'लेकिन बात क्या है? तबीयत ठीक नहीं है ? - बिगड़ गयी है ?'

कृपण ने कहा, 'तबीयत बिगड़े नहीं तो और क्या हो ?'

'क्यों, काहे से ? क्या हुआ ?'

कंजूस बोला-'देखो न वह एक धनिक कुछ ज्यादा कमा गया होगा तो रूपये उडाने लगा है। पट्टा लोगों को कैसे मुफ्त दानमें यों ही पैसे दे देता है। हाय मां अपने से यह कैसे देखा जाय? यह देख कर मेरी तो तबीयत ही बिगड़ गयी, खाने की रूचि ही उड़ गयी है।'

यह क्या है? गुणवान् के गुण पर मात्सर्य, खार, जहर बरसता है। उसे इससे कुछ लेना-देना है? कुछ नहीं ! पैसे लेनेवाले दूसरे, देनेवाला भी दूसरा। देनेवाला खुद कमा कर देने लगा है, इसमें इस जलनेवाले का क्या गया ? लेकिन कहावत है न कि 'खर्चनेवाले का खर्च होता है और नाई पेट कूटता है।' दावत देनेवाला उदार हो और चार के स्थान पर चौदह वानगी बनवाए, लोग चाव से खाते हों और खिलानेवाले की प्रशंसा करते हो लेकिन जलनेवाले (मत्सरी) व्यक्ति से यह सहा नहीं जाता। उसके मन में ज़हर बरसता रहता है। वह बकवास करता है - 'देख लिया बड़ा उदार ! उडाऊ है उडाऊ दावत में क्या दो चार - चीजों से

नहीं चल सकता ? न उसे कौन कहने जाय कि, 'अरे! पर तुम्हारा क्या गया यदि उसने बँहुतसी चीजें बनाई तो ?

नहीं, वह तो कहेगा, "मेरा कुछ जाए या न जाए इसका सवाल नहीं है। यह व्यर्थ खर्च हो रहा है सो असह्य है।" स्वयं कृपण है अतः उदारता देख नहीं सकता।

जैसी स्थिति इस कंजूस की वैसी झूठे, अनीतिमय, दुराचारी, छिछले (तुच्छ) पेट्टू, निंदक, चूगलखोर, घमंडी, लोभी आदि लोगों की दुर्दशा होती है। वे भी सत्यवादी प्रामाणिक, सदाचारी गंभीर तपस्वी, गुणग्राहक, मन्न, निर्लोभी आदि गुणसम्पन्न लोगों पर द्वेष (खार) रखनेवाले होते हैं।

**गुण पर खार क्यों ?**

प्र. गुण पर खार (द्वेष) रखने का क्या कारण ?

उ. कारण क्या? एक तो आदत पड़ गयी। और दूसरा, अभिमान मनुष्य को मारता है। मन में होता है, "मैं सच नहीं बोलता और यह फिर काहे का सत्यवादी बनता है। हम अनीति चलाते हैं और इसे नीति-नीति कूटनी है?" ऐसा लगता है जैसा इसके अपने अन्तस्तल में ही कोई इसे बुरा कह रहा है; तो सहा नहीं जाता अतः जैसे इसकी इच्छा है कि दुनिया में सच-वच, नीति वीति कुछ न हो, ताकि दूसरे भी मेरी अपनी पंक्ति में बने रहें। अहंत्व दूसरों की उच्चता को नहीं सह सकता। खुद को नीचा देखना पड़े ऐसी स्थिति अभिमान कैसे सहने देगा? **स्वदोष पर प्रेम होने से दूसरों के गुण पर खार-द्वेष होता है :-**

स्वयं के विषय में यह बहुत सोचने की बात है कि हम बहुत खानेवाले (पेट्टू) हों तो दूसरे के तप-त्याग देखकर हमें जलन होती न ? यदि हमें अपने पेट्टूपन पर उद्वेग होता हो तो त्यागी - तपस्वी को देखकर जलन नहीं हो सकती, आनन्द होगा कि 'वाह! यह कैसा भाग्यशाली है कि सुन्दर त्याग करता है, तप करता है। मैं अभागा खान-पान की मौज में पड़ा हूँ।' इस तरह अपने दोषों को देखकर दिल जलता हो, दोष बुरे लगते हों और गुण अच्छे लगते हों तो गुणवान् को देखकर मात्सर्य नहीं होगा, अनुमोदना होगी।

इससे सूचित होता है कि दोष रहते हुए भी यदि गुणवान् पर जहर नहीं बरसता लेकिन दोष से ग्लानि होती है तो समझ लो कि आत्मदशा इतनी सुधरी कही जाएगी। मोक्ष में जाने के अन्तिम पुद्गल-परावर्त काल में अनादि के सहजबल का हास हो जाता है, सो उसका एक लक्षण यह है कि 'अद्वेषो गुणवत्सु' गुणवान् पर द्वेष न हो। ऐसा कब हो सकता है।

दो बातें हैं - (9) एक तो स्वयं गुणवान् हैं और दूसरा गुणवान नजर आनेपर



उस पर मात्सर्य (२) दूसरे, स्वयं गुणवान् नहीं है और दूसरा गुणवान् है यह देखकर मात्सर्य होता है। दो किस कारण से ?

**गुणी को गुणी से द्वेष (खार) -**

पहला - गुणवान् को दूसरे गुणवान् पर खार-जैसे दानी को दानी पर, विद्वान् को विद्वान् पर, तपस्वी को तपस्वी पर, भक्त को दूसरे भक्त पर खार पैदा होने का कारण यह है कि खुद को गुणवान् के नाते सम्मान मिलता है सो अच्छा लगता है परन्तु फिर दूसरे को इसी नाते सम्मान मिले तो सहन नहीं होता, उसमें जैसे अपना अहं खंडित होता है ऐसा लगता है; अहंकार पीड़ा देता है। ऐसा थोथा - झूठा अहंत्व - अभिमान सताता हो तो दूसरे गुणवान् को कैसे सह जाए ? उस के प्रति प्रेम-प्रमोद कैसे रख सके ? वह तो खार (द्वेष) से जलता रहेगा।

**गुणी पर खार में गर्भित क्या है ?**

संसार की यह कैसी विचित्रता है कि जीवन में गुण आने के बावजूद दूसरे के गुण नहीं सहे जाते ? तब इसका अर्थ तो यह हुआ कि हमारी नजर के सामने कोई दोषी आ जाए तो कोई हर्ज नहीं ! पर गुणवान् आवे तो हर्ज है। अर्थात् उसका अपना अंधा अहं दूसरे दोषी को देखकर खुश रखता है। ऐसा क्यों ? कारण यह कि 'खुद उससे ऊँचा दिखाई देता है न ? बस इस बात की खुशी ! कैसा पागलपन है कि किसी के दोष देखकर दिल को शांति मिलती है कि, अहा ! ये सब मुझ से निम्न श्रेणी के हैं, दोषपूर्ण हैं, सो ठीक है।' तो अब सोचिये कि अन्य लोग दोष में डूबे हों उससे हर्षित करनेवाली अधमता उसे ऊँचा उठने देगी ? कितना अधम हृदय ? भावना का विश्लेषण कीजिये :-

**स्वयं गुणवान् होते हुए मात्सर्य के कारण दोष पर प्रेम :-**

हम अपनी भावनाओं का विश्लेषण नहीं करते उसके भीतर छिपे हुए विष की जाँच नहीं करते, इसलिए निष्ठुर बन कर फिर सकते हैं, इसकी जाँच करें तो चौंक उठे।

विद्वान् को दूसरे विद्वान् पर मात्सर्य होता है, वह खार रखता है। उसे क्या यह पता है कि इसका अर्थ तो यह हुआ कि इस भावना के भीतर यह गर्भित है कि

स्वयं ज्ञानवान् होते हुए भी दूसरे अज्ञानी को देखकर खुश रहता है कि 'हाँ, यह अनपढ़ रहा सो अच्छा हुआ जिससे मैं इससे ऊँचा मालूम होता हूँ।' यह कितना भयानक ज़हर है। जगत के जीव बेचारे अज्ञानता में तो अपना सर्वनाश कर ही रहे हैं, उसकी अज्ञान-दशा पर प्रीति हो इस का अर्थ तो यही न कि उसके

निकंदन सर्वनाश पर खुशी होती है ?

### तपस्वी को मात्सर्य

इसी तरह यदि एक तपस्वी दूसरे तपस्वी पर खार (द्वेष) रखे तो स्वभावतः वह तपोहीन, पेटू (खा खा करनेवाले) जीव के देख कर खुश होगा। मतलब ? तब पेटूपन के कारण भयंकर दुर्गति में वह भटकने लगे उस पर प्रसन्नता ही हुई न ? यदि उससे नाराजगी हो तो उसके कारणभूत पेटूपन के दुर्गुण पर नाखुशी नहीं होगी ? और यह नाखुशी हो तो भला ऐसे दोष वाले पर दया न आएगी ? कि 'बेचारी खाने में ही डूबकर भटकता रहेगा ? यदि ऐसा होता तब तो उक्त दोषरहित तपस्वी को देख कर आमोद - प्रमोद ही होता न कि 'वाह ! यह कैसा भाग्यवान् कि पेटूपन के दोष से बचा है।' परन्तु यदि तपस्या-गुणवाले का दूसरे तपस्वी पर प्रमोद होने के स्थान पर द्वेष बरसता है तो यही गर्भित भाव आ खड़ा होता है कि 'दूसरा तपस्वी न हो तो अच्छा।' उसमें फिर दोषवाले के प्रति आनंद है अर्थात् दूसरे के दोष से खुशी। फिर भले ही वह दोषवाला पाप-बंध करे और भविष्य में अत्यन्त दुःखी हो ? तात्पर्य - गुणवान के प्रति मात्सर्य में अत्यन्त दुःखी हो। तात्पर्य - गुणवान के प्रति मात्सर्य में कैसा छिपा हुआ जहर है ?

### दानी में मात्सर्य

इसी तरह उदार दानी स्वयं यदि दूसरे उदार दानी को देख कर उसके प्रति खार (द्वेष) रखता हो, तो उसमें भी यही गर्भित है न कि वह दूसरे को कृपण धन की मूर्छावाला देख कर प्रसन्न होता है। अर्थात् दूसरे की धनमूर्छा पर खुश! अपने में उदारता गुण तो आया परन्तु वह कैसा विषैला बना कि दूसरे के कृपणता-दोष पर प्रसन्न बनाता है ! ऐसा होता है न कि स्वयं ने एक बड़े सेठ के तौर पर फंड में सौ रूपये लिखाये किन्तु किसी छोटे व्यक्ति ने ढाई सौ लिखाये ऐसा सुनते ही दिल को दुःख होता है ! 'यह फिर कौन-सा बड़ा आ गया कि मुझसे अधिक देता है? इस तरह उस पर खार बरसता है। इसका अर्थ यह कि दूसरे लोग कृपणता रखें यह बात इसे अच्छी लगती है।

### गुणी पर मात्सर्य किस कारण ?

ऐसा गुणी को दूसरा गुणी पर खार बरसना तो कई जगहों पर पाया जाता है। यह सब कौन करवाता है? भयानक अहंत्व और मन की आकांक्षा। 'बस मैं ही विशेष (बढाचढा) हूँ। मुझ से बढकर कौन है ?' यह अहंता और 'मुझे ही एक अच्छे गुणवान के तौर पर आदर मिलना चाहिए।' ऐसी मान पाने की आकांक्षा। जीव को ये दोनों मारती हैं। अतः यह सोचना चाहिए कि अहंता और मानाकांक्षा

कितनी भयंकर हैं कि दूसरे गुणवान् पर द्वेष करवा कर दूसरे दोषपूर्ण बने रहें इस बात पर गर्भित रूप से खुशी मनवाती हैं। अर्थात् बाद में वे बेचारे दोषपूर्ण जीव भले ही दुर्गति के दुःख भोगते रहे; उन पर कोई करुणा नहीं लेकिन मानो खुशी या लापरवाही है।

**अहंत्व और मानाकांक्षा से दूसरों के दोष पर प्रसन्नता :-**

ऐसा घातक - निर्दय अहंत्व और वैसी मानाकांक्षा तुम में नहीं है न ? कई गुण तो धारण किए पर साथ में अहंत्व - मानाकांक्षा नहीं रखते हो न? यदि रख रखी है तो तो समझ लो कि इस कारण तुम्हें दुनिया को दोषपूर्ण देखने में तसल्ली होगी। उस के दोषों पर एवं दोषों से उत्पन्न भयानक दुःखों पर तुम्हारे कलेजे को ठंडक मिलेगी। **कसाई स्वार्थ के लिए पशु को मारता है परन्तु उससे पशु को जो दुःख होता है उस पर क्या खुश होता है ?**

तो इस तरह यहाँ स्वयं आदर पाने के लिए - स्वयं अच्छे दिखने के लिए दूसरों के दोष पर खुश होना ? कैसा कलियुग ?

गुण धारण करते हुए भी गुण पर प्रेम नहीं !

तो अब यह सोचे कि 'खुद गुणवान् होते हुए भी यदि दूसरे गुणवान पर मात्सर्य रखे तो उसके पास गुण होते हुए भी क्या सचमुच उसे गुण अच्छा लगा? गुण अच्छा लगना तो उसे कहते हैं कि दुनिया में जहाँ कहीं भी गुण हो, वह अच्छा लगे, उसे देख कर प्रसन्नता प्रमोद हो। यहाँ तो उलटे औरों के गुण पर खार बरसता है, तो गुण अच्छा कहाँ लगा ? और यदि गुण अच्छा नहीं लगे तो खुद ने सचमुच गुण धारण किया है कैसे कहलाएगा ? वस्तुतः वह गुण नहीं बल्कि अहंकार - रक्षा और मानाकांक्षा के पोषण का ही एक साधन रख छोड़ा है।

**प्रभु-भक्ति करनेवाला भी डूबता कहाँ पर है ?**

देखते हैं न कि - एक गायक (गवैया) प्रभु भक्ति करता हो, पर दूसरे प्रभु - भक्ति करनेवाले गायक पर खार खाता है। ऐसे ही एक संगीत - मंडल दूसरे संगीत मंडल पर! यह क्या है! गुणी को गुणी पर मात्सर्य। इस की गहराई में जाँच करो कि मनमें प्रधानतः क्या बैठा है ? मानाकांक्षा और अहंकार ही न ? 'दूसरा संगीतकार या संगीत-मंडल हो तो हमें इतना सम्मान नहीं मिलेगा। भक्ति में हम इतने ऊँचे नहीं माने जाएँगे। मन में यह बैठा हुआ हो तो वहाँ फिर संगीत भक्ति का गुण तो उक्त मानाकांक्षा को पोसने का एक साधन-मात्र हुआ, न कि प्रभु पर निछावर करनेवाले भक्ति गुण के रूप में गुण। गुण रूप में गुण होता तो अन्यत्र भी उसे देखकर खुश होता।

नहीं, वहाँ तो मन ऐसे प्रसन्न रहता है कि 'संगीत-भक्ति करनेवालों में या हमलोग अकेले हों और दूसरे इस गुण से रहित हों।' अर्थात् दूसरे में इस गुण के अभाव पर प्रीति हुई। दोष पर प्रीति (प्रेम)। कितना खतरनाक? यदि स्वयं में ऐसा भक्ति गुण न होता तो स्वयं को अभागा-बदकिस्मत मानकर दूसरे के भक्ति-गुण पर प्रीति होती तो ठीक, लेकिन यह तो ऐसा हुआ कि खुद भक्ति-गुण प्राप्त करके ही उसपर से प्रीति दूर करदी !! अतः कहिये कि

**अहंकार और मानाकांक्षा इतने अधिक खतरनाक हैं कि वे गुण-प्राप्ति होने पर गुणों पर से प्रीति को हटा देते हैं। और दूसरे में दोषों के अस्तित्व से संतोष दिलाते हैं।**

गुणी के प्रति मात्सर्य में ऐसे अहंकार और मानाकांक्षा का छिपा हुआ जहर पड़ा है।

यह तो हुई गुणवान् को गुणवान् के प्रति मात्सर्य की बात।

(२) अब दोषी को गुणी के प्रति मात्सर्य की बात। सो पहले कर आये हैं। उसमें भी अहंकार और मानाकांक्षा सताती है। 'मैं कृपण के रूप में जाना जाऊँ और यह फिर दानी के रूप में क्यों प्रसिद्ध हो जाय?' अतः उस पर मात्सर्य होता है। इस तरह अनपढ़ को पढेलिखे पर खार। (अशिक्षित को सुशिक्षित पर द्वेष) इसमें धन, अज्ञान आदि पर इतना अधिक मोह है कि दूसरे के धन-व्यय, ज्ञान-प्राप्ति आदि भी सहन नहीं कर सकता। आत्मा की यह दुर्दशा कनिष्ठ है कि गुण पर जहर बरसता है और अपने दोष पर प्रीति होती है। कुपुरुष-दुर्जन का यह तीसरा लक्षण है-अभिनिवेश-ईर्ष्या-मात्सर्य ये तीन लक्षण दुर्जन-कुमानव के।

#### (४) स्वात्म-प्रशंसा (आत्मश्लाघा)

मानव को कुमानव बनानेवाली चौथी वस्तु है - स्वात्म-प्रशंसा। यह बात जल्दी दिमाग में उतर नहीं सकेगी कि 'हम अपने आप की प्रशंसा करते हों उस समय हम सुमानव मितकर कुमानव बन जाते हैं।' बताओ, क्या कभी आप बड़ाई करते समय ऐसा खयाल आया है? मन को कभी ऐसे लगा कि 'अरे, मैं अपनेआप ही अपने गुण गाता हूँ, सो सचमुच एक अच्छे मानव के तौर पर मिट जाता हूँ?' नहीं, आया हो तो तुरन्त पश्चात्ताप हो और आत्मश्लाघा करते करते रुक जायँ, और जो श्लाघा की है उसका असर मिटाने के लिए हमारे किसी जबरदस्त दोष पर लेक्चर शुरू हो जाय। परन्तु यह बात ही कहाँ है? अपने गुणगान की

क्रिया के महादुर्गुण के रूप में भासित होने की बात दूर रही उलटे उसमें बुद्धिमानी मालूम होती है। 'मैं अपनी बड़ाई सामनेवाले को कैसी चतुराई से गले उतार रहा हूँ?' फलतः अपना बडप्पन हाँकने का मन में गर्व होता है। तब खेद या पश्चात्ताप होने की बात ही कहाँ रही ?

### आत्मश्लाघा बड़ा दोष क्यों है ?

क्या आत्मश्लाघा बहुत बुरी चीज है ? परन्तु अनुभवी ज्ञानियों का यह निर्णय है कि आत्मश्लाघा कुमानवता को पुष्ट करती है। उसके पीछे का हेतु है -

मनुष्य अपनी प्रशंसा कब करने बैठता है ?

(१) मन में अहंत्व, घमंड उमड़ता हो कि, "मैं कुछ हूँ।" तभी आत्म-प्रशंसा होती है।

(२) पहाड़ जैसे अपने दुर्गुणों की ओर आँखें बन्द करे, मानो यह कोई बड़ी खराबी नहीं है ऐसा लगता हो अर्थात् महादोषों की खराबी हृदय को चुभती न हो, उसकी शर्म न आती है तो ही आत्मश्लाघा की जाती है। अन्यथा कोई बड़े मजे से अपने गुण गाने कैसे बैठे ?

(३) भीतर भरपूर मानाकांक्षा भरी पडी हो जिससे हर कहीं मान पाने के लिए, अच्छा दिखने के लिए व्यर्थ तरसता हो तो ही आत्मश्लाघा होती है।

(४) फिर इस नान को इतना अधिक महत्वपूर्ण समझे कि चाहे बड़े देव-गुरु और महापुरुषों को मान मिला चाहे नहीं मिला, उनका यशोगान हुआ या नहीं हुआ, इस ओर उसकी उपेक्षा हो, लापरवाही हो। तभी तो उनका गुणानुवाद करने के बदले अपने गुण गाने बैठ जाए न ? देवाधिदेव तो महागुणगान योग्य है परन्तु उनका गुणानुवाद कितने समय होता है और अपना गुणानुवाद कितने समय तक ?

(५) मानाकांक्षा के पाप में स्वप्रशंसा करते समय यह भी देखा नहीं जाता कि "मैं यहाँ सामनेवाले किस व्यक्ति के आगे अपने गुण गा रहा हूँ ? किस के पास मान की इच्छा कर रहा हूँ ? कौन मुझे अच्छा माने इसकी अभिलाषा रख रहा हूँ ?" यदि ये माँ-बाप, गुरु या गुरुजन हों तो उन्हें "मैं अच्छा हूँ" यह मनवाने के बाद उनसे मेरे अवगुण सुधारने की शिक्षा कहाँ से मिलेगी ? और यदि मेरी प्रशंसा सुननेवाला यह कोई क्षुद्र व्यक्ति है तो ऐसे क्षुद्र को क्या अपना बनाऊँ ? फिर तो मुझे इस के दबाव में रहना पड़ेगा और यह किसी तुच्छ कार्य में घसीटेगा तो ?

(६) आत्म-श्लाघा में यह भी एक बड़ी त्रुटि है की गुण तो शायद हो तो साधारण

हो, लेकिन उसे बहुत मानने कि इच्छा होगी। और इस आप-बडाई को पोसने में गुण को आगे बढ़ाना एवं और भी गुण प्राप्त करना ही भूल जाएगा। फिर तो अच्छा भी कुछ किया जाएगा तो वह भी इस उद्देश्य से कि 'दूसरे लोग किस तरह मेरी प्रशंसा करें? कैसे मैं इसे इनकी जानकारी में लाऊँ? (प्रकट करूँ?)'

ऐसी ऐसी जो अनेक भयानक खराबियाँ हैं, उनका आत्मश्लाघा से पोषण होता है। अतः मनुष्य मानव मिट कर कुमानव बन जाता है।

चंडसोम कुमानवता के 'अस्थान-अमिनिवेश' और 'पत्नी-मात्सर्य' इन अपलक्षणों में डूबने के कारण सुशील पत्नी के प्रति बुरा सोच रहा है।



## १९. भाई-बहन का घात

**आगे चंडसोम का क्या होता है ?**

**विषय रंग से भवः यह कैसे कम हो ? :-**

अब बात यह होती है कि चंडसोम के गाँव के बाहर एक नट-मंडली आती है। उसका हरदत्त नामक मुख्य संचालक है। वह सारे गाँव को नाटक देखने का आमंत्रण देता है। अतः रात के पहले प्रहर में गाँव के लोग नाटक देखने चले। ऐसा देखने को किसका मन न हो? संसार के भूले-भटके जीव इन्द्रिय-विषयों के ऐसे रंगी और संगी बने हुए हैं कि स्वप्न में भी उनकी यही दौडधूप होती है, तो जगते वक्त का तो पूछना ही क्या? अनजाने में भी विषय-संग होने पर मन के रंग गाढ़ बनते हैं तो जानबूझकर विषय संग कर के मन के रंगों की भरपूर बाढ आने में क्या कमी रहे? आखिर संसार में जीव इसी कारण भटकता है न? यह सूचित करता है कि :-

**भव में भ्रमण करनेवाले ऐसे विषय-रंगों को कम करना हो तो वीतराग-प्रभु का स्वरूप एवं उनकी कल्याण-आज्ञा का विचार भरपूर मात्रा में सामने रखना होगा।**

साथ ही रंग चढ़ाने वाले विषय-संग (विषयासक्ति) को काटते रहना होगा। मन मार कर भी इसका भगीरथ पुरुषार्थ जगाने से ही विषय रंग कम होने लगेंगे।  
**आर्यों की कद्रदानी (गुणग्राहकता) :-**

सारा गाँव चला है नाटक देखने, क्योंकि मुफ्त मिल रहा है देखने को । तो क्या नाटक वाले मुफ्त में चला सकते हैं ?

वैसे तो मुफ्त अर्थात् बिना पैसों की गिनती के कुछ नहीं चल सकता । परन्तु वे जानते हैं कि अच्छा दिखाने के बाद इनाम माँगने निकलेंगे तो खासा मिल जाएगा । आर्य प्रजा की सहज-वृत्ति ऐसी है कि जो मिले उसकी कद्र करना, उसमें मुफ्त देखनेवाले कृपण भी होते हैं, लेकिन सभी ऐसे नहीं होते । अतः (कद्रदाँओं) कद्रदानों से काफी कुछ मिल जाता है । अस्तु ।

### चंडसोम विचार में :-

यहाँ जब गाँव के लोग देखने चलते हैं तो चंडसोम का भी देखने जाने को मन तो करता है लेकिन उसे, पत्नी से ईर्ष्या जो है ? वह सोच में पड़ जाता है कि 'इसे कैसे देखने ले जाया जाय ? क्यों कि वहाँ तो कई सारे जवान लोग आएँगे, इसलिए इस के और उन लोगों के आँखों के इशारे चला करेंगे । वह नाटक देखना तो एक ओर रह जाएगा और यह परस्पर आँखें मटकाने का नाटक चला करेगा । अतः पत्नी को लेकर जाना तो संभव ही नहीं । तब, देखने जाना भी है किंतु ऐसे इसे अकेली सूनी छोड़ कर भी में अकेला भी कैसे जाऊँ ? क्यों कि पीछे यहाँ किसी सधे हुए के साथ इसका तूफान चलेगा, इस तरह ईर्ष्या-वश गहरे सोच में पड़ गया, और गलत कल्पनाएँ करने लगा ।

ईर्ष्यालु को जीवनमें ऐसी ऐसी कितनी ही असार कल्पनाएँ और चिन्ताएँ चलती रहती हैं । अतः उसके पास कितनेही सुख-साधन क्यों न हों, फिर भी वह सुखी कहाँ से रह सकेगा ? निश्चिंतता, शांति-स्वस्थता का कैसे अनुभव करेगा ? इसीलिए कहा जाता है कि : **सुख-शांति चाहते हो तो झूठी कल्पनाओं और ईर्ष्या से बचो ।**

अन्यथा ईर्ष्या-असत्कल्पनाओं से खुद ही दुःखी होओगे, जीवनभर एक या दूसरी चिन्ता-संताप-अशांति चलती ही रहेगी ।

### चंडसोम नाटक देखने को :-

चंडसोम को व्यग्रता तो हुई परन्तु उसे फिर नाटक देखने की लालसा तो जोर मार ही रही है, अतः रास्ता निकालता है - अपनी बहन सोमा से कहता है, "बहन! मैं जा रहा हूँ नाटक देखने और तुम दोनों घर पर आराम करना ।" उसको ऐसा लगा कि 'बहन पत्नी की रक्षा करेगी इसलिए जाने में हर्ज नहीं है ?' वह उसके सपुर्द कर के चला गया ।

**बहन को जाना है :-**

यहाँ उसके जाने के बाद बहन को हुआ कि 'भाई तो खेल देखने चला गया और हम क्या घर में बन्द रहें ? हमें खेल नहीं देखना ?' वह भाभी से कहती है - 'अरी नंदिनी ! भाई तो देखने निकल पड़ा तो चल न, हम भी देखने चलें। जीने से देखना बेहतर, हमेशा ऐसा देखने का मौका कहाँ मिलता है ?'

नंदिनी ने कहा , "बहन ! तुम अपने भाई का स्वभाव नहीं जानती ? वे घर में बैठे रहने को कह कर गये हैं । अब यदि उन्हें पता लगे कि हम देखने गयीं, तो कितना क्लेश और उपद्रव मचाएँगे ?"

उसने उत्तर दिया, "लेकिन हम लोग पूरा होने के पहले लौट आएँगे ।"

नंदिनी ने कहा, "अरे! लेकिन यदि वे वहाँ देख लें तो ? अतः मैं तो नहीं आती। तुम्हें जाना हो तो तुम जानो ।

**परलोक भय से विषय रंग पर काट करना :-**

स्त्रियों के मन पर कितना अंकुश रहता है ! चाहे पुरुष के भय से ही हो शायद, लेकिन अच्छे मजेदार नाटक देखने की इच्छा छोड़ देती है, यह मन का निग्रह है। परलोक के भय से हम भी ऐसे कितने ही विषय-संग कम कर सकते हैं, विषय रंग खेलना बन्द कर सकते हैं ।

नंदिनी नहीं गयी, और सोमा तो चली नाटक देखने ।

अब इधर नाटक देखने गये हुए चंडसोम के साथ क्या अजीब बात होती है सो देखिये । ईर्ष्या, आशंका और कुकल्पनाओं के उपद्रव किस हद तक खतरनाक हो सकते हैं । चंडसोम नौटंकी देखने गया है वहाँ लोगों की भीड़ नौटंकी के सामने बैठ गयी है और दूसरे बाद में आनेवाले लोग चारों ओर घेर कर खड़े हो गये है। अतः चंडसोम घूमता फिरता इनमें कहीं खड़े रहने की जगह बना लेता है ।

**किसी स्त्री-पुरुष का बखेड़ा :-**

वहाँ होता यह है कि चंडसोम के आगे एक स्त्री है, और वहीं पासवाला कोई पुरुष उससे धीरे से कहता है, "हे सुंदरी ! क्या ही तेरा लावण्य और होशियारी है । तू तो मेरे मन में ऐसी बस गयी है कि मुझे तेरे सपने आते हैं, परन्तु आज तक मिलना नहीं हुआ था सो आज तू प्रत्यक्ष मिल गयी । तेरे सौभाग्यगुण रुपी ईंधन ने मेरी कामाग्नि को भडका दिया है, अब वह कैसे शान्त हो ?"

देखो दुनिया में काम के तुफान ! यह नाटक देखने आया है या यारी जोड़ने?



## जवानी दीवानी; और संयोग निकृष्ट :-

अतः जवानी में सिर पर प्रौढ़ों का दाक्षिण्य, भय, शर्म आवश्यक हैं। एकान्त में रहना, घूमना-फिरना नहीं होना चाहिए, ऐसे ललचाने वाले निमित्तों से दूर रहना चाहिए, और सत्संग, धर्मश्रवण-अध्ययन-मनन होना चाहिए। यह जवान यहाँ एक युवती के साथ अकेला पड़ा है इसलिए वह उसके साथ मंत्रणा करता है, उसे ललचाता है।

## लबरे को क्या कहें ?:-

वह स्त्री भी जवानी में है न ? तिस पर यह प्रलोभक सुयोग मिलता है। फिर वह भी क्यों उन्माद में न आ जाय ? अतः वह भी भटक तो जाती ही है, अतः ऐसा नहीं कहती कि, 'दुष्ट ! ऐसा अनुचित क्या बकता है ? क्या हम लोग कुत्ते-कुत्तियाँ हैं कि कुत्ता हर किसी कुतिया को देख कर उसकी ओर खिंच जाय, या कुतिया कुत्ते की ओर ढल पड़े उसी तरह हम लोग व्यभिचार में फिसल जाएँ ? खबरदार ! अगर फिर ऐसा कहा तो -

सामनेवाले बेईमान को वह न तो ऐसा कहती है, न उससे दूर जाकर बैठती है। बल्कि धीरे से उत्तर देती है, - 'मैं भी तुम्हारे मनोभाव जानती हूँ, परन्तु मेरा पति चंड है, वह यहीं कहीं हो तो मेरे तो बारह बजा देगा (मुसीबत कर देगा।)

## चंडसोम को जिज्ञासा होती है :-

अब देखो ! चंडसोम इन दोनों की पीठ पीछे खड़ा है। वह यों भी पत्नी के प्रति शककी तो था ही, यहाँ आया तब भी उस के दिल में अंदेशा तो था ही, कि "सूने पड़े गाँव में से किसी युवक के साथ वह कोई कबाडा-दुष्कर्म (घोटाला) न कर बैठे, या यहाँ न आ जाय।" ऐसे में यहाँ उक्त स्त्री के मुँह से सुना कि 'मेरा पति 'चंड' है -' आदि उसने 'चंड' पर से अपना ही नाम समझा और तुरन्त कल्पना कर ली (मान बैठा) कि 'देखो, मेरा शक सच निकला। यह कुलटा यहा आ गयी लगती है, और इस बेईमान से मंत्रणा कर रही है। तो मैं भी जरा सुनूँ- आगे क्या बातचीत चलती है ?

वह आदमी उस स्त्री के जवाब पर से उसके मन को भाँप गया। अतः पहला उद्गार निकालते समय शायद वह हिचकिचाता या घबराता भी रहा हो कि 'यह क्या जवाब देगी ?' लेकिन अब जब वह औरत उसके मन के भाव को स्वीकार तो कर रही है, फिर आगे बढ़ने में संकोच या घबराहट क्यों रखी जाय ?

**पतन कैसे होता है ? :-**

**बिगड़े हुए की शर्म से :-**

जगत में अनर्थ इसी तरह से अटकते नहीं हैं। एककी बुद्धि बिगड़ी; फिर दूसरा उससे जरा भी सहानुभूति जताए कि बस ! हो गया। काम आगे बढ़ता है। आज के लडके-लडकियों में इस तरह से यह अनिष्ट बढ़ता जा रहा है। पहले एक की बुद्धि बिगड़ती है, दूसरा उसका इन्कार नहीं करता। अतः उसका काम बन जाता है। उसमें यह दूसरा मूलतः तो बिगड़ा हुआ न भी हो, लेकिन शर्म या लालच के कारण मना नहीं कर सकता, अतः पहलेवाले का आगे बढ़ता है। और दोनों पतन के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं। यदि वहाँ वह शर्म में पड़े, या लालच में न फँसे और साफ साफ इन्कार कर दे, और साथही दूसरे को अच्छी सलाह दे तो संभव है कि स्वयं तो न गिरे, पर दूसरा भी लौट पड़े अथवा कम से कम अपनी तो सुरक्षा हो ही जाय। इसलिए व्यर्थ शर्म में नहीं पड़ना चाहिए।

**झूठी शर्म पतन का कारण है :-**

उस कामलता के प्रसंग में आता है न कि वह अच्छी, सुशील ब्राह्मणी होते हुए भी घेरा डाल कर रहे हुए शत्रु राजा के शिकंजे में फँसी। राजा ने उसका हरण कर उसे शर्म में डाला तो वह गिरी। पतन हुआ, शील खोया। और राजरानी बन बैठी। भीतर से दिल मना करता है, परन्तु शर्म ने दिल को दबा दिया। बुरी भावना को यदि जरा भी बलवती बनने दिया जाय तो वह बुरी भावना अच्छे आंतरिक मन को भी निष्क्रिय बनाने में समर्थ है। समकित्ती का चित्त कैसा होता है? उत्तम! वैराग्य वासित, विषयों को विष स्वरूप देखनेवाला। फिर भी वह विषय-संग (आसक्ति) में क्यों गिरता है? क्यों कि अविरति के घर का विषय राग बलवान् बन जाता है, इसलिए।

**वैराग्य के बावजूद राग क्यों ?**

**विषयों की विष मानने के बाद भी विषयराग हो सकता है ?**

हाँ, भले ही विष मान लिया, परन्तु गले में विषयों का मधुर स्वाद लगा हुआ होता है, और उसे उखाड़ने का पर्याप्त पुरुषार्थ-पराक्रम नहीं होता, फिर तो वह मधुर स्वाद (मिठास) राग ही करवाता है। फलतः एक ओर तो जहर जैसा मानने के कारण उसके प्रति घृणा, अरुचि रहती है, फिर दूसरी ओर काबू में न की गयी मिठास से राग सक्रिय बनता है। समझदार रोगी कुपथ्य को कैसा मानता है ?

जहर जैसा ! परन्तु यदि उसे कभी उसकी मिठास की चटक उठे तो कुपथ्य थोडासा ही सही लेने का राग हो ही जाता है न ? क्या मालूम नहीं है कि “सर्दी में खिड़की की हवा सर्दी को बढ़ाएगी, अतः हवा बुरी है ?” मालूम है, उससे नफरत भी है फिर भी गर्मी में ठंडी हवा की मिठास खिड़की खोलने को बाध्य करती है। यही यहाँ विषयों की मिठास में होता है। उधर समकिति का वैराग्य सच्चा होते हुए भी उस मिठास को रोक नहीं पाता, और विषय-संग प्रवर्तमान हो जाता है। भीतर की ओर वैराग्य के कारण इसके प्रति ग्लानि विद्यमान है, फिर भी पराक्रम के अभाव में उसकी मिठास का राग जोर मारता है। पराक्रम प्रस्फुटित करे तो उसको दब जाना पड़े, और वैराग्य की जीत हो जाय परन्तु पराक्रम लाना कहाँ से ? इसका नाम है - ‘भीतर से दिल शुभ भावयुक्त फिर भी बुरी भावना का जोर उसे दबा देता है, सक्रिय नहीं होने देता।’

यही बात झूठी शर्म में होती है। गलत शर्म की भावना अनुचित है। उसे यदि पराक्रम के द्वारा न दबाया गया तो वह भीतर दिल - अन्तर्मन अकार्य को अनुचित मानता रहेगा और अकार्य उन्मार्ग पर घसीट ले जाएगा। अतः पुरुषार्थ प्रकट कर झूठी शर्म को दूर हटा दो, तभी पतन से बच सकोगे। बेचारे कई भोले बालक अनाड़ी की संगत से झूठी शर्म में पड़कर बुरी आदतों के शिकार बन जाते हैं। हम ऐसा कहते हैं कि संपर्क में न आवे परन्तु कई घंटों तक हररोज साथ पढना होता है, साथ खेलना, साथ जाना-आना होता है तब कैसे संपर्क - संगत से बच सकते हैं ? परन्तु मूर्ख माता-पिता को इस की समझ नहीं होती। अतः इसी तरह अव्यवस्था चलती है।

प्र० तो क्या पढाना नहीं ?

उ० हमारे मना करने से थोड़े ही रुकने वाले हैं। परन्तु इतना समझ रखना रहा कि आज के समय में कुसंसर्ग मिलने ही वाला है। अब वह झूठी शर्म में या लालच में न फँसे इस हेतु से सदा हित-शिक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। और वह प्रयत्न इस तरह कि संतानों को ठेठ बचपन से बड़े होने तक हर रोज रात को अपने पास बैठाओ और उन्हें रोजाना प्राप्त होने वाले अनुभव, दृष्टान्त आदि देकर अच्छी अच्छी सीख देते जाओ। उन्हें सिखाओ कि ‘कोई गलत काम करने को कहे तो जरा भी शर्म में न पड़ना। तुरन्त बड़े जोर की दहाड जैसी आवाज में कहना कि ‘क्या करते हो ?’ ताकि वही शर्मा जाएगा। दूसरे लोग ऐसी दहाड सुनकर पूछेंगे या इस ओर देखेंगे तो डर जाएँगे। फिर कभी गलत काम का नाम नहीं लेंगे। सुशील बालाओ या महिलाओंने बेईमान के मुहँ पर चप्पल मार कर इस तरह रोका है।

बच्चे को समझाना चाहिए कि 'बुरा काम करें तो कितना अधिक पाप लगता है ? पकड़े जाने पर कैसी कैसी आफतें आती है, कैसी सख्त सजा मिलती है आदि । इससे उसे बुरे काम करने का लोभ ही नहीं रहेगा ।

यह करना है ? नहीं; रात होने पर थके हारे समवयस्कों के साथ गप्पे लगाना हैं; अथवा बाहर भटकने जाना है, किन्तु मातापिता का फर्ज समझना नहीं हैं । और अपने आश्रय में रहे हुए अबोध, नासमझ बालकों का विश्वासघात हो उसकी परवाह नहीं है । तब क्यों हर रोज प्रेम पूर्वक पास बिठाकर उन्हें हितशिक्षा दोगे ? आप जैन संस्कृति का लोप कर रहे हैं इस बात का आपको भान नहीं है !

उस औरत ने 'उस दुष्ट आदमी के कुत्सित भाव का विरोध नहीं किया, अतः वह आदमी अब आगे बढ़कर कहता है -

'तेरा पति चंड हो चाहे सौम्य, तुझे मुझसे मिलना ही चाहिए अन्यथा नरहत्या लगेगी ।' मतलब ? यही कि 'तू न मिली तो मैं आत्महत्या कर लूँगा ।'

क्या ? आत्महत्या करेगा वह ? बिल्कुल नहीं । सिर्फ मुँह से बोल कर दूसरे को डराना । कोई मरता वरता नहीं । एक अनुभूत दृष्टांत सुनाता हूँ ।

### एक कुलटा स्त्री का दृष्टांत :-

एक स्त्री हमेशा अपने पति को हैरान करती थी, क्यों कि वह स्त्री खरीद कर लाई हुई निम्न जाति की थी । बेचारा पति रोजगार - मजदूरी करके शाम को देर से घर आता । अभी वह खाना शुरू करे उससे पहले वह कलह शुरू कर देती 'तुमने यह नहीं किया और वह नहीं किया; फला चीज नहीं लाये और फलां चीज नहीं लाये । लो, तुमसे ब्याह कर हमने क्या सुख पाया ?' फिर तो और दिन बीतने पर कलह क्लेश में आगे बढ़ते बढ़ते वह कहने लगी कि, "यदि तुम ऐसे ही चलाओगे तो मैं जल मरूँगी ।" यह उसे समझाता परन्तु वह चुप नहीं रहती ।"

पति ने देखा कि "यह क्लेश इस तरह नहीं मिटेगा, और यह कोई जल मरने वाली नहीं है ।"

**अधिकतर बर्ष ज्यादा बोलनेवाले वैसा करते नहीं है, और करनेवाले बहुत बोलते नहीं ।**

यह बात समझ कर कलह बन्द करने के लिए एक दिन वह बाहर से यह निश्चित करके घर आया कि अब क्या उपाय करना चाहिए । फिर जब उस स्त्री का यह पुराण शुरू हुआ कि 'नहीं तो मैं जल मरूँगी, जल मरूँगी' तब उसने चूल्हे में से अंगारे तवे पर रखे और तुरन्त उसकी ओर बढ़ कर उसके सिर पर डालने का

अभिनय करते हुए कहा, 'ले रांड, जल मर, तुझसे अकेले हाथों नहीं जला जायेगा इसलिए ले मैं ही तुझे जला डालता हूँ जिससे मेरा रोज का क्लेश मिट जाय।'

क्या वह औरत अपने सिर पर अंगारे डलवाने बैठी रहे ? नहीं, जरा भी नहीं। वह तो तुरन्त उठ कर भागी। पुरुष भी क्रोध में बिफरने का अभिनय करता हुआ अंगारों भरे तवे के साथ उठ कर उसके पीछे पड़ा और कहने लगा, 'ठहर ठहर कुटिला ! जाती कहाँ है ? आज तो तुझे जलाही डालता हूँ। ताकि मुझे शांति हो जाय, हरामखोर !

बस, दूसरे दिन से झगड़ा बन्द।

जगत के जीवों के ऐसे ही ढोंग चला करते हैं। समझ रखों, 'मैं खुदकुशी करूँगा' ऐसा कहने वाले झूठे हैं। उसी तरह और कोई धमकी की बात बार बार करने वाले भी झूठे हैं। तो प्रेम के चोचले करने वाले भी झूठे हैं, और 'कोई काम-काज हो तो कहना - काम-काज हो तो कहना' बार बार इस तरह कहनेवाले भी ऐसे ही हैं।' जो यह बात समझते हैं वे ऐसे भ्रामक शब्दजाल में नहीं फँसते, नासमझ लोग फँस जाते हैं। आज ऐसी अनेक अविश्वसनीय स्त्रियों के पति प्रेम के वचनों में फँस कर दुःखी हुए हैं।

वह पुरुष जब यह कह रहा है कि 'तू नहीं मिलेगी तो मैं आत्महत्या करूँगा' तब वह भोली महिला उसकी बातों में आ गयी घबरा गयी और उससे कहने लगी।

'नहीं, ऐसा न करना ! मैं तुझे मिलती हूँ। देख मेरा पति, यहीं कहीं नाटक देखता बैठा होगा इसलिए कोई चिंता नहीं है। मैं अपने घर जाकर बैठती हूँ, तू मेरे घर आना।'

### चंडसोम की विचारधारा :-

विधि की विचित्रता देखो। चंडसोम अपने पर ले ले ऐसे शब्द ही उसे सुनने मिले। पीछे खड़ा वह सोचता है, 'अरे !' यह जरूर मेरी ही बात चल रही है। कह रहा है न कि तेरा पति चंड हो या सोम इसलिए यह मेरी पत्नी नंदिनी ही होनी चाहिए। यह भी कह रही है कि मेरा पति यहीं कहीं देखता हुआ बैठा होगा।' अतः इसे पता नहीं है कि मैं यहाँ पीछे ही खड़ा हूँ। मुझे न देखकर ही तो इसने यह मंत्रणा की। अब कहती है कि 'पति यहाँ है इसलिए चिंता नहीं। मैं घर जाती हूँ तू आना वहाँ।' कैसी दुश्चरित्री है यह ? बस, निश्चय ही यह घर पहुँचेगी और इसके पीछे यह आदमी भी वहाँ पहुँच कर इससे मिलेगा। अरे रे ! यह इतनी कुलटा है ?

ले लिया अपने सिर पर । अपनी पत्नी ही मान करं सब कुछ उस पर बैठा दिया । अब वह काबू में रह सकता है भला ? सोचता है 'तो मुझे अब क्या करना चाहिए ।' इसी समय दैवात नाटक के अभिनेता ने गीत गाया कि 'जो व्यक्ति जिसे प्रिय हो वह यदि दूसरे के साथ रमण करे और यह बात यदि उसे मालूम हो जाय तो वह उसकी जान लेता है ।' बस इस वचन ने इसके प्रस्तुत विचार में आग में घी डालने का काम किया । गुस्से से वह एकदम भडक उठा । अतः सोचता है 'बस, तो मैं जाता हूँ घर, लेकिन छोटे रास्ते से चलूँ जिससे इन दोनों के पहले पहुँच जाऊँ और ये पहुँचे तब खबर ले लूँ' ऐसा तय कर तुरन्त वहाँ से भागा घर की ओर ।

नाटक देखना कहाँ रह गया ? देखने में दिलचस्पी तो थी न ? लेकिन यह कहिये कि दूसरी दिलचस्पी बलवान उत्पन्न हुई अतः वह दिलचस्पी दब गयी । बात यही है कि -

**बुरी भावनाओं का दमन करना हो तो उनके सामने कोई अच्छी रुचि (दिलचस्पी) का कार्य उपस्थित करो ।**

**क्रोध को दबाने का उपाय :-**

उदाहरणतया - क्रोध की मनोवृत्ति बार बार सता रही हो तो (१) उसके विरुद्ध नवकार मंत्र के स्मरण में रुचि उत्पन्न की जाय। मन को ऐसे समझाया जाय कि 'क्रोध करने से शायद कोई तात्कालिक फायदा दिखाई दे तो भी वह तुच्छ है जबकि हृदयपूर्वक याद किये गये नवकार का लाभ अपरंपार है ।

(२) आगे और विचार करें कि कहाँ यहाँ के उठाईगिरे को दिमाग में स्थान देना? और कहाँ इन श्रेष्ठ पंच परमेष्ठि को मन में बिराजमान करना? कहाँ यह तमतमाना और कहाँ वह परमेष्ठि-नमस्कार ? अरे ! मोहमूढ़ों को दिमाग में घुसाना, और प्रेम या रोष करना तो दुनिया में सर्वत्र मिलता है, और मिला है, अनन्तानन्त काल तक यही किया है। परन्तु इन परमेष्ठि को मस्तिष्क में बिराजमान करना और उन्हें नमस्कार करना कहाँ मिले? तो फिर लाओ यही करें।" इस तरह मन को समझाया जाय, तो उसका रस पैदा हो और वह मौके पर काम कर जाय । गुस्से की भावना भुलाकर मन को इस नवकार-स्मरण तथा परमेष्ठि-स्मरण में पिरो दे।

(३) इतना ही नहीं बल्कि अनन्तानन्त परमेष्ठि को दृष्टि समक्ष लाकर प्रत्येक के चरणों में स्वयं मानो सिर का स्पर्श कराता हुआ नमस्कार करता हो इस प्रकार की कल्पना कर के पुनः पुनः नवकार याद करके नमस्कार करना जारी रहे। ऐसा हो तो गुस्सा धीमा पड़ जाए ।

**परस्त्री दर्शन - रोकने का उपाय आन्तरदर्शन-आन्तरश्रवण :-**

इसी तरह उदाहरण के तौर पर समझो कि परस्त्री दर्शन का रस उछलता है; उसमें भी आजके जमाने में कामोन्माद-युक्त बड़ी लड़कियों और स्त्रियों के उद्भट वेश आँखों को आकर्षित करते हैं। जीव की इच्छा तो है ही, फिर आँखे वहाँ कैसे न जाएँ? अब इन्हें किस प्रकार रोकना? एक उपाय यह है-शुभ आन्तर दर्शन या आन्तर श्रवण किया जाय। अर्थात् यह करना कि सिद्धगिरिराज जैसी किसी तीर्थयात्रा को या अति आह्लादक आदीश्वर दादा जैसी जिन-प्रतिमा को मन में लाना; और क्रमशः - जैसे इसी वक्त यह यात्रा कर रहे हैं ऐसा या उस जिन बिम्ब की पूजाविधि कर रहे हैं। आँखे मूँद कर मन के भीतर देखना अथवा मानो सीमंधर भगवान ही अन्तर में पधारे हैं और समवसरण पर वाणी की वर्षा कर रहे हैं, सो हम सामने बैठे कान देकर सुन रहे हैं ऐसी कल्पना करें। मन को समझाएँ कि -

घेर बैठा पण ए गिरि गावे रे  
श्री ज्ञानविमल सुख पावे,  
नागर सजना रे कोई सिद्धगिरिराज भेटावे ।

‘घर बैठे भावपूर्वक गिरिराज के गुणगान करे, यात्रा करे, पूजा करे यह विमल ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान पाता है, विमल सुख - मोक्ष पाता है, तो ऐसा उच्च कोटि का लाभ कराने वाले यात्रा पूजा के अन्तदर्शन का कार्य छोड़कर नरक में परमाधामी के भाले की नोक आँख में चुभाने वाला ऐसा परस्त्री-दर्शन का अधम कार्य किसलिए करना?’ मन को यह समझाकर आँखे मूँद कर वह आन्तरदर्शन का काय या सीमंधर स्वामी को मन में साक्षात् सुनने का आन्तर श्रवण का कार्य शुरू कर दिया जाय। तो परस्त्री-दर्शन का रस फीका पड जाय और दृष्टि बिगाडने का वह कार्य बन्द हो जाय।

चंडसोम को तो अपनी पत्नी और उस आदमी की खबर ले डालने की तमन्ना जगी है, फलतः नाटक देखते बैठे रहने का रस सूख गया है ! वह निकल पडा घर की ओर, शीघ्र पहुँच गया, दरवाजे पर उन दोनों की राह देखता खड़ा रहा-किवाड के पास छिपकर।

यहाँ वे अनजाने स्त्री-पुरुष तो कोई आनेवाले ही नहीं थे; अतः वह राह देखकर घूरता हुआ उतावला हो रहा है कि “अभी अपनी वह पत्नी और पराया पुरुष जल्दी आएँगे कि उसी वक्त मैं उन पर अच्छी तरह बिता दूँगा” परन्तु वे जल्दी

आएँ कहाँ से ?

फिर भी क्रोध में अंधे हुए चंडसोम को यह नहीं होता कि 'तो क्या वह सचमुच मेरी पत्नी ही होगी ? पत्नी हो तो वहाँ से रवाना होकर यहाँ जल्दी आ जानी चाहिए; क्यों नहीं आयी ? तो कहीं मैं भुल तो नहीं कर रहा हूँ ? चलो, घर में जाकर देख लूँ कि पत्नी सचमुच घर में है या नहीं ?' नहीं, उसे ऐसा कोई विचार नहीं आता । वह तो निश्चित मान बैठा है कि वह औरत मेरी पत्नी ही थी और वह अभी आएगी ।

ईर्ष्या कहाँ तक ले जाती है ? कैसे झूठे विचारों में घसीटती है ? ठोकर खाने पर भी गलत विचार से लौटने नहीं देती । यहाँ सोचा था उसके अनुसार पत्नी जल्दी नहीं आयी, धारणा को ठोकर लगी तो भी, 'तब तो वह मेरी पत्नी नहीं होगी' ऐसा मानने को तैयार नहीं । वह ईर्ष्या का मारा कल्पना में आगे बढ़ता है कि भले न वह जल्दी नहीं आयी लेकिन जरूर उसने उस अप्सरी को घर या अन्य कोई स्थान साध रखा होगा; और यहाँ तो बहन घर में होने के कारण व्यभिचार करने यहाँ आए भी कैसे ? पर कोई चिंता नहीं, अपना काला मुँह कर के भी आखिर तो यहीं आनेवाली है न, सो भी नाटक खत्म होने तक तो आनी ही चाहिए, क्योंकि नाटक खत्म होने पर मेरा आना तो उसे मालूम ही है । अतः मैं यहीं छिपकर खड़ा रहूँ, अभी आ जाए तो तुरन्त ही उसकी खबर लूँ ।

### चंडसोम ने दो को मारा

अभी तो यह विचार कर रहा है कि इतने में दो जन आते दिखाई दिये । अंधेरा है अतः चेहरे स्पष्ट पहचाने नहीं जाते । परन्तु इस मूर्ख को यह निश्चित कहाँ करना है कि 'ये दोनों सचमुच मेरी पत्नी और परपुरुष ही हैं या ओर कोई ?' यह तो अपनी पत्नी और उस पुरुष को ही मान बैठा है । अतः ज्यों ही वे दोनों दरवाजे से प्रवेश करने को होते हैं त्योंही यह उन पर तीक्ष्ण हथियार का प्राणघातक प्रहार कर देता है । जो खुजली उठी थी उसे इस तरह शांत कर 'बस ! मैंने पापियों को पाप का फल बराबर दिखा दिया', ऐसे वह कलेजे में ठंडक पाता है ।

### प्रकृति और अभ्यास पर नियन्त्रण :-

रौद्र ध्यान की कैसी नरक दायक परिणति ! भीषण कृत्य करने की कैसी जालिम लेश्या ! और ऐसा करने के बाद क्या ही पैशाचिक ठंडक ! बचपन से क्रोध को खूब पनपाया हो फलाया फुलाया हो, पाला-पोसा हो तो वह इतनी ऊँची कक्षा



(डिग्री) तक पहुँच जाय इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह तो अवसर पर निर्भर करता है। मन में क्रोध का काफी अभ्यास करने पर, ऐसा मौका मिलने की ही देर। जैसा मौका वैसा शोला ! प्रकृति और अभ्यास क्रोध का बना दिया हो उसके बाद मौके पर उसका पारा काबू में या सीमा में कैसे रहे ? इसलिए ऐसे अकल्पित अवसर पर हम जालिम क्रोध में न फँस जाएँ इस हेतु से अब से ही क्रोध के स्वभाव एवं अभ्यास पर नियंत्रण लगा देने चाहिए। उसे रोकना, दबाना आवश्यक है, सो भी वक्त वक्त पर, अर्थात् जब जब क्रोध आवे तब तब उसे दबाना ही चाहिए। और उसके बदले दया-क्षमा, समता का भाव पैदा करना चाहिए। जब इस का दीर्घकालीन अभ्यास हो जाय, तब जाकर गुस्सैल स्वभाव पर अंकुश आता है, वह हल्का पड़ता है और बाद ऐसे प्रसंग में भी भीषण क्रोध नहीं आता।

**छोटे से क्रोध से भी बचना :-**

हाँ, यदि इस भरोसे पर रहे कि 'हम' ऐसा उग्र क्रोध करते ही नहीं, और नीचे की कक्षा क क्रोध करते रहे तो, अवसर आने पर होश खोते देर नहीं लगेगी। अभी जो ऐसा गुसा नहीं दिखाई देता उसका कारण तो यह है कि अभी तक ऐसा जबरदस्त प्रसंग नहीं उपस्थित हुआ; अन्यथा क्रोध के स्वभाव और अभ्यास से संस्कार तो गढे हुए ही पडे हैं। इसलिए ऐसे गलत विश्वास पर रह कर रोज मरो के छोटे छोटे क्रोध को भी सहलाना-लाड़ लडाना (बहलाना) उचित नहीं।

यह डर तो रहना ही चाहिए कि 'कहीं' ऐसा न हो कि मैं जो जरूरत पड़े तब तब क्रोध करता रहता हूँ सो कभी ऐसे अवसर पर उग्र स्वरूप धारण कर ले (उग्र रूप में फट पडे) तब तो मेरे बारह ही बज जाएँ। ऐसे उग्र क्रोध का यहाँ चाहे कैसा ही मनचाहा फल दिखाई देता हो, अथवा आत्मतोष होता हो किन्तु उसके नरक की असंख्य वर्षों की दारुण यातना के परिणाम असह्य हैं। अतः उन परिणामों का आगमन रोकने के लिए बेहतर है कि यहाँ के मनचाहे तुच्छ फल या आत्मतोष की इच्छा न करूँ। इन्हें लाने वाले क्रोध से दूर रहूँ। ऐसे उग्र क्रोध की पूर्व भूमिका-स्वरूप चालू गुस्सैल स्वभाव और क्रोध के अभ्यास से ही दूर रहूँ। इस तरह की भावी महा अनर्थ की चेतावनी मन में रख कर सामान्य क्रोध भी नहीं करने का दृढ निर्धार आवश्यक है, संपूर्ण सावधानी के साथ प्रयत्न जरूरी है। यह अवश्य समझ रखना रहा कि -

**केवल क्रोध ही क्या किसी भी लघु दिखाई देनेवाले दोष में भी भावी महादोष के बीज निहित हैं।**

उन्हें बोओ, सींचो, पोसो तो अवसर आने पर (मौका पाकर) इन में से बड़े पेड ऊंगेंगे ही । अतः शुरू से ही इन पर नियंत्रण रखना चाहिए ।

**चंडसोम के द्वारा कौन मारे गये?:-**

क्रोधाम्ब चंडसोम ने बाहर से आये हुए स्त्री पुरुष पर जानलेवा हमला तो कर दिया पर उसे कहाँ पता है कि मैं अपने प्रियजनों की ही हत्या कर रहा हूँ । उन दोनों बेचारों पर ज्योंही प्रहार हुआ त्योंही वे चीख कर भूमि पर गिर पड़े ! वह चीख सुनकर अन्दर से पत्नी नन्दिनी तुरन्त रोशनी के साथ बाहर दौड़ आई । और चंडसोम को शस्त्र के साथ देख कर चिल्ला उठी 'अरे बेशर्म कसाई ! यह क्या किया तूने ? अपने ही प्यारे भाई-बहन को मार डाला ?

**मारे जानेवाले भाई बहन कहाँ से ?:-**

जो मारे गये वे स्त्री पुरुष चंडसोम के भाई और बहन थे । भाई तो जल्दी नाटक देखने चला गया था । बाद में चंडसोम बहन के जिम्मे पत्नी को सोंप कर गया था; और उसके बाद बहन ने भाभी नन्दिनी से कहा था 'चलो, हम भी देखने चले ।' तब नन्दिनी ने तो चंडसोम के गुस्सैल स्वभाव के कारण इनकार ही किया था । अतः नन्दिनी को छोड़ बहन अकेली नाटक देखने गयी थी । अब नाटक में से भाई और बहन साथ आ रहे थे । किंतु इस मूर्ख चंडसोम ने तो क्रोध के अन्धत्व और ईर्ष्या की आग में अपनी पत्नी नन्दिनी को ही नाटक देखने आयी हुई और परपुरुष से मंत्रणा करती हुई मान लिया था । अतः वह पत्नी और परपुरुष की कल्पना के आधार पर खुद को प्रिय अपने भाई-बहन को पहचाने बिना उन पर टूट पड़ा और दोनों की लाशें ढाल दी !

परन्तु अब भाई-बहन हीं मरे हैं यह जान कर क्रोध या क्रोध-कंडु (क्रोध की खुजली) की शांति-ठंडक टिक सकती है ?

## २०. चंडसोम का पश्चात्ताप

**अपकृत्य क्यों किया ?:-**

यहाँ चरित्रकार लिखते हैं कि - 'चंडसोम ने वार करते समय (१) परलोक का विचार नहीं किया (२) लोक में अपयश (लोकनिंदा) की परवाह नहीं की (३) पुरुष कौन है यह तक नहीं देखा (४) न्यायनीति की बुद्धि नहीं रखी। और (५) सत्पुरुष के मार्ग की दरकार न रख कर प्रहार कर दिया।' इस पर से समझने को मिलता है कि ऐसे अपकृत्यों से बचना हो, कभी भी उस में न फँसने की स्थिति बनानी हो तो **अपकृत्य से बचने के उपाय:-**

- (१) परलोक का विचार रखना।
- (२) लोक निंदा का डर रखना।
- (३) संयोग की जाँच और स्थिति का खयाल करो।
- (४) न्याय - नीति की बुद्धि जाग्रत रखो।
- (५) सत्पुरुष का मार्ग दृष्टि समक्ष रखो।

दुष्कृत्यों से बचने के लिए और अमूल्य मानव-जीवन को उज्वल बनाने के लिए ये कैसे सुन्दर उपाय हैं ? जीवनधन और शासनधन का मूल्य समझो। अब हम कीड़े-मकोड़े नहीं हैं, पशु पक्षी नहीं हैं परन्तु मनुष्य हैं। किस विशेषता से ? और किस लिए ? इस पर विचार करो तो ज्ञात होगा कि हम खास बुद्धिबल, विवेक-बल और विशिष्ट पुरुषार्थ बल के कारण विशिष्ट मानव-प्राणी हैं।

यह बल बड़े देवता के पास भी नहीं है, वैसे ही ऐसे विशिष्ट शक्ति संपन्न मानव-भव का मुख्य उपयोग खान-पान, मान-सम्मान पा लेना नहीं वरन् आत्मा का ऊर्ध्वीकरण करना विशुद्धीकरण करना है। इसके लिए और भी ऐसे सुन्दर जीवन धन के अलावा शासनधन मिला है। दुनिया में देखिये - जिनशासन जैसा दूसरा कौनसा शासन है। शासन के बताये हुए देव-गुरु धर्म की पंक्ति में सारे विश्व में देख लो-दूसरे देव-गुरु धर्म कहाँ हैं ? देव वीतराग सर्वज्ञ, गुरु निर्गन्ध, और धर्म (१) स्याद्वाद युक्त जीवाजीवादि नौ तत्त्वों के सम्यग्-दर्शन-ज्ञानमय तथा (१) अहिंसा-संयम - तप के सम्यक् चरित्र से युक्त अन्यत्र कहाँ देखने मिल सकता है ? तब फिर ऐसे सुन्दर सर्वश्रेष्ठ शासनधन को पाने के बाद हमारे जीवन में उसका कोई उपयोग नहीं ? और खा गया-खो गया, के खेल के समान धनोपार्जन कुटुंब रमण और उदरभरण के काम में ही जीवन बरबाद करना ? प्राप्त हुए महान्

शासनधन का उपयोग करना हो तो यह करो:-

**शासन सम्पत्ति के सदुपयोग के लिए-**

(१) परलोक का विचार जाग्रत रखो कि -

“यहाँ जो कुछ करूँगा, कहेँगा सोचूँगा उसके संस्कार पडते ही जाएँगे और उसका परिपाक परलोक में भोगना ही पडेगा - अच्छे का अच्छा, बुरे का बुरा ।

पहले से चले आते हुए बुरे संस्कारों का इस भव में जितना न्हास करते जाएँगे, उतना भवान्तर में आत्मा का उदय होगा ।

इसके बदले इन बुरे संस्कारों का जितना दृढीकरण यहाँ करेंगे उतना महान अधःपात बाद के भवों में भोगना पडेगा ।

इसलिए विषयों और कषायों के बुरे संस्कार जिनके कारण यहाँ भी मर रहा हूँ उन्हें अब दृढ करना उचित नहीं । यह तभी संभव है जब उनकी प्रवृत्ति पर कँची चलायी जाय ।”

ऐसा ऐसा कितना ही परलोक का विचार जाग्रत रखना चाहिए ।

(२) उसी तरह, लोक निंदा का डर रखो । तुच्छ वृत्तियाँ, तुच्छ वाणी, तुच्छ कृत्य, तुच्छ मित्राचार आदि से लोक में अपयश मिलता है । शासनधन का उपयोग करना हो तो उसका भय रखकर ऐसी तुच्छ बाबतों से दूर ही रहना चाहिए । ‘लोक की क्या परवाह ?’ ऐसा घमंड रखने योग्य नहीं है, क्योंकि इस तरह लापरवाही करके तुच्छता का आचरण करने से लोगों के दिल को दुःख होता है तथा लोग धर्म के प्रति घृणा करने लगते हैं । फलतः वे बेचारे दुर्लभबोधि बनते हैं । अतः उनके प्रति ऐसी निर्घृणता कैसे रखी जा सकती है ? उसी तरह

(३) हर एक प्रवृत्ति करते समय आसपास की परिस्थितियों का विचार जरूरी है । जो कुछ भी कहें-करें उससे पहले आसपास के संयोगों की तलाश करनी चाहिए, इसका खयाल करना चाहिए । अन्यथा उलटी तज़वीज हो जाती है और उससे पछताना पडता है । चंडसोम की यही स्थिति होती है ।

(४) उसी तरह हमें अपनी स्थिति का भी विचार करना चाहिए । देखा देखी दौड़ लगाने से दूर जाकर पिछड़ जाना पडता है अथवा कायरता आदि के कारण वह भी खोना पड़े जो कुछ अच्छा करना संभव था ।

(५) तदुपरांत, न्याय-नीति की बुद्धि सदा जाग्रत रखनी चाहिए । हम अपने प्रति दूसरों की ओर से क्या चाहते हैं, न्यायी या अन्यायी खेल ? नीति या अनीति? हम माल लेने जाते हैं तब ऐसी अपेक्षा रखते हैं कि व्यापारी नीतिमान् रहे, तो

फिर जब हमें माल दूसरों को देना हो उस समय हम अनीति करें तो चले ? दूसरा कितना धर्म करो तो भी अनीति तो हृदय अत्यन्त कलुषित करती ही है, अधमाधम बनाती है। प्राप्त हुए शासनधन की प्राप्ति को सार्थक बनाना हो तो मार्गानुसारिता का यह प्रथम गुण 'न्यायसम्पन्नता' गुण जीवन में ओतप्रोत हो जाना चाहिए। बुद्धि न्याय के मार्ग पर ही चला करे, अन्याय का विचार तक नहीं; फिर आचरण कैसा ?

(६) इसी तरह शासनधन और जीवनधन को उच्च फल-प्रद बनाने के लिए सत्पुरुषों का मार्ग मद्देनजर ही रखते रहना। अतीत के महापुरुष कैसे कैसे प्रसंगों में और कैसी कैसी परिस्थितियों में किस तरह बरते इसका काफ़ी अभ्यास करना चाहिए। उनके सत्पराक्रमों और सद्गुणों के व्यवहार की बार बार याद रहा करे, तो वे हमारे जीवन में प्रकाश-स्तंभ रूप बनें। उस से हमें बल मिले, जागृति मिले और मार्ग दर्शन भी। प्रसंग के बिना भी, ऐसे ही, उत्तम पुरुषों ने कैसी कैसी उच्च विचारणा की, भावनाएँ रखी, कैसे कैसे श्रेष्ठ उद्गार निकाले, उत्तम आचरण किये, आदि का बार बार स्मरण करें। इस में से भी चित्त निर्मल बनता जाता है। तब जीवन जीने में उसकी छाया (प्रभाव)पड़े, सो लाभ तो ऊपर से।

जीवनधन एवं शासनधन मिलने की सुन्दर सार्थकता प्राप्त करने के लिए यह परलोक का विचार आदि सुन्दर उपाय हैं, इस से कई कई अपकृत्यों से बच सकते हैं। बेचारा चंडसोम ! वह क्रोध तथा ईर्ष्या से अंधा बना हुआ, परलोक-विचार आदि कुछ भी अपनाने को तैयार नहीं है। फलतः अपनी एक असत् कल्पना के पीछे अपनी बहन को पत्नी और अपने भाई को पर-पुरुष मानकर दोनों का हत्यारा बना। परन्तु अब घर में से उसकी पत्नी नंदिनी जब ऐसी दहाड़ मारती है कि 'ऐ दुराचारी ! तूने यह क्या किया ? तूने अपने ही प्यारे भाई-बहन की हत्या की ?' तो वह चौंक उठा ?

### चंडसोम का पश्चात्ताप :-

अब उसका क्रोध तथा उस क्रोध की खुजली मिटाने की शांति कहीं पलायन कर गयी, और सिर पीटता हुआ चिल्लाकर हृदय-विदारक विलाप करने लगा कि, 'हाय रे ! यह मैंने क्या किया ? कैसा घोर कृत्य करनेवाला पापी मैं ? क्रोध में अंधा होकर मैंने अपने ही हाथों यह क्या कर डाला ? हे प्यारे सोमा । हे दुलारे (लाडले) भाई ! तुम कहाँ गये ? मैंने तुम्हें प्राणों से प्रिय बनाकर सम्हाला और मैंने ही तुम्हारे प्राण हर लिये ? हे माँ । हे पिताजी । तुम्हारे इन प्यारे बच्चों को

मैंने मार डाला ? कैसा अधमाधम नर-राक्षस हूँ मैं ?'

दूसरी ओर नंदिनी भी विलाप करने लगी कि 'हे मेरे देवरा । हे लाडले । अरे रे ! तुम्हारी यह कैसी मौत ।

**चंडसोम का आत्महत्या का निर्णय :-**

चंडसोम भी कल्पांत करता है ।- 'हाय ! मैंने क्रोध में यह क्या कर डाला ? जिस बालक को गोद में लेकर घुमाया-खिलाया, उसी को मैंने क्यों बीध डाला ? हे बहना मेरी । तेरा कितना असीम प्रेम । और मैं पापी तेरे प्राण ले बैठा ? हे माँ ! तू तो पिताजी के साथ तीर्थयात्रा पर निकली, पर मुझे खास हिदायत देती गयी कि', बेटा ! इन दो बालकों की अच्छी तरह सार-सम्हाल रखना । परन्तु मैं पापात्मा यह क्या कर बैठा ? अरे रे ! मेरे मन के अरमान थे कि इनके विवाहोत्सव मना कर नाचूँगा । परन्तु देखो तो सही, मैंने कैसा भयंकर शत्रु का काम किया । मैं क्या करूँ ? अब मैं जीने योग्य नहीं रहा । समुद्र में डूब मरूँ ? पर्वत पर से छलांग लगा दूँ ? (झंपापात करूँ ?) तो भी मेरी शुद्धि न होगी । सुबह लोगों को क्या मुँह दिखाऊँगा ? ऐ पापी जीव । दुष्ट । नराधम । बस, अब तो चिता सुलगाकर उसमें कूद कर जल मरना ही तेरे लिए अच्छा है ।

**पाप लेश्या की अपेक्षा शक्तिशाली धर्म लेश्या आवश्यक :-**

दुष्कृत्य की भावना का आवेग अधिक ? या पश्चात्ताप की भावना का आवेग अधिक ? मनुष्य को दुष्कृत्य करते हुए विचार (ध्यान) नहीं रहता अतः अनियंत्रित पापलेश्या में चढ़ता है ।

लेकिन यदि सचमुच पश्चात्ताप हो तो उस दुष्कृत्याचरण का दंश (चुभन) भी इतना जबरदस्त होता है कि संताप की लेश्या की कोई सीमा नहीं ; और बात भी सच है कि जब तक पाप लेश्या के आवेग को मात कर सके ऐसा पश्चात्ताप का आवेग अकार्यसेवन के प्रति न जगे, जब तक अकार्य के प्रति मनस्ताप में जोश न आवे और अब ऐसी बलवती धर्मलेश्या जागृत न हो तब तक पाप का बोझ कैसे उतर सकता है ?

चंडसोम को पहले तो क्रोध एवं ईर्ष्या के आवेग में और कुछ सोचने की परवाह नहीं थी, लेकिन अब अपने ही हाथों स्वैयं क्रोध-ईर्ष्या से प्रेरित हो कर अनपेक्षित (अकल्प्य) रीति से सगे भाई-बहन की मौत खुद ने पैदा की ऐसा देखता है तब उसे अपनी कितनी कितनी अधमता लगती होगी; कि जिससे अब अपने आप को जलती चिता में झोंक देने का निश्चय करता है ।

## लोगों को दया :-

सुबह हुई। रोने-पीटने के कारण लोग तो इकट्ठे होने ही लगे थे। और उसमें फिर अब चंडसोम गाँव के बाहर जाकर चिता सुलगाकर उसमें गिर कर जल मरने की तत्परता दिखाता है; अतः लोगों को उसपर दया आ जाती है। यहाँ पूछिये न कि -

## अपराधी पर गुस्से के बदले दया क्यों ?:-

प्र. लोगों को चंडसोम पर उसके द्वारा की गयी हत्या पर गुस्सा न आवे ? दया कैसे आवे ?

उ. गुस्सा आवे; लेकिन दुनिया में देखो कि अपराधी यदि स्वयं ही अपराध का इकरार करता होगा और भारी पश्चात्ताप प्रकट करता होगा तो सामनेवालों की भावना उसके प्रति उभर आएगी। जीवन में यह अनुभव करने जैसा है। तुम्हारे हाथों कोई गलती हो गयी, कोई जल्दबाजी का काम हो गया, और सामने से कोई पूछ सकनेवाला व्यक्ति पूछने आया की 'ऐसा क्यों किया ?' अब तुम यदि शीघ्र ही सहृदयतापूर्वक कह दो कि, 'मुझसे यह गलती हो गयी है, जरा जल्द बाजी कर बैठा हूँ' तो इसका असर होगा।

वह व्यक्ति आवेश के साथ आया होगा कि 'इसे अच्छी तरह धमकाना है।' लेकिन उसका वह आवेश शिथिल हो जाएगा। यह तो सामनेवाले के पूछने पर दुःख व्यक्त करने के साथ भूल की इतनी सामान्य सी स्वीकृति में होता है; परन्तु सामने से पूछे गये बिना भी यदि तुम खुद ही अपने अपकृत्य का जोरदार पश्चात्ताप प्रकट करते हो, हृदय-विदारक रुदन करते हो, गलती के बदले अब कोई सख्त सजा अपने आप भोगने की तैयारी करते हो तो क्या मजाल कि सामनेवाले के दिल में गुस्सा रह सके ? उसे पिघलना ही रहा।

**यह कैसा सरस मंत्र है।**

**दूसरे के क्रोध को पिघला कर उसमें दया उत्पन्न करने का मंत्र यह है कि हमारी अपनी भूल को शुद्ध हृदय से और दुःख की संवेदना के साथ स्वीकार करना।**

घड़ी भर हमें लगे कि 'इस में हमारा अहं आहत होता है, हम छोटे हो जाते हैं ? अथवा कई बार हमें यह अनुचित (गैरवाजिब) भी पहले उचित (वाजिब) लगता हो तो अब ऐसा लगे कि अनौचित्य का अपने मुँह से कैसे स्वीकार किया जाय ? घड़ी भर ऐसा लगे भी सही परन्तु यह लघु दृष्टि का विचार हैं, क्यों कि विचार करने योग्य तो यह है कि -

‘यदि हम दूसरों के सामने छोटे न बनने के लिए, और अपने द्वारा कल्पित अपना मान बचाने के लिए, अपनी निम्न बोलचाल का इकरार नहीं करते हैं तो दूसरों के दिल में हमारे प्रति सद्भावना कम हो जाती है। इसके बदले यदि हम गर्व छोड़ कर दूसरे के सामने अपनी गलती कबूल कर उसका खूब पश्चाताप प्रकट करें तो सामनेवाले के मन में हमारे प्रति सद्भावना कायम रहती है। इस तरह पहले तरीके में हमारे मान की रक्षा है तो दूसरे में सामनेवाले के मन में सद्भावना की रक्षा है। अब सोचिये-

### मान की भावना जीतने के लिए :-

क्या हमारे मान की रक्षा लाभदायक है ? या हमारे प्रति दूसरे की सद्भावना बनी रहे बड़े यह लाभदायक है ? सही पदार्थ की पहचान करने योग्य है। हमारा मान तो हमारे अपने मन का माना हुआ है। दूसरे उसे मंजूर करें या न भी करें, जब कि सद्भाव तो उसके मन में अंकित हो जाता है, और वह उसके दिल में हमारे प्रति सच्चा सम्मान पैदा करता है। तो हमारे अपने द्वारा कल्पित मान की तुलना में यह वास्तविक मान क्या बुरा है ? और फिर उसे हमारे प्रति यह सच्चा मान पैदा होने के बाद तो वह मौके पर उपयोगी बनता है, बाहर हमारे लिए अच्छा बोलेगा। हमारी निंदा वह खुद तो नहीं करेगा बल्कि दूसरे करनेवाले को भी जरूरत होने पर रोकेगा।

सामनेवाले के सद्भाव और बहुमान (आदर) तो बहुत उपयोगी हैं, लेकिन मनुष्य उससे भावी महान् लाभों को नहीं देखता अतः उन्हें छोड़ कर व्यर्थ के प्रयत्नों में लगा रहता है। मान की भूख में खिंचकर ‘मैं क्यों गलत कहलाऊँ ? क्यों मैं अपने आपको नीचा बनाऊँ ?’ ऐसे गलत विचारों में घिसटता है और दूसरे की सद्भावना खोता है; तथा ऐसी दुर्भावना पाता है जो आगे चलकर जीवन में हानिकारक साबित होती है।

चंडसोम तो खुद ही पश्चात्ताप की आग में इतना जल रहा है कि अपने मान का उसमें विचार ही नहीं रहा, या खुद के नीचा बनने - की अपमानित होने की भी चिंता नहीं रही। इसलिए खुद ही अपने अधम दुष्कृत्य को प्रकट करता हुआ उसकी सख्त सजा के रूप में चिता में जल मरने की जल्दी में है। अब यह देख कर उसके दुष्कृत्य पर गाँववालों को गुस्सा करने का अवसर ही कहाँ रहा ? अब तो उसके स्थान पर चंडसोम पर सद्भाव उभरता है, दया उभरती है, और उसे जल मरने से किसी भी तरह रोकने का प्रयत्न करते हैं। उससे कहते हैं - ‘देख



भाई ! अब यह कल्पान्त (विलाप) छोडो । हो गया सो हो गया । अब तेरे रोने या जल मरने से मरे हुए कोई जिंदा होने वाले हैं ? सो मरने का विचार ही मत करना!

### लोक-सहानुभूति के उपाय :-

देखने की बात है कि भयानक हत्या के कारण जो लोग मारने तथा धिक्कारने को तैयार होते हैं वे ही लोग इतनी सारी सहानुभूति प्रकट करते हैं । इसकी वजह, न भूलो कि चंडसोम का (१) सच्चे दिल का इकरार, (२) जलते हृदय की पश्चात्ताप, और (३) इतनी भारी सजा भोगने का निश्चय है । यह पुनः इसलिए याद करते हैं कि लोगों की सहानुभूति मिलने के अनेक फायदे हैं ।

लोक सहानुभूति से कौन-कौन से लाभ ?

(१) लोग हमारी निंदा नहीं करते, अतः उससे हमारे चित्त में उस निंदा के कारण होनेवाला संक्लेश, कषाय, दुर्भाव रुक जाता है । इससे कर्मों तथा कुसंस्कारों का कूड़ाककट नहीं बढ़ता ।

(२) ऐसे चित्त-संक्लेश मिट जाने के कारण लोगों का भी बचाव हो ।

(३) लोग अनुकूल होने के कारण हमें वे मौके पर बाह्य-अभ्यंतर रूप में सहायक बनें । बाह्य कार्य में विघ्न न बन कर वे कम से कम हिम्मत-आश्वासन-मीठी निगाह रखकर मदद-स्वरूप बनें, और आभ्यंतर शुभ भाव प्रेरक समर्थक बनें । हम ऐसे सात्त्विक नहीं हैं, और इतने आत्मनिष्ठ नहीं हैं कि बाह्य की परवाह करना छोड सकें, बाहर का असर ग्रहण न करें, और हमारे अपने शुभ भाव एवं साधना में स्थिर रहें । हम इतने सात्त्विक नहीं । बाह्य का प्रभाव पड़ता ही है । अतः कुप्रभाव से बचने का लाभ तभी मिलता है जब लोग हमारे खिलाफ न हों ।

अतः लोगों की उपेक्षा करना उचित नहीं, 'कि मुझे लोगों की क्या परवाह ?' लोगों को मेरे कारण चित्त-संक्लेश न हो इतनी दया के लिए भी लोगों की भावना न बिगड़े यह ध्यान रखना चाहिए । इसीलिए तो साधुओं को भी शास्त्र कहते हैं कि, 'मैं तो त्यागी हूँ, मुझे लोक की क्या परवाह ?' ऐसा मानकर लोक की उपेक्षा न करना ।

### चित्ता में गिरने से रोकते हैं :-

अपने प्रचंड पश्चात्ताप और सजा भोगने की चंडसोम की तो अपने आप तैयारी ही है यह देखकर लोग अनुकूल हो जाते हैं । अतः उसे नहीं जल मरने को समझाते

हैं। फिर भी चंडसोम तो दौड़ा गाँव के बाहर ! चिता तैयार की ! सुलगायी और ज्योंही उसमें गिरने को होता है उससे पहले ही युवक लोग आकर उसे रोक लेते हैं, पकड़ रखते हैं और तब तक गाँव के प्रौढ़जन भी आ पहुँचते हैं।

चंडसोम कहता है - 'हे भट्टो ! मुझ पापी को मरने से क्यों रोकते हो ?' तो भी वे तो रोक ही रहे हैं। हम अपनी छोटी सी भूल भी कबूल करने और उसका पश्चात्ताप करने तत्पर नहीं होते, लेकिन यहाँ देख लीजिये कि भूल की स्वीकृति, पश्चात्ताप और अपने आप दंड का स्वीकार इन का लोगों पर कैसा जादुई प्रभाव पड़ता है।

**पाप-नाश विषयक अज्ञान-कल्पनाएँ :-**

वहाँ एक सभा-सी बन गयी। चंडसोम ने कहा, 'मुझे मरने दीजिये !'

तब लोग कहते हैं - 'नहीं, तू मरे किसलिए ? पाप का प्रायश्चित्त है।

इसने कहा, 'तो मुझे प्रायश्चित्त दीजिये।' लोग उसे बिठाते हैं और अब उसके मन पर से बोझ उतारने के लिए बारी बारी से एक एक व्यक्ति पाप विषयक खंड-खंड लोकशास्त्र बताता है।



## २९. पाप-नाश के अज्ञान - शास्त्रकथन

(१) एक जना कहता है- 'अकामेन कृतं पापम् अकामेनैव शुद्ध्यति' अर्थात् इच्छा-इरादे के बिना पाप किया हो तो वह बिना इरादे के ही शुद्ध हो जाता है। तूने 'भाई बहन को मार डालू' ऐसा इरादा नहीं किया था अतः तेरी इस इच्छारहितता (बिना इरादे) से ही तेरा पाप शुद्ध हो जाता है।

पाप-नाश की यह कैसी अज्ञान - कल्पना है ? क्योंकि इसमें तो यह बात मानों भुला दी गयी है कि (१) उन निरपराध अनजाने स्त्री-पुरुष को मार डालने का इरादा और प्रयत्न किया यही तो पहला बड़ा अपराध है। तिस पर (२) अविचारी - उतावली वृत्ति से बर्ताव करने में अनजाने, इरादा न हो तो भी दूसरे को क्षति पहुँचती हो तो क्या वह अपराध नहीं ? आदमी रास्ते में तलवार या लाठी घुमाता हुआ चले और इससे अनजाने में कोई झपट में आ जाए तो क्या कोई हर्ज नहीं ?

(२) दूसरा कहता है - 'जिघासन्तं जिघांसीयात्' न ते न ब्रह्मा भवेत्' अर्थात्

मरने की तैयारीवाले को मारने की बुद्धि (इच्छा) करे तो इसमें ब्रह्महत्या नहीं लगती ! तेरे भाई - बहन के मरने का क्षण ही आ गया होगा इसलिए तेरी मारने की बुद्धि हुई इसमें तेरा क्या दोष ?” यह भी कैसा अज्ञान है । इस तरह से तो कसाई, खूनी आदि कोई गुनाहगार ही नहीं गिना जा सकता । सच बात तो यह है कि मारने की बुद्धि (इच्छा) की, यही बड़ा गुनाह है । पाप बुद्धि ही रूक जाय तो पाप बन्द होते क्या देर लगती है ? हाँ, यदि कोई कुँए में गिरने की तैयारी कर रहा हो इसलिए उसे धक्का तो नहीं मारा जा सकता । मारने की बुद्धि बुरी है । रस्से को साँप समझ कर वार करे तो साप मारने का ही पाप लगता है ।

(३) तीसरा फिर कहता है - “**कोपेन यत्कृतं पापं कोप एवापराध्यति**” अर्थात् क्रोध से पाप किया तो उसमें कसूर क्रोध का है, जीव का क्या कसूर ?” देखिये ये स्वच्छंद शास्त्र । क्रोध कोई आदमी है कि उसका कसूर माना जाय ? यह तो जीव की ही एक वृत्ति है, और ऐसी कुत्सित वृत्ति करनेवाला जीव ही कसूरवार है । लेकिन अज्ञान-मूढ़ मान्यता को इसका कहाँ विचार करना है ।

(४) चौथा और कहता है, - “**ब्राह्मणानां निवेद्यात्मा शुद्धयेत**” अर्थात् ब्राह्मणों से अपना पाप कह देने से आत्मा शुद्ध होती है ।” यह भी पापियों को अनुकूल आए ऐसा सूत्र है । ब्राह्मणों के आगे कह देने मात्र से यदि निपट जाता है तो जीव पापाचरण में क्यों कोई कमी रखेंगे ? और पापी वृत्ति रूकेगी कैसे ?

(५) पाँचवाँ कहता है - “**अज्ञानात् यत्कृतं पापं, तत्र दोषो न जायते**” अर्थात् ‘अज्ञान के कारण जो पाप सेवन हुआ उसमें दोष नहीं लगता । “यह भी कैसी पागल मान्यता है ? अनजानेमें सीढ़ी पर से गिर जाय तो क्या चोट नहीं आती ? अनजाने यदि जहर खाने में आ जाय तो क्या नहीं मरता ? (दुनिया का बड़ा हिस्सा) अधिकांश दुनिया अज्ञानता से ही पाप करती है, तब उसे यदि दोष नहीं लगता तो संसार में क्यों भटकता रहता है ?

अज्ञानी लोग बेचारे चंडसोम को सान्त्वना देनेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु सान्त्वना ऐसे दी जाती है ? पूर्वापर (आगेपीछे) से विपरीत और कहीं से असम्बद्ध वाक्य उठाकर कहीं भी लगा दे यह संगत नहीं गिना जाता । इसलिए ये बातें सब गले उतरी भी नहीं । (जँची भी नहीं) और चंडसोम का चित्त भी इसे स्वीकार नहीं करता अतः वहाँ जो बुजुर्ग माने जाने वाले बड़े चालाक पंडित थे वे अब कहते हैं -

‘देखो भाई चंडसोम ! तुम्हारा पाप बड़ा है, इसलिए तुम अपना घरबार सब कुछ ब्राह्मणों को दान कर, मुंडन करा दो और भिक्षा से जीवन-यापन करते हुए,

तीर्थों में स्नान करते हुए घूमो, तो तुम्हारे पाप की शुद्धि हो जाएगी ।”

कहिये, अब यह तो सही प्रायश्चित है न ? नहीं, भीतर का पाप-मल बाहर के जल-स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है ?

पाप का मैल आत्मा पर है और तीर्थ का स्नानजल शरीर पर गिरता है, तो उससे शरीर का मैल धुलेगा या कि आत्मा का ?

ऐसा होता हो तो यह बात हुई मानों लुहारिन को प्रसूति है और कुम्हारिन घी पीए ? तो उससे लुहारिन को पुष्टि मिलेगी ?

धर्म नन्दन आचार्य महाराज राजा पुरंदत्त से यह कह कर आगे बताते हैं- 'हे नृपति! पानी से शरीर का मैल धुलता है लेकिन आत्मा पर जो पाप का मैल लगा है वह जल से कैसे साफ हो ? ऐसा कहकर आचार्य महाराज स्वयं ही जिनजिन विकल्पों को प्रस्तुत कर ऐसी नादान मान्यताओं का निराकरण करते हैं उन्हें इस तरह प्रश्नोत्तर रूप में रखा जा सकता है -

#### तीर्थजल से पाप धुलने के विषय में दलील और खंडन :-

प्र० शरीर से आत्मा अलग कहाँ रही है ? वह तो शरीर के एक एक अणु के साथ लगी हुई ही है । तो फिर तीर्थ का जल शरीर के संपर्क में आया इसलिए आत्मा के भी संपर्क में आ ही गया न ? तब उस से आत्मा का मैल भी क्यों नहीं धुले ?

उ० इस तरह यदि शरीर के सम्बन्ध के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध करने से ही तीर्थजल आत्मा का पाप मल साफ करता हो तो तीर्थ के पानी में रहनेवाले मगर आदि का तो यह सम्बन्ध दीर्घकाल से है, अतः वह धुल जाने के परिणाम स्वरूप इन सबको स्वर्ग ही मिलना चाहिए ।

प्र० नहीं, यों अकेले सम्बन्ध से क्या फायदा ? इन मगरों को पाप-मल धोने का विचार कहाँ आता है ? यह तो जिसके ऐसा विचार हो इसका पाप मल साफ होता है ।

उ० तब तो तीर्थों को गये बिना भी दूर रहे हुए लोग भी ऐसा विचार मात्र करके पापमल धोएँ और स्वर्ग में जाएँ, ऐसा क्यों नहीं होता ?

प्र० नहीं, नहीं हो सकता । ऐसा न होने की वजह यह है कि अकेले विचार मात्र से क्या हो ? यहाँ तो 'तीर्थजल से मैं अपना पाप-मल धोऊँ ? ऐसे विशिष्ट संकल्प के साथ उस तीर्थजल को ग्रहण करे तो ही पाप-मल धुलता है । मगरों के ऐसा ग्रहण कहाँ होता है ?

उ० यदि ऐसे विशिष्ट संकल्प का ही महत्व हो तो फिर पाप धोने के संकल्प

के साथ घर बैठे कुँए का पानी लेकर पाप धोकर स्वर्ग पहुँचा जाय, ऐसा होना चाहिए न ?

प्र० ऐसा कैसे हो सकता है ? कुँए का जल कोई तीर्थ जल थोड़ा ही है ?

उ० तो यह न सही, लेकिन किसी तीर्थ का पानी घर पर मँगवा कर उससे पाप धोकर स्वर्ग जाया जाय ऐसा तो हो सकता है न ? किंतु ऐसा तो नहीं मानते, क्यों कि इससे तो तीर्थ को जाना ही निरर्थक हो जाय ? फलतः तीर्थजल से पापमल धोने की बात ही निर्युक्तक ठहरती है । (असंगत साबित होती है ।)

**मरे हुए व्यक्ति की हड्डियाँ (अस्थियाँ) तीर्थजल में यह बात वाहियात क्यों ?**

ऐसी ही अतार्किक बात यह भी है कि, 'कहीं भी मरे हों, उसकी हड्डियाँ गंगा नदी में प्रवाहित करने से उस (मृतात्मा) की सद्गति होती है ।' क्यों वाहियात है ? कारण यह कि -

(१) इसमें तो शरीर मृत (मरा हुआ) है, अर्थात् उसमें से आत्मा तो कब की उड़ ही गयी है, तो उस उड़ गयी हुई को क्या लेना देना ?

(२) अब उस परलोकगत को यह विचार ही कहाँ है कि 'मैं तीर्थजल से पाप धोऊँ । और यहाँ के शरीर में वह स्वयं ही नहीं रहा, तो इस के द्वारा खुद का तीर्थजल से संपर्क भी कहाँ है । तब उस संपर्क और विचार के बिना मल कहाँ से साफ हो ? और सद्गति कहाँ से मिले ।

(३) इसके अलावा, यह भी तथ्य है कि मरनेवाला तो मरते क्षण ही - पहले से बँधे हुए भवान्तर (अन्यभव) के आयुष्य एवं गति के अनुसार उस गति में चला गया । वह कोई राह देखता नहीं बैठा है कि मेरी अस्थियाँ गंगा में डाली जायँ, उसके बाद आगे बढ़ूँ ? यहाँ का आयुष्य पूरा होनेपर जीव के हाथ की कोई ऐसी बात है ही नहीं। इसमें तो मरकर तुरन्त ही कर्मानुसार रवाना हो ही जाना पड़ता है । फिर, वक्त बीतने के बाद अब अस्थियाँ गंगा में प्रवाहित करने से क्या मिले ?

**अन्त में चंडसोम यहाँ :-**

आचार्य महाराज कहते हैं - 'राजन् ! इस तरह मिथ्या वचन से जगत के जीव जिस तरह धोखा खाते हैं उसी तरह चंडसोम ने भी धोखा खाया । अतः उस बेचारे ने अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर के मुंडन करवा कर पाप-मल धोने तीर्थों में घूमना शुरू किया । वह घूमता घूमता यहाँ आ पहुँचा है, और यहाँ बैठा हुआ है ।'

बस, आचार्य महाराज के ये वचन सुनकर चंडसोम बैठा कैसे रहे ? उसे तो अपनी हकीकत सुनते हुए कुछ न कुछ हो ही रहा था, सो अब वह तो तुरन्त खड़ा हो गया और पानी-पानी हो गया । आगे आकर आचार्य देव के चरणों में गिरकर अविरल अश्रूधारा बहाता हुआ कहता है -

‘ओ बापजी ! आपने जो कुछ कहा सो अक्षरशः सच है । मेरे इस मन के भाव जैसे जैसे बने वैसा, और दूर देश में रहे हुए मैंने जो कुछ दुष्टता का आचरण किया सो आप जैसे महाज्ञानी के सिवा दूसरा कौन यथास्थित जान सकता है और कह सकता है ? हाय ! मैं मूढ़ ईर्ष्या और क्रोध में अंधा हो कर सुशील पत्नी पर कितना बड़ा अन्याय कर चुका हूँ ? और प्यारे भाई-बहन को कैसे जीते जी मार डाला ? तदुपरांत मैं कैसा हतभाग्य हूँ कि ये पाप धोने की बुद्धि होते हुए भी अज्ञानियों की सलाह के फंदे में पड़कर, जहाँ लेशमात्र भी पाप नहीं धुल सकते ऐसे तीर्थजल में स्नान करने हेतु भटकने निकल पड़ा ? ,

“प्रभु ! प्रभु ! आप महाज्ञानी हैं, अतः अब मेरा उद्धार कीजिए । मुझसे कहीं अतीत में कोई अनिच्छा से या अनजाने में हुए पुण्य की बलिहारी है कि मुझे यहाँ आप मिल गये ।

‘आप इतने बड़े विशेष ज्ञानी हैं तो मेरे पाप कैसे धुलें यह भी आप जानते ही हैं। अतः हे नाथ ! कृपा कीजिये और ऐसे भयानक पापों का नाश करने का मार्ग बताइये। यह मार्ग कितना ही क्लिष्ट-कठिन क्यों न हो मैं उसका आचरण करने को तैयार हूँ । पाप करने में जब जरा भी पीछे नहीं देखा, कोई हृद नहीं रखी तो अब पाप का क्षय करने में जो कुछ असह्य भी करना पड़े तो उसमें क्यों पीछेहट करूँ ?”

ज्ञानी की बलिहारी है । वे सामनेवाले की दुष्टता यहाँ सभा के बीच प्रकट करते हैं तो भी उसे कुछ बुरा नहीं लगता ! कि मेरी ऐसी बात इन अपरिचित लोगों के बीच क्यों कहते है ? क्यों मुझे नीचा दिखाते है ? उसके मन में ऐसा नहीं होता, यह बलिहारी ज्ञानी की है । तब पूछिये -

प्र० ज्ञानी सामनेवाले की दुश्चरित्रताएँ क्यों प्रकट करते हैं ?

उ० ऐसे तो प्रकट नहीं करते, परन्तु यहाँ प्रकट करने की वजह यह है कि -

(१) एक तो वे सामनेवाले की खुद की ही दुश्चरित्रताकी सुलगती हुई पश्चाताप की आग को जानते है,

(२) दूसरे, उसके गाँव में यह बात प्रकट हो ही चुकी थी और अब उसे छिपाने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी, तीसरे, .

(३) दुश्चरित्र की शुद्धि की ही उसे अभिलाषा थी। और इस तरह कहने से उसे सच्चा मार्ग यहाँ मिलने का विश्वास उत्पन्न हो सकता था, और बोध लगने वाला था। और चौथे,

(४) सभा में कहने से दूसरों को, यहाँ तक कि बड़े राजा जैसों को भी प्रति-बोध हो सकता था। आखिरी -

(५) विशिष्ट ज्ञानी का रास्ता अलग है; वे ज्ञान में जो योग्य लगे सो करते हैं, और जो कुछ करे उसमें उन्हें खुद को राग-द्वेष का कोई विकार नहीं होता।

यहाँ ये सशक्त कारण है, अतः अवधिज्ञानी आचार्य महाराज सभा में चंडसोम का कलुषित कृत्य प्रकट कह देते हैं। इस पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि दूसरों का दोष - दुष्कृत्य बाहर प्रकट न करने के पीछे क्या क्या कारण होते हैं ?

#### परदोष के विषय में मौन रखने के कारण:-

(१) सामनेवाले को दोष-दुष्कृत्य का पश्चाताप नहीं है। और यदि हम इस विषय में मौन न रहकर बाहर कहने लग जाँएँ तो उस व्यक्ति में द्वेष का नया दोष पैदा हो। सचमुच अपने दोष का पश्चाताप हो तो मन को लगेगा कि 'यह प्रकट होने से मेरी जो बदनामी होगी उस नुकसान का मूल्य ही क्या ? भयंकर नुकसान तो मुझे अपने दुष्कृत्य से ही होनेवाला है। मेरी बेईज्जती भयंकर नहीं बल्कि उससे बढ़कर तो मेरा वह दुष्ट कृत्य महाभयानक है। परन्तु यह सुन्दर विचार बहुत कम लोगों को आता है। बाकी अधिकतर तो मनुष्य को अपनी दुष्टता का पश्चाताप भी नहीं होता; और उसे ऐसा मालूम होता है कि वह दुष्कृत्य हानिकारक नहीं किंतु बाह्य जो अनिष्ट घटित होता है वह है। इसीलिए

जिस दिन हमें बाहरी बेईज्जती के नुकसान की अपेक्षा हमारे अपने दोष दुष्कृत्य से होनेवाले नुकसान भयंकर प्रतीत होंगे उस दिन सोने का सूरज उगा समझिये। इसकी गुंजाइश रहे इसलिए परदोष के बारे में मौन भला।

फिर तो हम बाह्य को तथा दूसरे को सुधारने की चिंता से अधिक हमारे अपने दोष के सुधारकर अपने भावी अहित को सुधारने की चिंता करेंगे। जगत के जीवों के लिए यह स्थिति आने को बहुत देर है। इसीलिए उन्हें अपने दोषों का ऐसा पश्चाताप ही नहीं, अतः उसका बाहर विज्ञापन करें, प्रकट करें इससे उनमें कोई सुधार नहीं होता, बल्कि उसका द्वेष बढ़ेगा। जो बोलने का फल अच्छा नहीं वह क्यों बोला जाय ? इसलिए परदोष के सम्बन्ध में मौन रखना ही श्रेयस्कर है। यह हुआ एक कारण।

(२) दूसरा कारण यह है कि आदमी की अपने दोष-दुष्कृत्य छिपाने की, जिससे कि कोई जान न जाय, कोई उसकी ओर अंगुलि न उठाए, ऐसी वृत्ति होती है। अतः यदि हम उसको बाहर प्रकट करें तो एक तो उसके मन को दुःख होता है और दूसरा संभवतः वह अब दूसरा अनर्थ करने को तत्पर हो जाय। जैसे कि उसमें ऐसी बात नहीं है यह दिखाने के लिए कोई झूठ चलता कर दे। प्रपंच रचे तो दूसरों को दुःख पहुँचे ऐसा हम क्यों करें? इससे आगे बढ़ कर दूसरा (व्यक्ति) नये पाप और नये अनर्थ करने को प्रेरित हो ऐसा निमित्त क्यों खड़ा करें?

दूसरे के दोष गाने में दूसरों को दुःख और पापबुद्धि देने की अधमता होती है। हमारी श्रेष्ठता इस में है कि दूसरे को दुःख न दें। दूसरे को पाप करने में निमित्त न बने। इसलिए भी परदोष विषयक मौन धारण करना लाभप्रद है।

(३) तीसरा कारण यह कि अधिक तर जीवों को अपने दोष दुष्कृत्य की शुद्धि करने की अभिलाषा नहीं होती। अतः हम उसके अवगुण प्रकट करें उससे उसे शुद्धि की तीव्र इच्छा नहीं जगेगी। तो फिर परदोष गाने की क्या जरूरत? दूसरे के दोषों का कथन तो उसे सुधारने के उद्देश्य से ही होता है न? परन्तु इससे उस को विश्वास थोड़ा ही पैदा होगा कि मुझे यहाँ सुधार की सच्ची राह मिलेगी। उसे कोई बोध शायद ही लगे? कोई ऐसा शुभ फल परदोष-कथन में दिखाई नहीं देता; तब व्यर्थ थूँक उड़ाने की क्या आवश्यकता? इस विषय में तो मौन ही उत्तम -

(४) तो प्रायः ऐसा भी नहीं होता कि बाहर दूसरों के आगे किसी के दोष-दुष्कृत्यों का वर्णन करने से उस सुननेवाले को या हम को खुद को भी प्रतिबोध लगे, वैराग्य उत्पन्न हो और अपने कषाय एवं दुष्कृत्य पर तिरस्कार उपजे। ऐसा कुछ घटित नहीं होता। उलटे ऐसा ही लगभग होता है कि परनिंदा करके दूसरे के अवगुण गाकर और सुनकर कषाय बढ़ता है। दोषी के प्रति द्वेष और अरुचि पैदा होती है। इसके अलावा उस के अन्य सुकृत-सद्गुणों पर से भी नजर हट जाती है। इस तरह हमें और सुननेवाले के कषाय और द्वेष में वृद्धि होती है, और गुणदृष्टि उड़ जाती है, ऐसा परदोष-गान क्यों करना? परदोष के सम्बन्ध में तो मौन ही कल्याणकारी है; जिससे अपने-पराये कषाय न बढ़े और गुणदृष्टि लुप्त न हो!

(५) एक बड़ा कारण यह भी है कि हम ऐसे ज्ञानी नहीं, अतः ऐसी दोष-प्रकाशन जैसी प्रवृत्ति से लाभ ही होने का हमें ज्ञान नहीं है। लाभ के विश्वास के बिना प्रवृत्ति कैसे करें? उलटे हमारे दिल में परदोष - कथन करने के पहले ही से द्वेष



भडकने लगता है (२) कथन करते करते वह बढ़ता है और (३) कह चुकने के बाद मानो खुजली शांत हुई हो इसकी खुशी होती है। खुशी काहे की ? दूसरे को तुच्छ चित्रित कर उसके बदनाम होने की खुशी ! कैसी है हमारी यह अधमता ! इस तरह परदोष कथन में हमारे चित्त में विकार - विकार और विकार ही पैदा होते हैं। इसलिए भी परदोष के विषय में मौन ही श्रेयस्कर है।

### समाज का चित्र घर घर परदोष-दर्शन:-

ज्ञानी जो कुछ करते हैं उसमें स्वयं निर्विकार होते हैं। लाभ होने के निश्चयवाले होते हैं। अतः उनके मार्ग अलग हैं। वे तो मौका आने पर परदोष कथन करे भी सही। परन्तु अज्ञानी होने के कारण हम में इन दोनों में से एक का ठिकाना नहीं, अतः हमारे लिए तो ज्ञानियों का दिखाया हुआ परदोष-मौन आदि मार्ग ही हितकर हैं। यह भूल जाने से, देखो, जीवन और जगत में कितने अनर्थ हो जाते हैं। परदोष का गान करने के फलस्वरूप तो अधिकांशतः परिवार के लोगों की ओर से भी अरूचि - असद्भाव प्राप्त होते हैं। आज घर घर यह देखा जा सकता है। हमारे जीवन में भी यह अनुभव कहाँ नहीं है ? और घर के अलावा बाहर भी इस बुरी आदत के कारण कितने ही लोग हमारे विरोधी बना दिये जाते हैं, साथ ही श्रोता के कषाय बढ़ते हैं। जाने दो अनर्थ का हिसाब लगाना ! परदोष गाने के पीछे समाज बरबाद हो रहा है।

### चंडसोम पर अद्भुत प्रभाव:-

यहाँ स्थिति अलग है। आचार्य महाराज ज्ञानी हैं, निर्विकार हैं। उनका रास्ता भिन्न है। इसलिए वे चंडसोम का दुश्चरित्र जो प्रकट करते हैं उसका नतीजा यह होता है कि चंडसोम खड़ा हो जाता है, और महर्षि के चरणों में गिर कर प्रार्थना करता है, 'प्रभो ! आप ऐसे अद्भुत ज्ञानी हैं कि मेरे मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म बात भी जानते हैं कि मैंने पापशुद्धि का जो मार्ग ग्रहण किया है वह क्यों गलत है, क्यों बोगस है; तब फिर आपको सच्चे मार्ग का ज्ञान तो हो ही न। अतः कृपया मुझे सच्चा मार्ग दिखाइये, और पापों के नरकागार में से मेरा उद्धार कीजिए। प्रभो ! प्रभो ! मैं तो आपको पाकर कृतकृत्य हो गया। अब आपके बताए हुए क्लिष्ट-कठिन मार्ग पर चलकर पापों को साफ कर डालूँगा।'

महाज्ञानी का समागम एवं वाणी प्राप्त होने से चंडसोम कितना हर्ष-विह्वल हो गया है कि चरित्रकार महर्षि कहते हैं कि - 'चंडसोम के हृदय में आचार्य महाराज

पर अगाध भक्ति और सद्भाव उभर आया। संवेग अर्थात् धर्म के प्रति भरपूर (संपूर्ण) प्रेम उछल पड़ा। हृदय वैराग्य वासित बन गया। वह हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ और आचार्य महाराज के पैरों पड़ कर दोनों हाथों से महर्षि के चरण पकड़ कर कहने लगा -

“भगवान् ! आपने मेरा जो दुश्चरित कहा, उसमें जरा भी फर्क नहीं है। अतः हे प्रभो ! आप जिस तरह मेरे उन घोर पापों को जानते हैं वैसे ही यह भी जानते ही हैं कि मुझ अभागे के पापों को शुद्धि कैसे होगी। इसलिए भगवन् ! मुझ पर पाप के महासागर में गिरे हुए पर - कृपा कीजिये, और शुद्धि के उपाय बतलाइये, क्योंकि सत्पुरुष (सज्जन) तो दीनों और पतितों पर सर्वदा वात्सल्य धारण करते हैं।”



## २२. पापनाश के उपाय

**आचार्य भगवंत क्या कहते हैं?**

धर्मनन्दन आचार्य महोदय चंडसोम से कहते हैं, “हे भद्रमुख ! (हे कल्याण की ओर दृष्टि वाले ! सभी सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवंतों ने इस तरह फरमाया है, और उपदेश दिया है कि -

पुंविं खलु भो कडाण कम्माणं अप्पडिकंताणं  
वेयइत्ता मोक्खो नत्थि अवेयइत्ता तवसा वा झोसइत्ता !

पूर्वकृत कर्मों से छुटकारा नहीं है, सिवाय इसके कि,

(१) पूर्व में उसका प्रतिक्रमण यानी पश्चाताप, आलोचना, प्रायश्चित्तवहन द्वारा उससे वापस लौटना किया हो (लोटे हों)। अथवा

(२) बाद में उन कर्मों का विपाक भोग लिया जाय, अथवा -

(३) तप के द्वारा उनका नाश कर दिया जाय।

**कर्म नष्ट कैसे हों ?-**

यहाँ दोष-दुष्कृत्य से उत्पन्न किये गये पापकर्मों का नाश करने के तीन उपाय बताये हैं-

(१) गुरु के समक्ष प्रायश्चित्त पूर्ण शुद्ध हृदय से उन दोषादि का यथास्थिति आलोचन-प्रकाशन करके उनके दिये हुए प्रायश्चित्त का वहन करना; (अर्थात् पापों का प्रतिक्रमण करना।)

(२) पूर्व-भव के दोषों से उत्पन्न, और उनका प्रतिक्रमण न करने के कारण टिके हुए पाप-कर्मों का उदय सहर्ष सहन करना, और

(३) पहले-के शेष बचे हुए कर्मों के नाश के लिए तपोधर्म की साधना करना।

### पापशुद्धि क्यों आवश्यक है ?

ये तीनों उपाय हमें अपने जीवन में अपनाने चाहिए ताकि पाप कर्मों की सफाई हो जाय। इतना ध्यान में रहे कि दान करें, व्रत ग्रहण करें, देवदर्शनादि प्रभु भक्ति करें और साधुसेवा करें इस तरह के और भी धर्मों का आचरण करें यह अच्छी बात है, जरूरी है, परन्तु पापशुद्धि कम आवश्यक नहीं है, बल्कि अधिक महत्त्व की वस्तु है। धर्म से पुण्य की वृद्धि होती है, परन्तु पाप, यदि उस की शुद्धि न की हो तो नये नये पाप कराया करेगा। और इससे भवभ्रमण जारी रहेगा। इस तरह एक ओर धर्म करें और दूसरी ओर संसार फिर भी कायम रहता हो तो यह कितनी खतरनाक बात है? अतः पाप शुद्धि अति महत्त्व की है। यहाँ प्रश्न उठता है-

### क्या अकेली धर्म-प्रवृत्ति से नहीं चल सकता ?

प्र. कभी पाप शुद्धि न कर सके, फिर भी धर्म करे तो उससे सदबुद्धि तो मिलती ही है न? फिर नये पाप करना कहाँ से उपस्थित होता है ?

उ. पापाचरण इस तरह पैदा होता है कि पाप की शुद्धि नहीं की, तो उसके कारण उसके शल्य मन में बने रहेंगे, पाप के अनुबंध अर्थात् पाप में निहित बीज शक्तियाँ कायम रहेंगी। वे फिर सदबुद्धि पैदा ही नहीं होने देंगी।

पापशुद्धि के बिना किये गये अकेले धर्म-सेवन में पुण्य देने की शक्ति तो है सही, लेकिन सदबुद्धि देने की शक्ति नहीं है। दिल के शल्य दिल को कलुषित रखते हैं, उसमें अकेला धर्म सेवन क्या कर सकता है? दिल को निर्मल कैसे बना सकता है?

पाप की शुद्धि क्यों नहीं करनी है? उसके पीछे के कारण -

(१) या तो पाप की जानकारी ही नहीं है, अज्ञान दशा है। इसलिए ऐसा होता हो कि इसमें भला क्या पाप? यह नहीं करना चाहिए ऐसा किसलिए? संसार लेकर बैठे हैं इसलिए दूसरों से काम पड़ता है, 'चीजवस्तु की जरूरत होती है, इसलिए सबकुछ करना पड़ता है।' इस तरह गाढ़ मिथ्यात्व काम करता होता है,

फलतः पापशुद्धि नहीं हो पाती ।

(२) अथवा पाप रूप की जानकारी तो हो किन्तु अति राग के कारण पापाचरण करे, लेकिन अब उसकी शुद्धि करने गुरु के पास जाना पड़े तब शर्म आए, अपनी मानहानि मालूम हो, अतः गुरु के पास न जाय, किया हुआ पाप प्रकट न करे । और शायद कहे भी तो ऐसी चतुराई से कहे जिससे अपनी विशेष तुच्छता न दिखाई दे ।

### अभिमान कैसे भुलाता है ?:-

उसमें (१) या तो मिथ्यात्व का पोषण होता है, अथवा (२) मान-कषाय, माया और अति राग पोसा जाता है। अब यह जीव अन्य धर्म-प्रवृत्ति करेगा भी तो ये मिथ्यात्वादि कहाँ दूर होनेवाले हैं ? और ये ऐसी चीजें हैं कि बुद्धि को कलुषित ही बनाये रखती है । पाप को पाप ही नहीं माने तब हृदय शुद्ध कैसे रहे? मैला अत्यन्त मैला ही कहा जाएगा ।

तो पापरूप में चाहे मान लिया हो, परन्तु दूसरी ओर पाप करने के बावजूद गुरु तथा लोगों के आगे बडप्पन और अच्छाई ही दिखानी है तो इससे मान नामक कषाय इतना जबरदस्त मौजूद है कि जिनाज्ञा जो पापशुद्धि का हुक्म देती है, उसकी परवाह नहीं रहती । या फिर मन उसे स्वीकार तो करता है पर पाप को शुद्ध किये बिना, वह पाप रह जाय तो उसमें जितनी बुराई नहीं दिखाई देती है ! उतनी बुराई मान को क्षति पहुँचने में दिखाई देती है । यह मानकषाय कितना जोरदार ? यह सदबुद्धि को कहाँ से आने दे ?

### बुराई किस में ? इहलोक की मानहानि (अपमान) में या परलोक में ?

इस तरह सदबुद्धि लाना चाहें तो पाप विषयक अचूक मान्यता होनी चाहिए और जिनाज्ञा के आदर के कारण पाप की खराबी मान-हानि की खराबी से ज्यादा भयंकर भी लगनी चाहिए । मान आहत हो उसमें ऐसी खराबी नहीं लगनी चाहिए । मन को ऐसा लगे कि - 'जरा सा मान खंडित हो उस में ऐसी क्या बुराई है ?' तभी गुरु के समीप पाप की शुद्धि करना संभव है । ऐसा करने से पाप का प्रति-क्रमण होकर उसके फल-स्वरूप पापकर्म से छुटकारा मिले, वरना पाप कायम रहें । अब या तो परलोक में उनके फल भोगने से दूर होंगे, अथवा उन्हें जोरदार तपस्या से खत्म किया जा सकता है । लेकिन इन दोनों में कठिनाई पड़ेगी, जब कि यहाँ शुद्धि करने में कम कठिनाई है ।

मरीचि ने उत्सूत्र-भाषण कर डाला। उसके बाद साधु के पास जाकर उस की

शुद्धि करने में क्या मुश्किल थी ? लेकिन ऐसा सूझा ही नहीं । तो फिर अब यह पाप कर्म जो टिका रहा उसे भोगने में कितनी दारुण आपत्ति का प्रसंग आया ? कई कई जन्मों तक जैनधर्म से ही वंचित रहना पड़ा !

गोशालक को अन्तमें पाप का पछतावा (पश्चात्ताप) हुआ फिर भी प्रभुके पास जाकर शुद्धि मांगने की क्रिया कहाँ हुई ? फलतः भावी काल में वह उन पाप कर्मों के कितने कितने दुःखद परिणाम भोगने वाला है ?

**इस भव के पाप के सम्बन्ध में क्या करें ।**

सारांश 'गुरु समक्ष इस जीवन के पापों की शुद्धि कर लेनी चाहिए।' यही करने योग्य आसान काम है। इसमें (१) पाप नहीं मानने का मिथ्यात्व और (२) पाप-प्रकाशन में मानहानि होने का डर - इन दोनों को एक ओर छोड़ देना चाहिए। भगवान का यह टकसाली वचन है कि 'पुण्यं खलु कडाण कम्माणं, अप्पडिकंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता'-पूर्व कृत कर्मों को पहले यदि नहीं प्रतिक्रमा गया, यदि उसके पहले शुद्धि नहीं कर ली गयी तो बाद में भवान्तर में अब उनके कटु फल मिलने के बाद ही उनसे छुटकारा होगा । अर्थात् अगर यहाँ पर प्रतिक्रमण कर लिया, शुद्धि कर ली तो पाप कर्मों से यहीं मुक्ति मिल जाएगी, बाद में उनके फल भोगना शेष नहीं रहेगा । यह हुई इस जन्म के पाप के प्रतिक्रमण की बात । अब

**गत भव के पापों के लिए क्या करना ?:-**

इस पर विचार करने में सूत्र में यही आता है कि 'वेयइत्ता मोक्खो, तवसा वा झोसइत्ता' पाप कर्मों के कड़वे फल भोग लेने पर उनसे छुटकारा होता है अथवा तप के द्वारा खत्म कर के भी उनसे छुटकारा होता है; इसमें भी खूबी यह है कि जिस तरह उपर्युक्त पापशुद्धि में मुश्किल कम थी, उसी तरह यहाँ तप से पाप समाप्त करने में कठिनाई कम है । कारण स्पष्ट है कि हम देखते हैं कि जब पाप कर्म उदय में आकर कटु फल हम पर पछाड़ने लगते हैं तब उसकी कोई सीमा नहीं रहती । जीवन में अनुभव होता है न कि कुछ संकट-आपत्तियाँ की कैसी भारी वर्षा हो जाती है अथवा कई कई वर्षों तक ऐसी पीछे पड़ जाती हैं कि आपत्ति हमारा पीछा ही नहीं छोड़ती । यह क्या है ? पूर्व के पापकर्मों के जटिल फल । इस दृष्टि से उन पापकर्मों का नाश करनेवाला तप करने में इतनी मुश्किल नहीं है। यहाँ प्रश्न उठता है कि -

प्र० क्या तप में पाप का नाश करने की ऐसी ताकत है ?

उ० हाँ; इसमें 'तवसा वा झोसइत्ता' यह जिन-वचन प्रमाण है । यह कह रहा है कि तप से पाप कर्म का ध्वंस होता है, नाश होता है, नहीं तो यह देखो न कि

‘खुद प्रभु ही क्यों घोर तप की आराधना करते ? और धन्ना मेघकुमार जैनों को क्यों ऐसा तप करने देते ?’ कह देते न कि ‘रहने दो, रहने दो धन्ना ! ऐसे शरीर सुख देने से कुछ नहीं होगा ।’ ऐसा न कह कर तप क्यों करने दिया ? और फिर बाद में प्रभु ने उसके तप की प्रशंसा क्यों की ?

प्र. तप तो सद्गति और उत्तम पुण्य के लिए होता है न ?

उ. (9) भगवान को और दूसरा भव करना कहाँ शेष था कि उन्हें सद्गति और पुण्य की आकांक्षा हो ? यह बात नहीं, तब भगवान् ने तप किस लिए किया ? और जो किया तो क्या तप बेकार गया ? नहीं, इसलिए कहो कि तप से खूब सारे पाप नष्ट हुए ।

(2) दूसरी बात यह है कि भले ही धन्ना-मेघकुमार को उसी भव में मोक्ष नहीं था, किन्तु यदि उनके तप न होता तो तप से क्षय होनेवाले पूर्व जन्म के कितने ही पापानुबन्ध तप के बिना कैसे नष्ट होते ? साथ ही तप के बिना रागादि उत्कट दोष कैसे नष्ट होते ? और वे यदि ज्यों के त्यों बने रहें तो जीव को ऐसी चित्त की और बुद्धि की निर्मलता कहाँ से मिले ? तप नहीं करना है, यही बताता है कि शरीर पर एवं रसना के विषयों पर गाढ़ा राग है । इस के होते हुए दूसरा धर्म ऐसी ऊँची सद्गति कैसे दिला सकता है ? निर्मल पुण्य कैसे उत्पन्न हो ? अतः कहना रहा कि तप से ऐसे भयानक पाप नष्ट हो जाते हैं कि जिसके परिणाम में आगे चलकर सद्गति, निर्मल पुण्य तथा सद्गति मिल सकती है ।

बस, यह बताता है कि (9) इस जन्म के पापों की गुरु समक्ष शुद्धि करते रहना और (2) गत भव के पाप नष्ट हों इस हेतु, तप करते रहना । अब प्रश्न इतना ही रहता है कि ‘तप का अर्थ क्या ? इस में क्या क्या करना होता है ?

**भगवान् ने कैसा तप साधा ?:-**

स्वाध्याय-ध्यान-कायोत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप कहलाते हैं । परन्तु ये तप देह को सुकुमार बनाये रखकर किये जायँ तो कितना सफल हो ? महावीर भगवान् में तत्त्वचिंतन ध्यान और कायोत्सर्ग की शक्ति कितनी ! तन्मयता कैसी ? गजब की। फिर भी उन्होंने काया को क्या सुकुमार ही बनाये रखा, या अच्छी तरह कसा ? काया को कसा सो काहे से - किस वस्तु से ? साढ़े बारह वर्षों में लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष जितने उपवासों द्वारा ! इनमें से दो बार तो लगातार छः महीनों के उपवास आये । सतत चार मास के उपवास नौ बार आये । ढाई मासी, डेढ़ मासी भी आयीं, परन्तु इन सबके पारने में एकासना ! तिस पर छट्ट (बेले) के पारने

छट्ट (बेला) तो चालू ही ! साढ़े बरह वर्षों में कुक्ष पारने के दिन केवल ३४९ (तीन सौ उनचास) मतलब कि पूरे एक वर्ष जितने दिन भी पारने नहीं हुए। काया को कैसा कसा ? कैसी तपस्या की ? ऐसे परीषहों तथा उपसर्गों को सहने में कितना काया-कष्ट सहा ? ध्यान रहे, यह तो ध्यान-कायोत्सर्ग के अतिरिक्त। कारण, वे समझते थे कि कर्म नाश करना हो तो यह सब तप जरूरी है।

### तप के बिना सिद्धि नहीं -

और, तन-मन-इंद्रियों-इच्छाओं को कसे बिना तप नहीं।

जब ऐसा महसूस हो कि 'तन कसा जा रहा है, मन कसा जा रहा है, इंद्रियों को अंकुश लग रहा है, इच्छा पर रोक लगी है' तब समझना कि तप आया। किसी ने गाली दी, गुस्सा उठने लगा, लेकिन समझ कर मन को दबाया, गुस्से के बदले दया सोची, और सामनेवाले को उपकारी माना, इस तरह मन को दबाया सो तप हुआ। हँसने-खेलने का मन हुआ, लेकिन दबा दिया तो यह भी तप हुआ। भोजन के दो रसों का त्याग किया, खाने को चार वस्तुएँ न लीं, - इस तरह इच्छा को कसा, दबाया, वह तप हुआ।

देखना चाहिए कि अनादि की चाल में मौके-मौके पर कैसी कैसी सुख-शीलता का आचरण किया जाता है, फिर चाहे वह अच्छा भोजन मिलने पर सवाया खाने के रूप में हो, चाहे जागते ही मांगने के रूप में हो, इस तरह मिलनेवाले सभी रस और सभी बानगियाँ खाने के रूप में, चाहे न मिलनेवाले के लिए आक्रोश या क्लेशरूप हो, आरामतलबी हो या हरामीपन हो विचारों की उच्छृंखलता और स्वेच्छाचार हो, या मन में इच्छानुसार मलिनता या निकम्मा कूडा करकट इकट्ठा करने के रूप में हो - ऐसा वाणी में और शरीर में भी ....यह समस्त सुखशीलता-स्वेच्छाचार लक्ष में लेकर जहाँ जहाँ जान बूझकर-चाहकर (सकाम) कमी की जाय, वह तप हुआ समझिये।

### पाप नाश के उपाय :-

#### (१) तप करो :-

आचार्य महाराज श्रीधर्मनंदन चंडसोम से कहते हैं - 'पूर्व के शुद्ध किये बिना के पापकर्म (१) यहाँ भोगे जाकर या (२) तप करने से ही खत्म होते हैं, उसके बिना नहीं, अतः हे महानुभाव ! तुम तप करो।

(२) इसके साथ सम्यक्त्व धारण करो :-

क्योंकि सम्यक् दर्शन न हो और दृष्टि मूलतः मैली और मूढ हो तो क्या तप और क्या कोई और साधना-कुछ काम नहीं लगती ।

(३) ऐसे अपने दुश्चरित की खूब निन्दा और घृणा करो । :-

जिससे उस दुश्चरित का आकर्षण मूल से उखड़ जाय ताकि सद्ब्यवहार का सशक्त आकर्षण उत्पन्न हो और संवर की वृद्धि हो ।

(४) हिंसादि पाप वोसिरा दो (छोड़ दो) :-

इसके अलावा हिंसा, झूठ-चोरी-विषयासक्ति और परिग्रह इन पापों को संपूर्णतः छोड़ दो जिससे नये कर्मों का बँधना रुक जाय ।

(५) कषायों को छोड़ो :-

ऐसे ही अब क्रोध कभी न करना, अभिमान नहीं, माया नहीं, लोभ नहीं, हास्य नहीं, हर्ष-विषाद नहीं, भय नहीं, कोई भी कषाय न करना ।

(६) संयम में उद्यमशील-प्रकाशमान बनो :-

यह सब छोड़ कर विनीत बनकर एक मात्र संयम के सत्रह प्रकारों में ही उद्यमवान् बनो ।

**लाखो जन्मों के पापों का सफाया :-**

इस तरह (९) जो व्यक्ति तप, संयम और दुष्कृत्य-गर्हा करे (२) हिंसादि पापों और क्रोधादि कंषायों को छोड़ दे, तथा (३) विनय के साथ संयम ही लीन बने उसके केवल इसी एक जन्म के नहीं, बल्कि लाखों भवों के उपर्जित पाप नष्ट हो जाते हैं ।

(९) तप-संयमादि धर्म से नये पाप रुकते हैं :-

अनेक जन्मों के पाप नष्ट कैसे होते हैं ? :-

आचार्य महाराज ने राह दिखा दी; ऐसी राह जो जन्म-जन्म के पापों का विध्वंस कर दे । क्या भरोसा कि वह जन्म-जन्म के पापों का विध्वंस कर ही दे ? भरोसा यह कि यदि इस तरह से पापनाश न होता हो तो आत्मा का मोक्ष कभी हो ही नहीं । कारण यह कि असंख्य जन्मों के कर्म जीव के बचत खाते में पड़े होते हैं । यदि वे सीधे ज्यों के त्यों भोगने से ही नष्ट होते हों तो उनका कहाँ से पार आए । भोगने में कई कई जन्म लग जाएँ. उपरांत उनमें भी फिर नया नया कर्म समूह तो आत्मा में उपस्थित हो ही जाता है । तब केवल भोग कर ही खत्म करते करते



अतं कब हो ? अन्त ही नहीं, इसलिए मोक्ष ही नहीं ।

## (२) फिर, धर्म का उपयोग क्या ?

क्या केवल नये पापों को रोक दे, इतना ही ? नहीं, पुरानों का नाश भी करता है । इसका कारण स्पष्ट है कि यदि अशुभ भाव में पाप बंधवाने की शक्ति है तो शुभ भाव में पाप तोड़ने की भी शक्ति होनी ही चाहिए । बेटा अपने असद् व्यवहार से माँ-बाप के दिल में दुर्भाव पैदा करता है, तो सद्व्यवहार से उनका वह दुर्भाव मात्र दूर करता है, इतना ही नहीं, बल्कि प्रेम भी पैदा करता है । आरोग्य के नियमों को पाले तो केवल रोग ही मिटे ऐसा नहीं है, बल्कि तुष्टि-पुष्टि भी अवश्य होती है। (हृष्ट-पुष्ट भी होता ही है ।) हमें पाप के विरुद्ध प्रकार का जीवन जीना चाहिए। जिससे पाप का नाश होता जाय और पाप का नियंत्रण भी हो ।

## चंडसोम की प्रार्थना दीक्षा :-

आचार्य महाराज ने सुन्दर मार्ग दिखाया; फलतः चंडसोम के मन को वह जँच गया । इसलिए वह हाथ जोड़कर चरणों में गिर कर कहता है - “भगवंन् !तो फिर यदि मैं आपको योग्य मालूम होता होऊँ तो कृपया मुझे इस मार्ग में दीक्षित कीजिए। बस, अब जीवनभर यही करना है । इस जीवन के भयंकर दुष्कृत्यों के पाप नष्ट होने के साथ साथ लाखों जन्मों के पाप नष्ट होते हों तो सोने में सुहागा । इससे बढ़ कर क्या ? इसे कौन चूके ? मुझ पर मेहरबानी कीजिए ।”

ज्ञानी महर्षि देखते हैं कि, ‘अब इसके दिल में कषाय शांत हो गये हैं, अतः यह दीक्षा के योग्य है । अतः उसे सम्यक्त्व सहित चारित्र-दीक्षा देते हैं । कषाय उपशान्त न हों, कोई क्रोध , कोई अभिमान वगैरह सुलगता रहा हो तो वह सच्ची दीक्षा नहीं पाल सकता । चंडसोम एक वक्त का पापात्मा मिटकर धर्मात्मा मुनि बना ।

(चंडसोम की कथा समाप्त)



पूज्य आचार्यदेवश्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी  
महाराज के प्रेक-बोधक और तात्त्विक साहित्य

परमतेज भाग-१	२५-००
परमतेज भाग-२	३०-००
योगदृष्टि समुच्चय-भा. १	२५-००
योगदृष्टि समुच्चय-भा. २	२५-००
प्रतिक्रमण सूत्र चित्रावली	२०-००
पीवतभरभर प्रभु गुण प्याला	१५-००
नवपद प्रका अरिहंत	१०-००
नवपद प्रकाश सिद्धपद	१५-००
नवपद प्रकाश आचार्य-उपाध्यायपद	८-००

प्राप्तिस्थान

दिव्य दर्शन ट्रस्ट

कुमारपाल वि. शाह

३९ कलिकुंड सोसायटी

धोलका. (P.N. - ३८७८१०)